- प्रकाशक
 देवेन्द्रराज मेहता
 सचिव
 - प्राकृत भारती श्रकादमी,
 - 3826, मोतीसिंह भोमियो का रास्ता, जयपुर-302003
- पारसमल भंसाली
 ग्रध्यक्ष
 - श्री जैन एवे नाकोडा पार्श्वनाथ तीर्थ, मेवानगर, स्टे वालोतरा-344025
 - जि वाडमेर
 - नरेन्द्र प्रकाश जैन
 - पार्टनर मोतीलाल वनारसीदास,
 - वगलो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली-110007
 - हिन्दी अनुवादक: नैनमल विनयचन्द्र सुर। गाः
 - प्रथम संस्करण : अक्टूबर 1989
 - मूल्य : रु. 30 00
 - मुद्रक : एम. एल. प्रिण्टर्स, जोघपुर

प्रकाशकीय

प्रशान्त मूर्ति पन्यासप्रवर श्री भद्र करविजयजी गिएवर्य द्वारा सकित एव श्रनुदित ज्ञान-वैराग्य एव भिवतरस से श्रोत प्रोत ''जिन-भिवत'' नामक पुस्तक प्राकृत भारती के 64वे पुष्प के रूप मे प्रकाशित करते हुए हमे हार्दिक प्रसन्नता है।

शास्त्रकार महर्षियों का कथन है कि उपधान तप करने वाले व्यक्ति को उपधान पूर्ण करने के चिन्ह स्वरूप माल्यार्पण से पूर्व यावज्जीवन गुरु के समक्ष त्रिकाल चैत्यवन्दन श्रीर जिन-पूजा करने का श्रिभग्रह श्रवश्य अगीकार करना नाहिये, श्रर्थात् प्रात काल जब तक श्री जिन-प्रासाद में जाकर श्री जिनमूर्ति का वन्दन नहीं करे तब तक मुह में पानी भी नहीं दालना चाहिये, मध्याह्म काल में जब तक जिन-प्रासाद में जाकर श्री जिनमूर्ति की पूजा नहीं करे तब तक भोजन नहीं करना चाहिए श्रीर सायं-काल में श्री जिन-प्रासाद में जाकर श्री जिनमूर्ति के समक्ष धूप-दीप यादि से पूजा न लरले तब तक नींद नहीं लेनी चाहिये।

जो व्यक्ति तिकाल चैत्यवन्दन का ग्रभिग्रह न ले सकता हो उसे भी नित्य नियमित रूप से एव वार चैत्यवन्दन करने का ग्रभिग्रह नो नेना ही चाहिये। उपधान में से निकलने के पञ्चात् जो व्यक्ति इतना भी नहीं करे वह उपधान से ग्रनेक दिनों तक किये गये तप-जप ग्रादि की उत्तम ग्रागधना को चमका नहीं सकता।

उपधान तप पूर्ण करके वाहर निकलने वाले व्यक्ति को जिन भक्ति की पिया नियमित एव ग्रनिवार्य रूप में करनी चाहिए श्रोर जिन-भक्ति के लिए प्रधान यावरप्रकता श्री जिन-स्वरूप को पहचानने की है। श्री जिनेत्वर भगवान का स्वरूप इतना उच्च कोटि का है कि ज्यो-ज्यो उसकी हमें पहचान होती जाती है त्यो-त्यो हमारे हृदय में उनके प्रति भिवत के ह्नप् मे प्रकाशित करवाया था। इस पुस्तक की वर्तमान समय मे हिन्दी नापियों के लिए ग्रत्युपयोगिता देखकर ग्रध्यात्मरिसक पूज्य ग्राचार्य देव श्री विजयकलापूर्णसूरिजी म ने श्री नैनमल विनयचन्द्र सुराएगा से गुजराती का हिन्दी ग्रनुवाद करवाकर, "जिनभक्ति की महिमा" रूप उपोद्धान के साथ प्रकाशनार्थ हमे प्रदान की, एतदर्थ हम पूज्य ग्राचार्य श्री की कृपा के ग्रत्यन्त ग्रामारी ह।

नरेन्द्र प्रकाश जैन	पारसमल भसाली	देवेन्द्रराज मेहता
पार्टनर	ग्रध्यक्ष	सचिव
मोतीलाल वनारसीदास	जेन य्वे नाकोडा	प्राकृत भारती स्रकादमी
दिल्ली	पार्श्वनाथ तीर्थ	जयपुर
	मेवानगर	•

भगवान के सम्मुख स्तुति करते समय उन्होंने स्वय ने इसका उपयोग किया है।

तत्पश्चात् कितकाल मर्वज्ञ श्री हेमचन्द्रसूरीश्वरजी द्वारा रचित "अयोग-व्यवच्छेदिका" एव "अन्ययोगव्यवच्छेदिका" नामक दो स्तुतियाँ दी गई ह। श्री सिद्धमेन दिवाकर सूरि द्वारा रचित गम्भीर एव गहन म्नुतियों के अनुकरण स्वरूप होने पर भी इन दोनों म्नुतियों को परमोप-कारी आचार्य भगवान ने अपनी प्रतिभा से अत्यन्त सरल एव समक्त में आने योग्य स्पष्ट भाषा में रची है। सम्यवत्व की परम विशुद्धि एव शासन के प्रति इड अनुराग उत्पन्न करने के लिये ये दोनों स्नुतिया अत्यन्त लाभ-दायक है, ये अत्यन्त प्रवल मिथ्यात्व के विष को उतारने में समर्थ है तथा कित्वाल के मोहाधकार में ज्योति भरने के लिये रत्न की दो लघु दीविलयों का कार्य करती ह।

तत्पण्चान् किलकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्रस्रीश्वरजी के उपदेश से प्रितियोधित एव श्री ग्रिन्टित भगवान के शासन के परम भक्त महाराजा- विराज श्री कुमारपाल भूपाल द्वारा रचित श्री जिनेश्वर भगवान की हृदय-दायक मतुनि दी गई है। यह स्तुति प्रत्येक भावुक व्यक्ति को श्री जिनेश्वर देव के माथ तन्मय करके भिवत रम में सरावोर करने वाली है। इस स्तुति क 33 पद्य है। इसके द्वारा परमात्मा की स्तवना करने वाले भव्यात्मा को ग्राज भी रोमाच होने लगता है। वह ममार का भान भूल कर श्री जिनेश्वर भगवान के माथ एकात्मता अनुभव करता प्रतीत होता है। इस स्तुति का उस किलयुग में मुक्ति-दूती का उपनाम दिया जाये तो वह सर्वथा सार्थक होगा।

तत्पश्चात् त्यायाचार्य, त्याय-विद्यारद, महोपाध्याय श्री यशोविजय नी उत्तर रचित ''परमज्योति'' तथा ''परमात्म पचिविशतिका'' नामक दो म्तुतिया दी गई है । परमात्म-स्वरूप का प्रतिपादन करने वाले समस्त गयो का सक्षिप्त नार इन दो म्तुतियो में नमाविष्ट हैं—ऐसा कहने में कोई स्रतिश्योगित नहीं होगी। ये दो स्तुतियाँ पाठकों में स्रपूर्व तन्वज्ञान की ग्यांत जगमाने के नाथ श्री वीतराग परमात्मा के स्रद्भुत गुणों का परिचय रखती ह। तत्पश्चात् कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्रस्रीश्वर जी की सुप्रसिद्ध रचना 'श्री वीतराग स्तोत्र'' दी गई है। इसकी रचना परमार्हत् श्री कुमारपाल भूपाल के दैनिक स्वाध्याय के लिये की गई थी। श्री जिन भक्ति के रसिक प्रत्येक व्यक्ति के लिये यह कण्ठस्थ करने योग्य है और नित्य श्री जिनेश्वर भगवान के सम्मुख स्तुति करने के लिये उपयोगी है। श्री वीतराग स्तोत्र का ग्राजीवन रटन करने वाले व्यक्ति के हृदय में से मिथ्यात्व का भूत सदा के लिये भाग जाता है ग्रौर सम्यक्त्व का सूर्य ग्रपनी सहस्र किरणों के द्वारा चित्त रूपी भवन में सदा के लिये ज्योति फैलाता है, इसमे तिनक भी ग्राश्चर्य नहीं है। उसके प्रत्येक प्रकाश में रचिता ने भक्ति रस की गगा, वैराग्य रस का निर्भर एव ज्ञानामृत की धारा प्रवाहित की है। उक्त धारा के प्रवाह में भव्य ग्रात्माग्रो का मिथ्यात्व-मल धुल जाता है ग्रौर सम्यक्त्व का प्रकाश जगमगाने लगता है। ग्रन्त में परिशिष्ट में श्री जिन स्तवन की महिमा पूर्वपृष्ठपों के वचनानुसार गुजराती भाषा में विस्तार पूर्वक वताई गई है। पाठकों को उस पर भी चिन्तन-मनन करने का परामर्श दिया जाता है।

श्री जिनभक्ति ग्रत्यन्त कल्याग्यकारी ग्रपूर्व वस्तु है। श्री जिनगुग्य-स्तुति उसका एक परम साधन है। इस वात की ग्रोर भव्यात्माग्रो का ध्यान ग्राकिपत करने के लिये पूर्व महापुरुषों ने ग्रथक परिश्रम किया है, जिसका समुचित ग्राभास कराने के लिये परिशिष्ट का ममावेश किया गया है।

परिशिष्ट का लेखाकन करने मे गास्त्रकार महर्पियों के ग्रागय से विरुद्ध जो कुछ भी लिखा गया हो तथा स्तुतियों के ग्रर्थ लिखने मे न्याय, व्याकरण ग्रौर सिद्धान्त शास्त्र से विपरीत जो कुछ भी लिखा गया हो उस सबके लिये मिच्छामि दुक्कड देते हुए सज्जनों को हस-चचुवत् मार ग्रहण करने के लिये सूचित करता हूं।

श्री करमचद जैन पीपधशाला, अधेरी पोप गुक्ला द्वितीया वीर मवत् 2468, वि सवत् 1998 दिनाक 20-12-1941 मुनि भद्रकरविजय

उपोद्घात

जिन भक्ति की महिमा

जिन-मिक्त मुक्ति का प्रवान सावन है। मिक्त की शक्ति अकल्पनीय एव असीम है। मिक्त की अपूर्व शक्ति के द्वारा समस्त प्रकार की आब्या-त्मिक सावना का विकास होता है। मिक्त को शक्ति के द्वारा हो भक्तात्मा को ऐसी युक्ति सुक्त जाती है जो उसे मुक्ति का साक्षात्कार कराती है।

प्रनादि काल से विहरातम भाव में रहा हुन्ना जीव श्री जिनेश्वर परमात्मा की मक्ति के प्रभाव में अन्तरात्म-भाव प्राप्त करके कमश परमात्म भाव की ग्रोर उनमुख होता है।

जिन-मिक्त ग्रथीत् "श्री जिनेण्वर परमात्मा ही केवल मेरे ग्रीर समस्त जीवो के परम हिन-चिन्तक, परम हिन-कारक, सब चिन्ता-चूरक, सब-रायं-पूरक, सब-सागर-तारक तथा मोक्ष-पद-दायक है" इन प्रकार की ग्रटल खदा ग्रार विश्वास के नाथ प्रभु के प्रति हृदय मे ग्रनन्त सम्मान एव ग्रादर प्रकट करना।

परमात्म-भक्ति ही ग्रात्मा को परमात्मा बनाने वाली ह—इस सत्य री पास्तिवक श्रद्धा जिस व्यक्ति के हृदय में स्थिर हो जाती ह, ग्रोतप्रोत हो जाती ह, उसे परमात्मा को प्राप्त करने के ग्रितिरिक्त ग्रन्य कोई श्रीनिष्ण ग्रथ्था कामना होती ही नहीं है। भिवत की तन्मयता की पानन्दानुभूति करने वाले भक्त को ग्रन्य वस्तुग्रों की ग्रपेक्षा प्रभु-भिक्त ही प्रथाधिक श्रिय एवं श्रेष्ट प्रतीत होती है।

प्रतोक व्यक्ति मे परमात्म-स्वरूप विद्यमान हे, छिपा हुन्ना है। वह प्रभट तब टी होना है, जब प्रात्मा परमात्मा की शरण मे जाती है, वह उन्नभी निक्त मे एकरूप, एकात्म हो जानी है, उनकी स्नाज्ञा को रोम-रोम मे ज्याप्त कर नेती है।

भारपत मुखमा प्रतन्त प्रानन्दमय चिन्मय गुद्र ग्रात्म-स्वरूप को

प्राप्त करने का ग्रनन्य एव ग्रद्धितीय उपाय परमात्मा की प्रीति, भक्ति ग्रीर शररागिति ही है।

परमात्म-भक्ति के अनेक साधन है, उपाय है। अपनी पात्रता, भूमिका के अनुरूप उपाय का सम्मान करने से जीवन मे भक्ति का विकास होता है।

प्रस्तुत पुस्तक ''जिन-भक्ति'' मे श्री ग्ररिहन्त परमात्मा के गुणो के स्वरूप, उनका ग्रचिन्त्य प्रभाव, समस्त विश्व पर उनके ग्रसख्य उपकार, उनके साथ हमारे सम्बन्ध तथा उनकी स्तुति, वन्दना, ग्रचना स्वरूप भक्ति फल ग्रादि पर उत्तम प्रकार से प्रकाश डालने वाले ग्रनेक सस्कृत स्तोत्रो ग्रादि का सग्रह है, तथा साथ ही साथ इसे सुगम बनाने के लिये उनका हिन्दी ग्रनुवाद भी दिया गया है। इसका एकाग्रता से गान, ग्रर्थ-चिन्तन ग्रादि करने से हमारे हृदय मे श्री ग्ररिहन्त परमात्मा के प्रति प्रेम का प्रवाह तीव्रता से प्रवाहित होने लगता है ग्रौर हमारी चित्त-वृत्तियाँ निर्मल, शान्त एव स्थिर वनती है।

सासारिक पदार्थों को हृदय में स्थान, मान एव भाव देने में हमारी ही ग्रात्मा का ग्रपमान एवं ग्रंध पतन होता है। हमारी ग्रात्मा का वास्त-विक सम्मान एवं उत्थान तो श्री जिनेश्वर परमात्मा की निष्काम ग्रारा-धना एवं उपासना करने से होता है ग्रीर उस ग्राराधना एवं उपासना का प्रारम्भ परमात्मा की प्रीति एवं भक्ति से होता है। इस सत्य को स्वीकार करके जो व्यक्ति परम कत्याग्यकारी परमात्मा की उपासना में लीन होता है, वह व्यक्ति ग्रवश्यमेव दिव्य ग्रानन्द की ग्रनुभूति करता है।

ग्रध्यात्म योगी तत्वहण्टा पूज्यपाद पन्यास प्रवर श्री भद्र करविजयजी महाराज ने भक्ति-रसिक पुण्यात्माग्रों के भक्ति-रस में वृद्धि हो, उसकी पुष्टि हो, इस ग्रुभ उद्देश्य से भक्ति-वर्धक प्राचीन स्तोत्रों का गुजराती अनुवाद सहित सुन्दर सकलन प्रकाशित किया था, जिसका ग्राज हिन्दी प्रनुवाद सहित प्रकाशन हो रहा है। ग्राशा है हिन्दी भाषी जनता इससे ग्रत्यन्त ही लाभान्वित होगी।

सकलनकर्ता उन महापुरुप के चरगों में कृतज्ञ भाव से वन्दन हो।

—विजयकलापूर्णसूरि

अनुक्रमणिका

	स्तुति	रचियता	पृष्ठाक
i	थी वर्द्ध मान द्वात्रिशिका	यी सिद्धसेनदिवाकरसूरि	1-10
2	श्री जिन स्तवन	श्री सिर्द्धाप गिए।	11-16
3	श्री ऋप भपचाशिका	श्री धनपाल महाकवि	17–31
4	ग्रयोगव्यवच्छेद द्वात्रिशिका	श्री हेमचन्द्रस्रि	32-40
5	ग्रन्ययोगव्यवच्छेद द्वाप्त्रिशिका	श्री हेमचन्द्रसूरि	41-50
6	माधारण जिन स्तवन	श्री कुमारपाल भूपाल	51-59
7	परम-ज्योति-पञ्चविंशतिका	श्री यगोविजय उपाध्याय	60–64
8	परमान्म-पञ्चविद्यतिका	श्री यशोविजय उपाध्याय	65-69
9	श्री वीतराग म्तोत्र	श्री हेमचन्द्रसूरि	70-107
0	परिशिष्ट 1, 2, 3		108-123

जिन-भक्ति

श्राचार्य-पुरन्दर महावादी श्री मिद्धमेन दिवाकर-रचित

अशे वर्द्धमानद्वात्रिंशिका *

सदा योगसारम्यारसमुदभूतसाम्य ,
प्रभोत्पादितप्राणिपुण्यप्रकाश ।
प्रिलोकीशवन्छस्त्रिकालज्ञनेता,
स एक परारमा गतिमें जिनेन्द्र ॥१॥

प्रयं—क्षाविक भाव में उत्पन्न ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप योग की तादारम्यता के धनुभव में जिनमें नदा समर्पण भाव विद्यमान है, जिन्होंने केवन-ज्ञान और केवल-दर्शन की प्रभा से अपने क्षामन के धन्तगंत प्राणियों में धम का उद्योत प्रमारित विया है, जो तिलोक के स्वामी देवेन्द्र, भूमीन्द्र एवं चमरेन्द्रों के लिये भी वन्दनीय हैं और जो मति, धृत, ध्रवधि तथा मन प्यंव ज्ञान-युक्त पुर्षों के स्वामी है, ऐसे सामान्य केविनयों के लिये इन्द्र तुल्य परमात्मा श्री वर्द्ध मान स्वामी ही मेरी गांव स्वरूप हो—मुक शर्गा हो। (१)

शियोऽथाविसरयोऽय बुद्ध पुराण ,
पुमानत्यलक्ष्योऽत्यनेकोऽत्यर्थक ।
प्रमुख्यात्युपाधिस्यभाव ,
स एक परात्मा गतिमें जिनेन्द्र ॥२॥

जुगुष्साभयाज्ञाननिद्राविरत्यं— गभृहास्यशुद्धे षिमध्यात्वरागैः । न यो रत्यरत्यन्तरायैः सिषेवे,

ग या रत्यरत्यस्तराय सिषयः, स एकः परात्मा गतिमें जिनेन्द्रः ॥३॥

श्चर्य—निन्दा, भय, श्रज्ञान, नीद, श्चित्रिंत, काम-लिप्सा, हास्य, शोक, द्वेष, मिथ्यात्व, राग, रित, श्चरित, तथा दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय एव वीर्यान्तराय ये पाच श्चन्तराय इस प्रकार श्रठारह दोष जिनमे नहीं हैं वे एक ही परमात्मा जिनेन्द्र मेरी गित रूप हो। (३)

न यो बाह्यसत्त्वेन मैत्रीं प्रपन्नस्तमोभिनं नो वा रजोभि प्रगुन्नः ।
त्रिलोकीपरित्राणनिस्तन्द्रमुद्रः,

स एकः परात्मा गतिमें जिनेन्द्रः ॥४॥

श्चर्य—जो प्रभु बाह्य सत्त्व अर्थात् लौकिक सत्त्व गुरा से मित्रता नहीं रखते, जो श्चज्ञान रूपी अधकार तथा रजोगुरा से भी प्रेरित नहीं हैं श्रौर तीनों लोकों की रक्षा करने में जिनकी मूर्ति स्नालस रहित है, वे एक ही श्री जिनेन्द्र मेरी गति रूप हो। (४)

हृषिकेश ! विष्णो ! जगन्नाय ! जिष्णो !,
मुकुन्दाच्युत ! श्रीपते ! विश्वरूप !
ग्रमन्तेति सबोधितो यो निराशैः,
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥४॥

प्रथं—हे इन्द्रियों के नियता | हे लोकालोक में व्याप्त ज्ञान से युक्त | हे विश्व में विद्यमान भव्य प्राशायों के नाथ | हे राग-द्वेष के विजेता | हे पाप से मुक्त कराने वाले | हे स्खलन से रहित | हे केवलज्ञान रूप लक्ष्मी के पति | हे ग्रसंख्य प्रदेशों में श्रनावृत स्वरूप से युक्त | हे ग्रनन्त | ग्रादि सम्बोधनों से निष्काम पुरुषों ने जिन्हें सम्बोधित किया है, ऐसे श्री जिनेन्द्र श्रमु ही मेरी गित हो। (५)

पुराऽनंगकालारिराकाशकेशः,

कपाली महेशो महाव्रत्युमेशः।

मतो योऽष्टमूर्तिः शिवो सूतनाथः,

स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥६॥

प्रयम्पूर्व में क्षपक श्रेणी में ग्राम्ट हुए तब से जो कामदैव रूपी मिलन पत्र के वैरी है, जो लोकाकाश रूपी पुरुषावार के मस्तक पर विद्यमान सिद्ध णिला पर न्नान करने वाते हैं, जो ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले हैं, जो महान् ऐंड्वयं के भोक्ता हैं, जो महाब्रतधारी हैं, जो केवलज्ञान केवल-दर्शन रूपी पायंती के पति हैं, जो श्रष्टकर्मों के क्षय से श्रष्ट गुर्णो रूपी मिलयों से युक्त है, जो कत्यारा स्वरूप हैं तथा जो समस्त प्रार्णियों के नाथ है, ये परमात्मा जिनेन्द्र एक ही मेरी गित हो। (६)

> विधि-ब्रह्म-लोवेश- शभु-स्वयभू-, चतुर्वयत्रमुरयाभिधानां विधानाम् । प्रुचोऽथो य ऊचे जगत्सगहेतुः, स एक परात्मा गतिमें जिनेन्द्र ॥७॥

ष्रयं — विदव के भव्य प्राणियों को मोक्ष मार्ग प्रदान करने में जो प्रभु निश्चल हेतु रूप है श्रौर जो विधि, ब्रह्मा, लोकेश, शभु, स्वयभू एव चतुर्मुख धादि नामों के कारण रूप है, वे जिनेन्द्र ही एक मेरी गति रूप हो। (७)

न भूल न चाप न चक्रादि हस्ते,
न हास्य न लास्य न गीतादि यस्य ।
न नेम्ने न गाम्ने न वपने विकार,
स एक परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥ ॥

षर्थ — जिनके हायों में त्रियूल, धनुप एवं चक्र श्रादि णस्त्र नहीं है, जो हार्य, नृत्य एवं गीत श्रादि से दूर है और जिनके नेत्र, देह श्रयवा मुंह में विकार नहीं है, वे श्री जिनेद्र परमात्मा एव ही मेरी गति हो। (=) न पक्षी न सिही पंषी नापि चाप,

> न रोषप्रसादादिजन्मा विष्टम्ब । न निर्णंश्चरित्रंजने यस्य मम्प , स एक परात्मा गतिमें जिनेन्द्र. ॥ ।।।

न गौरो न गंगा न लक्ष्मी यदीयं, वपुर्वा शिरो वाऽप्युरो वा जगाहे। यमिच्छाविमुक्तं शिवश्रीस्तु भेजे, स एकः परातमा गतिमें जिनेन्द्रः ॥१०॥

श्रर्थ — जिनकी देह पर गौरी (पार्वती) बैठी हुई नही है, जिनके सिर पर गगा स्थित नहीं है श्रौर जिनके वक्षस्थल में लक्ष्मी का निवास नहीं है, किन्तु इच्छाश्रों से मुक्त जिन प्रभु का मोक्षलक्ष्मी जाप करती है, वे श्री जिनेन्द्र प्रभु एक ही मेरी गित हो। (१०)

जगत्संभवस्थेमविध्वसरूपे-,
रसत्येन्द्रजालेर्न यो जीवलोकम् ।
महामोहकूपे निचिक्षेप नाथः,
स एकः परात्मा गतिमें जिनेन्द्रः ॥११॥

श्चर्य — जिन प्रभु ने विश्व की उत्पत्ति, स्थिति एव नाश स्वरूप मिथ्या इन्द्रजालों के द्वारा इस लोक को महा मोह रूपी कुँए मे नही डाला, वे एक ही परमात्मा श्री जिनेन्द्र भगवान मेरी गित हो। (११)

समुत्पत्तिविध्वसिनत्यस्वरूपा,
यदुत्था त्रिपद्येव लोके विधित्वम् ।
हरत्वं हरित्व प्रपेदे स्वभावेः,
स एकः परात्मा गतिमें जिनेन्द्रः ।।१२।।

प्रथं—जिन तीर्थंकर प्रभु से प्रकट उत्पत्ति, विनाश एव नित्यता (ध्रुवत्व) रूप त्रिपदी ही इस लोक में स्वभाव से ब्रह्मत्व, शिवत्व एव विष्णुत्व को प्राप्त है, वे श्री जिनेन्द्र प्रभु मेरी गति रूप हो। (१२)

त्रिकालत्रिलोकत्रिशक्तित्रिसन्ध्य-, त्रिवर्ग-त्रिदेव-त्रिरत्नादिभावैः । यदुक्ता त्रिपद्येव विश्वानि बत्रे, स एक. परात्मा गतिमें जिनेद्रः ॥१३॥

भ्रर्थ-जिन भगवान के द्वारा प्रतिपादित त्रिपदी त्रिकाल, त्रिलोक, त्रिशक्ति, त्रिसच्या, त्रिवर्ग तथा त्रिरत्न ग्रादि भावो के द्वारा समस्त विष्व को वरण की हुई है, वे श्री जिनेन्द्र प्रभु ही मेरो गति हो। (१३)

यदाना त्रिपद्येच मान्या ततोऽनी, तदस्त्येच नो चम्तु यत्राधितिष्ठी। ग्रतो सूमहे चन्तु यत्तद्यदीय, न एक पराहमा गतिमें जितेन्द्र ॥१४॥

प्रयं—जिन भगवान की स्राज्ञा तिपदी ही है, जिसमें उक्त त्रिपदी मानने याग्य है। जो पस्तु तिपदी से व्याप्त है वह वस्तु है, स्रीर जो वस्तु विषयों में स्विधिष्ठित नहीं है वह वस्तु भी नहीं है। स्रत हम कहते हैं कि जो पस्तु है पर त्रिपदीमय है, ऐसे श्री जिनेन्द्र भगवान एक ही मेरी गित हो। (१४)

न शब्दो न रूप रमो नापि गन्धो, नवा स्पश्चेशो न वर्णो न लिगम् । न पूर्वापरस्य न यस्यास्ति सज्ञा, स एक परास्मा गतिमें जिनेन्द्र ॥१४॥

श्चर्य जिन श्री जिनेन्द्र भगवान के णव्द, मप, रस, गन्ध, स्पर्श ये पाच विषय नहीं है, जिन प्रभु वा दवेत आदि वर्ग श्रयवा श्राकार नहीं है, जिन रा गरीति वा, पुत्रिम श्रयवा नपुसकित्य कोई तिम नहीं है, जिन्हें यह प्रथम श्रावा यह दितीय ऐसी पूर्वापरता नहीं है तथा जिनके सज्जा नहीं है, व शी जिनेन्द्र भगवान एक ही मेरी गति हो। (१४)

> छिदा नो भिदा नो न बलेदो न खेदो, न शायो न दाहो न तापादिरापत् । न सौरप न दु.ख न यम्यास्ति वाञ्छा, स एक परात्मा गतिमें जिनेन्द्र ॥१६॥

षय—िता भगवान गा गन्य प्रादि से छेद नहीं है, करवत ग्रादि से भेद नहीं है जन थादि से केंद नहीं है पेद नहीं है, योप नहीं है, दाह नहीं है, सन्ताप थादि धापित नहीं है गुज नहीं है, दुन्छ नहीं है, पे एक ही भी जिनेन्द्र भगवाज मेरी पति हो। (१६)

न योगा न रोगा न चोहंगवेगा,
हिपतिनों गितनों न मृत्युन जन्म।
न पुष्य न पाप न यहयास्ति वन्य,
स एक पराहमा गितमें जिनेन्द्र ॥ १७॥

श्रथं—जिन प्रभु को मन, वचन श्रीर काया के योग नहीं हैं, ज्वर श्रादि रोग नहीं है श्रीर जिनके चित्त में उद्देग का वेग नहीं है तथा जिन भगवान के श्रायु की सीमा नहीं है, पर-भव में जिनका गमन नहीं है, जिनकी मृत्यु नहीं है, जिनका चौरासी लाख जीवयोनि में जन्म/ग्रवतार नहीं है, जिनको पुण्य, पाप श्रथवा बध नहीं है, वे एक ही श्री जिनेन्द्र मेरी गति हो। (१७)

तपः संयमः सूनृतं ब्रह्म शौचं,
मृदुत्वार्जवािकचनत्वािन मुक्तिः ।
क्षमैवं यदुक्तो जयत्येव धर्मः,
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥१८॥

श्चर्य—जिनके द्वारा कथित तप, सयम, सत्य वचन, ब्रह्मचर्य, श्चचौर्य, निरिभमान, श्चार्जव (सरलता), श्चपिरग्रह, मुक्ति (निर्लोभ) श्रौर क्षमा—यह दस प्रकार का धर्म ज्वलन्त है, वे श्री जिनेन्द्र प्रभु एक ही मेरी गित हो। (१८)

श्रहो विष्टपाधारभूता धरित्रो, निरालम्बनाधारमुक्ता यदास्ते । अचिन्त्येव यद्धमंशक्तिः परा सा, स एकः परात्मा गतिमें जिनेन्द्रः ।।१९।।

श्रर्थ—ग्रहो ! जिन भगवान् के धर्म की शक्ति ग्रचिन्त्य एव उत्कृष्ट है, जिससे भुवन की ग्राधार रूप यह पृथ्वी ग्रालम्बन ग्रौर बिना ग्राधार के स्थित है, वे श्री जिनेन्द्र परमात्मा ही मेरी गित हो। (१६)

न चाम्भोधिराष्तावयेद् भूतधात्री, समाश्वासयत्येव कालेम्बुवाहः । यदुद्भूत-सद्धर्मसाम्राज्यवश्यः, स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥२०॥

भ्रथं — जिन भगवान् से प्रकट सद्धर्म के साम्राज्य के वशीभूत बना समुद्र इस पृथ्वी को डुबोता नहीं है और उचित समय पर मेघ (बादल) त्राते रहते हैं, वे ही श्री जिनेन्द्र भगवान् मेरी गति हो। (२०) न तिर्यग् ज्वलत्येव यत् ज्वालजिह्वो, यद्घ्वं न वाति प्रचण्डो नभस्वान् । न जागित यद्धर्मराजप्रतापः,

स एकः परात्मा गतिमें जिनेन्द्र ॥२१॥

प्रयं—जिन भगवान् के धर्मराज का प्रताप ऐसा जागृत है कि जिससे प्रिग्नि तिरछी प्रज्वलित नहीं होती ग्रीर प्रचड हवा ऊर्घ्व गित से नहीं चलती वे एक ही श्री जिनेन्द्र भगवान् मेरी गित हो। (२१)

इमी पूष्पदन्तौ जगत्यत्र विश्वोपकाराय विष्ट्योदयेते वहन्तौ ।
उरोक्तत्य यत्तुर्थलोकोत्तमाज्ञा,
स एकः परात्मा गतिमें जिनेन्द्रः ॥२२॥

ग्रथं — जिन लोकोत्तम प्रभु की ग्राज्ञा को ग्रगीकार करके चलने वाले सूर्य एव चन्द्रमा इस विश्व के उपकारार्थ सद्भाग्य से उदय होते हैं, वे एक ही परमात्मा मेरी गति हो। (२२)

श्रवत्येव पातालजम्बालपातात्, विघायापि सर्वज्ञलक्ष्मीनिवासान् । यदाज्ञाविधित्साश्रितानगभाज ,

स एक परात्मा गतिमें जिनेन्द्र ।।२३।।

ष्प्रथं—पालन की जाने की इच्छुक जिन भगवान् की ग्राज्ञा भव्य प्रािणयों को सर्वज्ञ लक्ष्मी के निवास रूप देहहीन बना कर ग्रथवा जिन भगवान् की श्राज्ञा उसे पालन करने के इच्छुक प्रािणयों को सर्वज्ञ लक्ष्मी का निवास रूप बना कर नरक-निगोद ग्रादि के कीचड मे गिरने से बचाती है, वे एक ही जिनेन्द्र भगवान् मेरी गित हो। (२३)

सुपर्वद्रुचिन्तामिएकामघेनु-

प्रभावा नृत्गा नैव दूरे भवन्ति । चतुर्थे यदुरथे शिवे भक्तिभाजा,

स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेद्र. ॥२४॥

श्रयं — जिन भगवान् से प्रकट चौथे लोकोत्तर (मुक्ति रूपी भाव) कल्याण के सम्बन्ध मे भक्ति-युक्त भव्य प्रािएयों के लिये कल्पवृक्ष, चिन्ता-मणि श्रौर कामधेनु प्रभाव भी दूर नहीं है, वे एक ही जिनेन्द्र भगवान् मेरी गित हो। (२४)

कितव्यालविह्नग्रहव्याधिचौर-व्यथावारणव्याघ्रवीथ्यादिविष्टनाः । यदाज्ञाजुषां युग्मिनां जातु न स्युः, स एकः परात्मा गतिमें जिनेन्द्रः ॥२५॥

श्चर्य—जिन भगवान् के आज्ञा-पालक स्त्री-पुरुषो रूपी युग्मो को क्लेश, सर्प-भय, श्चिन-भय, ग्रह-पीडा, रोग, चोर का उपद्रव, गज-भय और व्याघ्न की श्रेगो अथवा व्याघ्न एव मार्ग का भय आदि विघ्न कदापि नहीं होते, वे श्री जिनेन्द्र प्रभु एक ही मेरी गित हो। (२५)

श्रबन्धस्तथैकः स्थितो वा क्षयी वा-,

ऽष्यसद्वा मतो यैर्जडै सर्वथाऽऽत्मा ।

न तेषां विमूढात्मनां गोचरो यः,

स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ।।२६।।

श्रर्थ—जो जड मनुष्य आत्मा को सर्वथा कर्म-बध रहित, एक, स्थिर, विनाशी श्रथवा असत् मानते है, उन मूढ मनुष्यो को जो भगवान् गोचर नही होते, वे एक ही श्री जिनेन्द्र भगवान् मेरी गित हो। (२६)

न वा दुःखगर्भे न वा मोहगर्भे,
स्थिता ज्ञानगर्भे तु वैराग्यतत्त्वे ।
यदाज्ञानिलीना ययुर्जन्मपारं,
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥२७॥

श्चर्य—जिन भगवान् की श्राज्ञा दु खर्गाभत वैराग्य श्चयवा मोह-गाभित वैराग्य मे नही रही है, किन्तु ज्ञानगाभित वैराग्य तत्त्व मे रही है तथा जिनकी श्राज्ञा मे लीन हुए मनुष्यो ने जन्म-मरण रूप ससार-सागर का पार पा लिया है, वे एक ही श्री जिनेन्द्र भगवान् मेरी गति हो। (२७)

विहायास्रवं सवर सश्रयेव,
यदाज्ञा पराऽभाजि यैनिविशेषेः।
स्वकस्तैरकार्येव मोक्षो भवो वा,
स एक परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः।।२८।।

ग्रर्थ — जिन निर्विशेष (सामान्य) पुरुषो ने "हे जीव । तू ग्रास्रव को छोड कर सवर का ग्राश्रय ले" इस प्रकार की जिन भगवान् की उत्कृष्ट ग्राज्ञा का पालन किया है उन्होने ग्रपना भव/जन्म मोक्ष स्वरूप कर दिया है, जीवन-मुक्त दशा प्राप्त की है, ऐसे श्री जिनेन्द्र भगवान् एक ही मेरी गति हो। (२८)

> शुभव्याननीरैक्रीकृत्य शौचं, सदाचारदिव्यांशुकैर्मू षितागाः । बुधा केचिदर्हन्ति य देहगेहे, स एक. परात्मा गतिमें जिनेन्द्र ॥२६॥

श्चर्य—कोई पण्डित पुरुष शुभ घ्यान रूप जल से पिवत्र हो और सदाचार रूपी दिव्य वस्त्रों से ग्रगों को ग्रलकृत करके ग्रपनी देह रूपी मन्दिर में जिन भगवान् के स्वरूप की पूजा करते हैं, वे एक ही जिनेन्द्र भगवान् मेरी गित हो। (२६)

दयासूनृतास्तेयनि.सगमुद्रा-, तपोज्ञानशीलैर्गु रूपास्तिमुख्यैः । शुभैरब्टिभर्योऽर्च्यते घाम्नि घन्यैः, स एक परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्र. ॥३०॥

भ्रर्थ—जो धन्य पुरुष दया, सत्य, श्रचौर्य, नि सग मुद्रा, तप, ज्ञान, शील एव गुरु की उपासना इन प्रमुख स्राठ पुष्पो से जिन भगवान् की ज्ञान-ज्योति मे पूजा करते है, वे श्री जिनेन्द्र भगवान् एक ही मेरी गति हो। (३०)

> महार्चिर्घनेशो महाज्ञा महेन्द्रो, महाशान्तिभक्ती महासिद्धसेन । महाज्ञानवान् पावनीमूर्त्तिरह्नं, स एक परात्मा गतिमें जिनेन्द्र ॥३१॥

श्रथं—हे श्रहंन् । श्राप परम ज्योतिमंय हैं, कुवेर के समान श्रात्म-ऋद्धि के स्वामी है, महान् श्राज्ञायुक्त हैं, महेन्द्र रूप परम ऐश्वयं के भोक्ता हैं, महा शान्त रस के नायक है, महान् सिद्धों के पर्यायों की सन्तित युक्त हैं, केवलज्ञानी हैं श्रीर सबको-पावन करने वाली मूर्ति से युक्त हैं, वे श्राप श्री जिनेन्द्र प्रभु ही मेरी गति रूप हो। (३१)

महाब्रह्मयोनिर्महासत्त्वमूर्त्ति-,
मंहाहसराजो महादेवदेव.।
महामोहजेता महावीरनेता,
स एक परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः।।३२।।

श्चर्य—जो भगवान परब्रह्म के उत्पत्ति-स्थान है, जो महान् धैर्य की मूर्ति है, जो महान् चैतन्य के राजा है, जो चार निकायों के कर्मीपाधि से युक्त महान् देवों के भी देव है, जो महा मोहविजेता है ग्रीर जो महावीर अर्थात् कर्मक्षय करने में महान् योद्धा के भी स्वामी है, वे श्री जिनेन्द्र प्रभु ही एक मेरी गित हो। (३२)

(उपसहार काव्यम्) शार्द्ग लिवकीडितम

इत्थं ये परमात्मरूपमिनशं श्रीवर्द्धमानं जिनम्, वन्दन्ते परमार्हतास्त्रिभुवने शान्तं परं दैवतम् । तेषां सप्तभियः क्व सन्ति दलित दुःखं चतुर्घाऽपि तै-र्मुक्तैर्यत् सुगुणानुपेत्य वृणुते ताश्चक्तिशक्तश्रियः ।।३३।।

इस प्रकार जो परम श्रावक सदा तीन भुवन में शान्त परमात्म-स्वरूप एव परम दैवत श्री वर्धमान प्रभु की वन्दना करते हैं, उन श्रावको को सात प्रकार के भय तो भला कैसे हो सकते हैं ? परन्तु वे मुक्त होकर चार प्रकार के दु खो का भी दलन कर देते हैं श्रीर श्रानन्त चतुष्ट्य श्रादि उत्तम गुणो को प्राप्त करके चक्रवर्ती की एव मोक्ष पर्यन्त की लिक्ष्मयो का वरण करते है। (३३)

श्रो उपिमितिभवप्रपञ्चामह।कथा-रचियता श्री सिद्धिषगिराविरचितम्

* श्री जिनरतवनम् *

श्रपारघोरससार - निमग्नजनतारक ! किमेष घोरससारे, नाथ ! तेविस्मृतो जनः ? ।।१।।

श्रपार महा भयकर ससार-सागर मे डूबे हुए प्राणियो के तारणहार हे नाथ ! इस भयानक ससार-सागर मे क्या श्राप मुक्ते भूल गये ? (१)

सद्भावप्रतिपन्नस्य, तारणे लोकबन्धव! त्वयाऽस्य भुवनानन्द!, येनाद्यापि विलम्ब्यते ? ॥२॥

हे लोकवधु । तीनो भुवन को ग्रानन्द देने वाले । इस कारण मैंने सच्चे भाव से ग्रापको स्वीकार किया है, फिर भी ग्राप ससार से मेरा उद्धार करने मे ग्रव भी विलम्ब कर रहे है ? (२)

श्रापन्नशरणे दीने, करुणाऽमृतसागर ! न युक्तमीदृश कर्तुं, जने नाथ । भवादृशाम् ॥३॥

ग्रहो करुणामृत सागर । शरुणागत दीन जन के साथ ग्रापके जैसे को इस प्रकार व्यवहार करना किसी भी तरह उचित नही है। (३)

भीमेऽह भवकान्तारे, मृगशावकसन्निभः। विमुक्तो भवता नाथ!, किमेकाकी दयालुना?।।४।।

हे नाथ । ग्रापके समान दयालु स्वामी ने, इस भयकर भव-वन मे हिरन के बच्चे नी तरह मुके ग्रकेला क्यो छोड दिया है ? (४)

इतश्चेतश्च निक्षिप्त - चक्षुस्तरलतारकः । निरालम्बो भयेनेव, विनश्येऽह त्वया विना ॥४॥ इधर-उधर हिष्ट डालता हुग्रा चचल पुतली वाला निराधार एव भयभीत बना हुग्रा मैं ग्रापके बिना ग्रवश्य नष्ट हो जाऊँगा। (५)

> श्रनन्तवीर्यसम्भार!, जगदालम्बदायक! विधेहि निर्भयं नाथ! मामुत्तार्य भवाटवीम् ॥६॥

हे ग्रनन्त वीर्य के स्वामी । विश्व के ग्रालम्बन । नाथ । ग्राप मुभे भव-वन से बाहर निकाल कर भय-मुक्त करे। (६)

न भास्करादृते नाथ! कमलाकरबोधनम् । यथा तथा जगन्नेत्र!, त्वदृते नास्ति निवृतिः ॥७॥

है नाथ । जिस प्रकार कमल - वन को विकसित करने वाला सूर्य के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं है, उसी प्रकार हे विश्व-चक्षु ! आपके अतिरिक्त किसी से भी मेरी मुक्ति होने वाली नहीं है। (೨)

किमेष कर्मगां दोषः ?, कि ममैव दुरात्मनः ? कि वाऽस्य हतकालस्य ?, कि वा मे नास्ति भव्यता ? ॥५॥

हे त्रिलोक-भूषरा प्रभु ! क्या यह मेरे कर्मो का दोष है ? ग्रथवा मुभ दुरात्मा का स्वय का दोष है ? ग्रथवा क्या इस ग्रधम काल का दोष है ? ग्रथवा क्या मेरे मे भव्यत्व-भाव नहीं है ? (८)

> कि वा सद्भक्तिनिर्ग्राह्य !, मद्भक्तिस्त्विय तादृशो । निश्चलाऽद्यापि सम्पन्ना, न मे भुवनभूषण ! ॥६॥

अथवा हे सद्भक्ति से प्राप्त होने वाले भुवन-भूषण ! क्या अभी तक आपके प्रति मेरी ऐसी निश्चल भक्ति ही नहीं हुई है ? (६)

> लीलादिलतितःशेषकर्मजाल ! कृपापर ! मुक्तिमर्थयते नाथ !, येनाद्यापि न दीयते ? ॥१०॥

लीला मात्र मे समस्त कर्म-जाल को काट डालने वाले हे कृपालु भगवान् ! क्या उस कारण से मुक्ति माँगने पर भी ग्राप श्रभी तक मुभे मुक्ति प्रदान नहीं करते ? (१०)

> स्फुट च जगदालम्ब !, नाथेद ते निवेद्यते । नास्तीह शरणं लोके, भगवन्तं विमुच्य मे ।।११॥

विश्व के म्रालम्बन हे प्रभु । मैं स्पष्ट कह रहा हूँ कि इस लोक में म्रापके म्रतिरिक्त मन्य कोई भी मुक्ते शरणदाता नहीं है। (११)

स्व माता स्व पिता बन्धु-, स्त्व स्वामी त्व च मे गुरु । स्वमेव जगदानस्य ।, जीवित जीवितेश्वर ! ॥१२॥

हे जगदानन्द । हे जीवितेश्वर । ग्राप मेरी माता हैं, ग्राप मेरे पिता है, ग्राप मेरे वधु है, ग्राप मेरे स्वामी हैं, ग्राप मेरे गुरु हैं ग्रौर ग्राप ही मेरे जीवन हैं। (१२)

> त्वयाऽवधीरितो नाथ ।, मोनवज्जलवर्जिते । निराशो दैन्यमालम्ब्य, स्त्रियेऽह जगतीतले ।।१३॥

हे नाथ । श्रापसे तिरस्कृत वना मैं हताश होकर जल-विहीन मछली की तरह निराघार होकर पृथ्वी पर मृत्यु का ग्रास हो जाऊँगा। (१३)

> स्वसवेदनसिद्ध मे, निश्चले त्विय मानसम् । साक्षाद्मूतान्यभावस्य, यद्वा कि ते निवेद्यताम् ? ॥१४॥

हे भगवान्। स्रापको निश्चल पाकर मेरा मन स्राप में लीन हो गया है, इसका मुक्ते व्यक्तिगत स्रनुभव है स्रथवा स्रन्य प्राणियो के भावो के साक्षात् ज्ञाता स्रापको क्या कुछ भी कहने की स्रावश्यकता है ? (१४)

मिच्चित्त पद्मवन्नाथ !, दृष्टे भुवनभास्करे । त्वयीह विकसत्येव, विदलत्कर्मकोशकम् ॥१४॥

हे नाथ । तीन भुवन मे सूर्य के समान आपको देख कर कमल की तरह मेरा चित्त यहा कर्म-कोश को भेद कर अवश्य विकसित होता है।(१५)

> श्रनन्तजन्तुसन्तान - न्यापाराक्षणिकस्य ते । समोपरि जगन्नाथ ।, न जाने कीदृशी दया । ॥१६॥

हे जगन्नाथ । भ्रनन्त प्रािए।यो के ममूह के व्यापार के सम्बन्ध मे भ्राप व्यापृत प्रभु की मुभ पर कैमी दया है, यह मैं नहीं जानता। (१६)

> समुन्नते जगन्नाय [।], त्विय सद्धर्मनीरदे । नृत्यत्येष मयूरा भो, मद्दोर्दण्डशिखण्डिक ।।१७।।

हे जगन्नाथ । सद्धर्म रूपी वादलो के घिर ग्राने से मेरे भुज-दण्ड रूपी मयूर नृत्य वरने लगते हैं। (१७)

तदस्य किमिय भक्ति ? किमुन्मादोऽयमीदृश ? दोयता वचने नाथ ।, कृपया मे निवेद्यताम् ॥१८॥ हे नाथ । यह क्या उनकी भक्ति है ग्रथवा पागलपन है ? ग्राप ग्रपने वचनो के द्वारा मुक्ते बतायें, कृपा करके मुक्ते कहे। (१८)

> मञ्जरीराजिते नाथ ।, सच्चूते कलकोकिल । यथा दृष्टे भवत्येव, लसत्कलकलाकुलः ।।१६।।

हे नाथ ! मजरी से सुजोभित ग्राम के वृक्ष को देखकर जिस प्रकार मनोहर कोयल कल-कल की ध्वनि करने लगती है, (१६)

तथैष सरसानन्द-बिन्दुसन्दोहदायके । त्विष दृष्टे भवत्येव, मूर्खोऽपि मुखरो जनः ।।२०।। युग्मम्

उसी प्रकार से सरस ग्रानन्द-बिन्दु के समूह को प्रदान करने वाले ग्रापको देख कर यह मूर्ख व्यक्ति भी वाचाल हो जाता है। (२०)

> तदेनं माऽवमन्येथा, नाथासंबद्धभाषिग्गम् । मत्वा जन जगज्ज्येष्ठ ।, सन्तो हि नतवत्सलाः ।।२१।।

इस कारएा जगत् के हे श्रेष्ठ पुरुष । हे नाथ । मुक्ते ग्रसम्बद्ध भाषएा करने वाला मान कर मेरा तिरस्कार न करे, क्योंकि सन्त पुरुष नमन करने वाले प्रािएयों के प्रति वत्सलता भाव वाले होते हैं। (२१)

कि बालोऽलीकवाचाल, श्रालजाल लपन्नपि । न जायते जगन्नाथ [।], पितुरानन्दवर्धकः ? ।।२२।।

हे जगन्नाथ । बालक अस्त-व्यस्त, सच्चा-मिथ्या अथवा पागल सा बोलता है तो भी क्या वह पिता के आनन्द मे वृद्धि करने वाला नही होता ? (२२)

> तथाऽश्लोलाक्षरोल्लापजल्पाकोऽय जनस्तव । कि विवर्धयते नाथ!, तोष कि नेति कथ्यताम् ? ।।२३।।

हे नाथ । मैं ग्रश्लील ग्रक्षरों के उल्लाप स्वरूप जैसी तैसी भाषा में बोलता हूँ, जिससे ग्रापके ग्रानन्द में वृद्धि होती है ग्रथवा नहीं, यह ग्राप मुभे बतायें। (२३)

> श्रनाद्यभ्यासयोगेन, विषयाशुचिकर्दमे । गर्ते सूकरसंकाश, याति मे चटुल मनः ॥२४॥

हे नाथ । ग्रनादिकालीन ग्रम्यास से मेरा चचल मन विषय रूप ग्रपवित्र कीचड मे जूकर की तरह चला जाता है। (२४)

> न चाह नाय ! शक्नोमि, तन्निवारियतु चलम् । श्रतः प्रसोद तद्देवदेव [।] वारय वारय ॥२४॥

हे नाथ । मेरे इस चचल मन को रोकने में मैं समर्थ नहीं हूँ। श्रत हे देवाधिदेव ! मुक्त पर कृपा करके उसे विषय रूपी श्रशुचि में जाने से रोको, रोको। (२५)

> कि ममापि विकल्पोऽस्ति, नाथ । तावकशासने । येनैव लपतोऽघोश । नोत्तर मम दीयते ? ॥२६॥

हे नाथ । क्या मुफ्ते श्रापकी श्राशा के सम्बन्ध मे कोई सन्देह है ? जिसके परिएगम से मैं इतना कहता हूँ तो भी श्राप मुफ्ते उत्तर नहीं दे रहे है ? (२६)

श्रारूढमीयतीं कोटीं, तव किङ्करता गतम्। मामप्येतेऽनुघावन्ति, किमद्यापि परीषहाः?।।२७।।

हे नाथ ! मैं ग्रापका सेवक-पद पा गया—इतने स्तर तक मैं ग्रागे वढा, तो भी श्रभी तक ये परीषह मेरा पीछा कर रहे हैं, उसका क्या कारण है ? (२७)

कि चामी प्रणताशेष — जनवीर्यविधायक !। उपसर्गा ममाद्यापि, पृष्ठ मुञ्चन्ति नो खलाः ?।।२८।।

समस्त जनो के वीर्य को उत्पन्न करने वाले हे नाथ । ये दुष्ट उपसर्ग ग्रभी तक मेरा पीछा क्यो नहीं छोडते ? (२८)

पश्यन्निप जगत्सर्वं, नाथ । पुरत संस्थितम् । कवायारातिवर्गेगः, कि न पश्यिस पोडितम् ? ॥२६॥

हे नाथ । ग्रिखल विश्व को ग्राप देख रहे हैं, फिर भी ग्रापके सम्मुख खडे हुए तथा कवाय रूपी शत्रुग्रो से पीडित इस सेवक को ग्राप क्यो नही देखते ? (२६)

> कवायाभिद्रुत वीक्ष्य, मा हि कारुगिकस्य ते। विमोचने समर्थस्य, नोपेक्षा नाथ[।] युज्यते॥३०॥

हे नाथ । मुभे कषायों से पीडित देख कर भी श्रीर उनसे छुडाने में समर्थ होते हुए भी श्राप जैसे दयालु को मेरी उपेक्षा करना उचित नहीं है। (३०)

> विलोकिते महाभाग¹, त्विय ससारपारगे। श्रासितुं क्षरामप्येकं, ससारे नास्ति मे रतिः॥३१॥

है महाभाग ! ससार से मुक्त हुए आपको देखने के पश्चात् इस ससार मे एक क्षरा भर के लिए भी रहने की मेरी रुचि नहीं है। (३१)

किं तु किं करवारगीह? नाथ । मामेष दारुण । श्रान्तरो रिपुसघातः, प्रतिबध्नाति सत्वरम् ॥३२॥

किन्तु हे नाथ! मैं क्या करू ? इन अन्तरग शत्रुओं का समूह मुभे कठोरता से सत्वर बाध लेता है। (३२)

विधाय मिय कारुण्यं, तदेन विनिवारय। उद्दामलीलया नाथ । येनागच्छामि तेऽन्तिके ॥३३॥

हे नाथ । मुक्त पर कृपा करके उस शत्रु-समूह को प्रचड लीला से दूर करो, जिससे मैं ग्रापके समीप पहुँच सकू । (३३)

> तवायत्तो भवो धीर¹, भवोत्तारोऽपि ते वशः। एव व्यवस्थिते किं वा, स्थीयते परमेश्वरः?।।३४॥

हे घीर । यह ससार आपके आधार पर है और इस ससार से उद्धार होना भी आपके अधीन है। तो फिर हे परमेश्वर । आप शान्त क्यो बैठे है 7 (३४)

तद्दीयतां भवोत्तारो, मा विलम्बो विधीयताम्। नाथ । निर्गतिकोल्लाप, न शुण्वन्ति भवाद्शाः ॥३५॥

श्रत श्रव मुभे ससार से पार करो, विलम्ब मत करो। हे नाथ । जिसका श्रन्य कोई श्राधार नहीं है, ऐसे मेरे जैसे व्यक्ति के उद्गार क्या श्राप जैसे नहीं सुनेगे। (३४)

सिद्धसारस्वतमहाकविश्रीघनपालविरचिता

श्रीऋषभपंचाशिका

जयजतुकप्पपायव । चदायव । रागपकयवरास्स । सयलमुणिगामगामिरा । तिलोश्चच्डामिरा ! नमो ते ।।१॥ (जगज्जन्तुकल्पपादप ! चन्द्रातप ! रागपञ्चजवनस्य । सकलमुनिग्राम-ग्रामणी-स्त्रिलोकच्डामरो ! नमस्ते ।।)

विश्व के जीवों को वाछित फल प्रदान करने वाले होने के कारण हें कल्पवृक्ष के समान योगीश्वर , राग रूपी सूर्य से विकसित होने वालें (कमलों के वन को) उन्मीलित करने वालें होने से (चन्द्रप्रभा) तुल्य परमेश्वर , हे, सकल कला युक्त मुनिगण के नायक , हे स्वर्ग, मर्त्य एव पाताल (ग्रथवा श्रघोलोक, मध्यलोक एव ऊर्ध्वलोक) रूपी त्रिभुवन की (सिद्ध शिला रूपी) चूडा के लिये (उसके शाश्वत मण्डन रूप होने के कारण) मिण तुल्य ऋषभदेव स्वामिन् । ग्रापकों मेरा त्रिकरण शुद्धि पूर्वक नमस्कार हो। (१)

जयरोसजलराजलहर !, कुलहर ! वरणाणदसरासिरीणं । मोहितिमिरोहिदिरायर !, नयर ! गुरागणाण पउराण ॥२॥ (जय रोषज्वलनजलधर ! कुलगृह ! वरज्ञानदर्शनिश्रयो. । मोहितिमिरोघिदिनकर ! नगर ! गुणगणाना पौराणाम् ॥)

है कोध रूपी अग्नि को शान्त करने मे मेघ के समान 1, हे उत्तम (अप्रतिवाति) ज्ञान एव दर्शन रूपी लिक्ष्मयों के आनन्दार्थ कुलगृह तुल्य !, हे अज्ञान रूपी अधकार के समूह का अन्त करने में सूर्य के समान 1, हे (तप, प्रशम आदि) गुणों के समुदाय स्वरूप नागरिकों के नगर तुल्य 1 आपकी जय हो, आप सर्वोत्कृष्ट हो। (२)

दिहो कहिव विहडिए, गंठिमिम कवाडसंपुडघरांमि। मोहधयारचारयगएण जिरा ! दिणयरुव्व तुम ।।३।। (दृष्टः कथ्मिप विघटिते ग्रन्थौ कपाटसम्पुटघने। मोहान्घकारचारकगतेन जिन! दिनकर इव त्वम्।।)

श्रनेक भवो से एकत्रित होने से द्वार के युगल जैसी गाढ राग-द्वेष के परिणाम स्वरूप गाठ का जब अत्यधिक परिश्रम से नाश हुआ, तब हे जिनेश्वर । २८ प्रकार के मोह रूपी ग्रधकार से व्याप्त कारागृह मे मुभे सूर्य के समान ग्रापका दर्शन हुआ। (३)

भविश्रकमलारा जिणरिव । दंसरापहरिसूससताणं। दढबद्धा इव विहडति, मोहतम-भमरिवदाइ ।।४।। (भव्यकमलेभ्यो जिनरवे। त्वदृर्शनप्रहर्षोच्छ्वसद्भ्यः। दृढबद्धानीव विघटन्ते मोहतमोभ्रमरवृन्दानि ।।)

मिथ्यात्वरूपी रात्रि का नाश करने वाले एव सुमार्ग की ज्योति फेलाने वाले हे जिन-सूर्य । ग्रापके दर्शन रूपी प्रकृष्ट ग्रानन्द से विकसित भव्य कमलो से दृढता पूर्वक वाँ हुए मोह ग्रधकार रूपी भोरो के समूह मुक्त हो जाते है। (४)

> लहुत्तर्गाहिमाणो, सन्वो सन्वहुसुरिवमारगस्स । पइं नाह् । नाहिकुलगर-, घरावयारुम्मुहे नहो ॥४॥ (शोभनत्वाभिमानः सर्वः सर्वार्थसुरिवमानस्य । त्विय नाथ । नाभिकुलकर,-गृहावतारोन्मुखे नष्टः॥)

हे नाथ । जब ग्रापने नाभि कुलकर के घर मे ग्रवतार लिया, तब सर्वार्थसिद्ध नामक देव विमान का सौन्दर्थ सम्बन्धी समस्त गर्व चूर चूर हो गया। (५)

पइ चितादुल्लहमुवलसुवलकलए म्रउच्वकष्पदुमे । ग्रवइन्ने कष्पतक् जयगुरु !हित्था इव पन्नोत्या ॥६॥ (त्विय चिन्तादुर्लभमोक्षसुलक्षकदेऽपूर्वकल्पद्रुमे । ग्रवतीर्णे कल्पतर वो जगद्गुरो !ह्रीस्था इव प्रोपिता ॥) सकत्व से दुर्नभ मोक्ष-सुख रूपी फल प्रदान करने वाले आप अपूर्व कल्पवृक्ष अवतीर्ण हुए, जिससे हे जगद्गुरु । कल्पवृक्ष मानो लिज्जित हो गये हो उस प्रकार अदृश्य हो गये। (६)

श्ररएण तइएण, इमाइ श्रोसिष्प्गोइ तुह जम्मे।
फुरिश्रं कग्गमएण, व कालचिक्ककपासिम ॥७॥
(श्ररकेग्ग तृतीयेनास्यामवस्प्पिण्या तव जन्मिन।
स्फुरित कनकमयेनेव कालचक्रकपाश्वें॥)

कालचक के एक श्रोर इस श्रवसर्पिणी काल मे श्रापके जन्म से तीसरा श्रारा स्वर्णमय जैसे सुशोभित रहा। (७)

जिम्म तुम श्रिहिसित्तो, जत्थ य सिवसुवलसपय पत्तो ।
ते श्रद्वावयसेला, सीसामेला गिरिकुलस्स ॥५॥
(यत्र त्वमभिषिक्तो यत्र च शिवसुलसपद प्राप्तः ।
तवाष्टापदशैलौ, शीर्षापीडौ गिरिकुलस्य ॥)

जिस स्वर्ण गिरि पर श्रापका जन्माभिषेक हुग्रा वह एक श्रष्टापद (मेरु) पर्वत तथा जहाँ श्रापने णिव-सुख की सम्पत्ति प्राप्त की ग्रर्थात् जहाँ श्रापका निर्वाण हुग्रा वह विनीता नगरी के समीपस्थ श्राठ सीढियो वाला दूसरा श्रष्टापद पर्वत —ये दोनो पर्वत समस्त पर्वतो के समूह के मस्तक पर मुकुट स्वरूप हो गये। (८)

घन्ना सविम्हय जेहि, भत्ति कयरज्जमज्जणो हरिए।। चिरघरिश्रनलिए।पत्ताऽभिसेश्रसिलेहि दिट्ठो सि ॥६॥ (घन्या सविस्मय यैभेटिति कृतराज्यमज्जनो हरिएा। चिरघृतनितनपत्राभिषेकसिलेर्द् ष्टोऽसि ॥)

हे जगन्नाथ । इन्द्र के द्वारा शीघ्र राज्याभिषेक किये गये आपको दीर्घ काल तक कमल के पत्तो के द्वारा अभिषेक (जलधारएए) किये हुए जिन युगलिको ने देखा वे धन्य है। (६)

दाविश्रविज्जासिष्पो, वज्जिरिश्रासेसलोग्नववहारो । जाम्रो सि जारा सामिम्र, पयात्रो ताम्रो कयत्यान्रो ॥१०॥ (दिरातविद्याशित्पो व्याकृतशेषलोकव्यवहार । जातोऽसि यासा स्वामो प्रजास्ता कृतार्या ॥) जिन्होने (शब्द, लेखन, गिएत, गीत श्रादि) विद्याएँ एव (कुम्भकार श्रादि) शिल्प बताये है, तथा जिन्होने (कृषि, पशु-पालन, वािराज्य, विवाह श्रादि) समस्त प्रकार का लोक-व्यवहार भी समुचित प्रकार से समभाया है, ऐसे श्राप जिन प्रजा-जनो के स्वामी हुए हैं, वे प्रजाजन भी कृतार्थ है। (१०)

बंधुविहत्तवसुमई, वच्छरमिच्छन्नदिन्नधगानिवहो । जह तंतह को भ्रन्तो, निश्रमधुरं घीर ! पिडवन्नो ॥११॥ (बन्धुविभक्तवसुमितः वत्सरमिच्छन्नदत्तधनिवह । यथा त्वं तथा कोऽन्यो नियमधुरां घीर ! प्रतिपन्नः॥)

जिन्होने (भरत ग्रादि पुत्रो एव सामन्तो रूपी) बन्धुग्रो मे पृथ्वी का विभाजन कर दिया श्रोर जिन्होने निरन्तर एक वर्ष तक धन का दान किया है, ऐसे ग्रापने जिस प्रकार (दीक्षा के समय समस्त पापपूर्ण ग्राचरण के त्याग की) नियमधुरा को धारण किया, उस प्रकार हे धीर ! ग्रन्य कौन धारण कर सकता है ? (११)

सोहिस पसाहित्र्यंसो, कज्जलकिसणाहि जयगुरु जडाहि।
जवगूढिविसिज्जित्ररायलिच्छबाहच्छडाहिं व ।।१२।।
(शोभसे प्रसाधितांस कज्जलकृष्णाभिर्जगद्गुरो जटाभिः।
जपगूढिविसिज्जतराजलक्ष्मीबाष्पच्छटाभिरिव।।)

हे जगद्गुरु ! राज्यकाल मे स्रालिंगन की हुई स्रौर दीक्षा-काल मे त्याग की गई राज्य-लक्ष्मी की मानो स्रश्नुधारा ही हो उस प्रकार की काजल के समान स्थाम जटा से स्रलकृत स्कध्युक्त स्राप सुशोभित हो रहे हैं। (१२)

> उवसामिश्रा श्रग्जा, देसेसु तए पवन्नमोणेण । श्रभणंत च्चिश्र कज्जं, परस्स साहंति सप्पृरिसा ।।१३।। (उपशमिता श्रनार्या देशेषु त्वया प्रपन्नमौनेन । श्रभणन्त एव कार्यं परस्य साधयन्ति सत्पुरुषाः ।।)

हे नाथ । ग्रापने (वहली, ग्रडम्व, इल्लायोनक ग्रादि ग्रनार्य देशो मे) ग्रनार्यो को मौन घारएा करके शान्त किये वह सचमुच एक ग्राश्चर्य है, (क्योंकि किसी को भी शान्त करने का उपाय वाक्-चातुर्य है, ग्रथवा यह हे भुवन-प्रदीप ! केवलज्ञान की पूजा के समय भरत ने आपको भी चक्र रत्न के समान देखा, क्यों कि विषय-तृष्णा पूज्य जनो को भी मित विश्रम कराती है। (१७)

पढमसमोसरणमुहे, तुह केवलसुरवहूकश्रोज्जोग्रा। जाया ग्रग्गेई दिसा, सेवासयमागयसिहि व्व॥ १८॥ (प्रथमसमवसरणमुखे तव केवल सुरवधू कृतोद्योता। जाता श्राग्नेयी दिशा सेवास्वयमागतशिखीव॥)

ग्रापके प्रथम समवसरण के महोत्सव मे केवल सुर-सुन्दरियो (की द्युति से) प्रकाशित ग्रिग्नि दिशा भिवत से ग्राक्षित हो कर स्वत ही ग्राये हुए ग्रिग्नि देव के समान हो गई। (१८)

गिहिम्रवयभगमिलणो, नूणं दूरोणएहि मुहराम्रो । ठिव(ई) भ्रो पढिमिल्लुग्रतावसेहि तुह देसएा पढमे ।। १६ ।। (गृहीतव्रतभङ्गमिलनो नूनं दुरावनतैर्मु खरागः । स्थिगतः प्रथमोत्पन्नतापसैस्तव दर्शने प्रथमे ॥)

केवलज्ञान उत्पन्न होने के पश्चात् समवसरण मे श्रापके प्रथम दर्शन होने पर, प्रथम उत्पन्न हुए ग्रत्यन्त विनम्र तापसो ने ग्रापके साथ दीक्षा के समय ग्रहण किये हुए सयम व्यत के भग से मिलन बना ग्रपना चेहरा (नमस्कार के वहाने) सचमुच ढक दिया। (१९)

तेहि परिवेढिएगा य, वूढा तुमए खगा कुलवइस्स ।
सोहा विग्रडसत्थल — घोलतजडाकलावेगा ॥ २०॥
(तैः परिवेद्दितेन च व्यूढा त्वया क्षगा कुलपतेः ।
शोभा विकटासस्थलप्रेंखज्जटाकलापेन ॥)

तथा (वदनार्थ ग्राये) उन तापसो से घिरे हुए ग्रौर विशाल स्कध-प्रदेश को स्पर्श करती जटा-समूह युक्त ग्राप क्षरा भर के लिए कुलपित के रूप में सुशोभित हुए। (२०)

तुह रूव पिच्छता, न हुंति जे नाह ! हरिसपिडहत्था । समणा वि गयमण च्चिय, ते केविलिगो जइ न हुति ।। २१ ।। (तव रूप पश्यन्तो न भवन्ति ये नाथ । हर्षपरिपूर्गाः । समनस्का ग्रिप गतमनस्का एव ते केविलिनो यदि न भवन्ति ॥) हे नाय ! ग्रापका (सर्वोत्तम) रूप ग्रवलोकन करने वाले (जीव) यदि र्हापत नही होते तो, यदि वे सर्वज्ञ न हो तो फिर वे सज्ञी होते हुए भी सचमुच ग्रसज्ञी है। (२१)

पत्ता णिस्सामन्न, समुन्नइ जेहि देवया श्रन्ने ।
ते दिति तुम्ह गुग्गसकहासु हास गुग्गा मज्भः ॥ २२ ॥
(प्राप्ता नि सामान्या समुन्नित यैदेवका श्रन्ये ।
ते ददते तव गुग्गसकथासु हास गुग्गा मम ॥)

जिन गुणों के द्वारा अन्य देवों ने असाधारण प्रभुता प्राप्त की वें (किल्पत) गुण आपके (सद्भूत) गुणों के सकीर्तन के समक्ष मुक्ते हास्य उत्पन्न करते हैं। (हरि, हर आदि की प्रभुता किल्पत है, जब कि आपकी प्रभुता का आधार वास्तविक गुण है।) (२२)

दोसरिहश्रस्त तुह जिग्ग । निदावसरिम भग्गपसराए । वायाइ वयग्यकुसलावि, वालिसायित मच्छरिगो ।। २३ ।। (दोपरिहतस्य तव जिन । निन्दावसरे भग्नप्रसरया । वाचा वचनकुशला श्रिप वालिशायन्ते मत्सरिगः ॥)

हे जिनेश्वर । वचन कहने में कुंगल मत्मरी लोग भी सर्वथा दोप हीन ग्रापकी निन्दा करने के समय भग्न प्रसार वाली वाणी से चाहे जैसा वोल कर वालक की तरह चेप्टा करते है। (२३)

> ग्रणुरायपल्लविल्ले, रइविल्किफुरतहासकुमुमिम । तवतावित्रा वि न मगो, सिगारवणे तुहल्लीएगे ॥ २४॥ (त्रनुरागपल्लववित रितविल्लस्फुरद्धासकुमुमे । तपस्तापितमिष न मन भ्यागारविने तव लोनम् ॥)

अनुराग रूपी पल्लवों से युक्त श्रांर रित रूपी लता पर खिलने वाले हास्य रूपी पुष्पों से युक्त श्रु गार रूपी वन में अनगन श्रादि तपस्या रूपी ताप से तप्त प्रापका मन यहां लगा नहीं। (यह श्राक्चर्य है क्योंकि ग्रीष्म एतु के ताप से तप्त जन तो वन का श्राश्रय नेते हैं।) (२४) श्राणा जस्स विलइग्रा, सीसे सेस व्व हरिहरेहि पि । सो वि तुह काराजलणे, मयगो मयणं विग्र विलीगो ।। २५ ॥ (ग्राज्ञा यस्य विलगिता शीर्षे शेषेव हरिहराम्यामपि । सोऽपि तव ध्यानज्वलने मदनो मदनमिव विलीनः ।।)

जिसकी स्राज्ञा को हरि एव हर ने भी शेषनाग की तरह शिरोधार्य की है, वह (स्रप्रतिहत सामर्थ्य वाला) मदन भी स्रापके शुक्ल ध्यान रूपी स्रग्नि मे मोम की तरह पिघल गया। (२५)

पइ नवरि निरिभमागा, जाया जयदप्पभंजगातागा । वम्महर्नारदजोहा, दिट्ठिच्छोहा मयच्छीगा ।। २६ ।। (त्विय केवल निरिभमाना जाता जगददर्पभञ्जोत्तानाः । मन्मथनरेन्द्रयोद्धा दृष्टिक्षोभा मृगाक्षोगाम् ।।)

विश्व के दर्प को चूर करने मे समर्थ कदर्प राजा के योद्धा स्वरूप मृगाक्षियों के कटाक्ष केवल ग्रापके सम्बन्ध मे ही निरिभमानी रहे है, ग्रर्थात् सफल नहीं हुए। (२६)

विसमा रागद्दोसा, निता तुरय व्व उप्पहेगा मगा।
ठायति धम्मसारहि । दिट्ठे तुह पवयगो नवर ।।२७।।
(विषमौ रागद्दोषौ नयन्तौ तुरगाविवीत्पथेन मनः।
तिष्ठतो धर्मसारथे । दृष्टे तव प्रवचने केवलम्।।)

जिस प्रकार मिथ्या मार्ग पर (रथ को) लेजाने वाले ग्रहव, सारथी की चावुक देख कर सीधे मार्ग पर जाने लगते है, उसी प्रकार से धर्म रूपी रथ के हे सारथी । जब ग्रापके प्रवचन, सिद्धान्त के दर्शन होते है तब चित्त को कुमार्ग की ग्रोर ले जाने वाले विपम राग एव द्वेष रक जाते है ग्रथित् उनका कोई जोर नहीं चलता। (२७)

पच्चलकसायचोरे, सइसिनहिम्रासिचवकधणुरेहा।
हुति तुह चिचम्र चलगा, सरगा भीम्रागा भवरन्ने ॥२८॥
(प्रत्यलकषायचौरेः सदासिन्नहितासिचक्रधनूरेखौ।
भवतस्तवैव चरगो शरगा भीताना भवारण्ये॥)

ſ

हे भगवन् । जिसमे प्रवल कपाय रूप चीर वसते है ऐसे भव-वन में भयभीत जीवों को तलवार, चक्र एव धनुप रूपी रेखाग्रों से सदा लाछित ग्रापके ही चरण शरण स्वरूप है। (२८)

तुह समयसरव्भद्ठा, भमित सयलासु रुवलजाईसु।
सारिणजल व जीवा, ठाराट्ठारासु वज्भता।।२६।।
(तव समयसरोभ्रष्टा भ्राम्यन्ति सफलासु रूक्षजातिषु।
सारिणजलिव जीवाः स्थानस्थानेषु वष्यमाना।।)

जिस प्रकार सारणी (नीक) का जल समस्त वृक्ष जातियों में स्थान-स्थान पर वधा हुग्रा फिरता है उसी प्रकार से हे नाथ । ग्रापके सिद्धान्त रूप सरोवर से भ्रष्ट जीव चौरासी लाख जीव योनि रूप सकल रक्ष जाति/ कठोर उत्पत्ति स्थानों में कमों के द्वारा स्थान-स्थान पर वधे हुए भ्रमण करते है। (२६)

> सिलल (लि) व्व पवयणे तुह, गिहए उड्ढ ग्रहो विमुक्किम्म । वच्चित नाह । कूवय - रहट्टघडिसिनहा जीवा ।।३०।। (सिलल इव प्रवचने तव गृहोते अर्ध्वमधो विमुक्ते । ग्रजन्ति नाथ । कूपकारघट्टघटोसिन्नभा जीवा ।।)

हे नाथ । कुँए के ग्ररघट्ट की घटी के समान जीव ग्रापके प्रवचन को जब जल के समान ग्रहण करते हैं तब वे ऊपर (स्वर्ग ग्रथवा मोक्ष मे) जाते हैं ग्रीर जब उन्हें छोड देते हैं तब नीचे (तियँच ग्रथवा नरक मे) जाते हैं। (३०)

लीलाइ निति मुक्ख, ग्रन्ने जह तित्थित्रा तहा न तुम । तहिव तुह मग्गलगा, मग्गित वुहा सिवसुहाइ ॥३१॥ (लोलया नयन्ति मोक्षमन्ये यथा तीथिकाः तथा न त्वम् । तथापि तव मार्गलग्ना, मृगयन्ते वुधन्नः शिवसुखानि ॥)

जिस प्रकार अन्य बाद्ध आदि दार्शनिक लीला पूर्वक जीवो को मोक्ष में ले जाते हे उस प्रकार आप नहीं करते हैं, तो भी विचक्षण जन यथार्थ दर्शन, ज्ञान एव चारित्र रूप आपके मार्ग में लगे हुए मोक्ष-सुखों को लोजते हैं। (३१) सारिव्य बंधवहमरएभाइएगो जिए । न हुंति पइ दिट्ठे। अविषेहि वि हीरता, जीवा ससारफलयिमम ।। ३२।। (शारय इव बन्धवधमरएभागिनो जिन ! भवन्ति त्विय दृष्टे। अक्षेरिप हि यमाएग जीवाः ससारफलके ।।)

जिस प्रकार पाशों से खिचे हुए मोहरे वध, वध, एव मृत्यु के भाजन वनते है उसी प्रकार से हे जिनेश्वर । इस ससार रूपी फलक में इन्द्रिय रूपी मोहरों से गतियों में भ्रमण करते जीव जब ग्रापकों (यथार्थ वृद्धि के द्वारा) देखते है तब वे (तिर्यंच ग्रौर नरक गित से सम्बन्धित) बध, वध, एव मृत्यु के भागी नहीं होते। (३२)

श्रवहीरिश्रा तए पहु! निति निश्रोगिनकसंखलाबद्धा । कालमणत सत्ता, सम कयाहारनीहारा ॥३३॥ (श्रवधीरितास्त्वया प्रभो । नयन्ति निगोदैकशृड्खलाबद्धाः । कालमनन्त सत्त्वाः सम कृताहारनीहारा ॥)

(जिस प्रकार कुछ राजपुरुप राजा की अवहेलना होने पर कारागृह में लोहे की जजीरों में बँध कर अन्य कैंदियों के साथ सम काल में आहार एवं नीहार की कियाएँ करने में अत्यन्त समय खोते हैं उसी प्रकार से) हे नाथ (अव्यवहार राशि के कारण साधन के अभाव में धर्मीपदेश से विचत रहने के कारण) आप द्वारा तिरस्कृत जीव निगोद रूपी एक ही जजीर से बँध कर एक साथ आहार-नीहार करने में अनन्त काल खोते हैं। (३३)

जेहि तित्रश्राण तव-निहि! जासइ परमा तुमिम पिडवत्ती। दुक्लाइ ताइ मन्ने, न हु ति कम्म श्रहम्मस्स ॥३४॥ (यंस्तापिताना तपोनिधे! जायते परमा त्विय प्रतिपत्ति । दुःलानि तानि मन्ये न भवन्ति कर्माधर्मस्य ॥)

हे तपोनिधि । जिन दुःखो से पीडित जीवो को ग्रापके प्रति ग्रान्तरिक प्रेम उत्पन्न होता है, वे दु ख ग्रधर्म के कार्य नहीं है, (परन्तु वे पुण्यानुबधी होने से उल्टे प्रशसनीय है) यह मैं मानता हूँ। (३४) होही मोहुच्छेग्रो, तुह सेवाए घुव त्ति नंदामि । ज पुरा न विद्यव्वो, तत्य तुम तेरा भिज्जामि ।।३४।। (भविष्यति मोहोच्छेदस्तव सेवया ध्रुव इति नन्दामि । यत् पुननं वन्दितव्यस्तत्र त्व तेन क्षीये ।।)

श्रापकी सेवा में मेरा मोह श्रवश्य नष्ट होगा, इस वात का मुक्ते हुए है, परन्तु (मोहोच्छेद होने पर मुक्ते केवलज्ञान प्राप्त होगा श्रोर केवलज्ञानी केवलज्ञानी को नमन नहीं करता यह नियम होने से मुक्त पर श्रनुपम उपकार करने वाले) श्रापकों भी मैं वन्दन नहीं कर सकूँगा, श्रत मैं क्षीण हो रहा हूँ, शोकाकुल हो रहा हूँ। (३५)

जा तुह सेवाविमुहस्स, हू तु मा ताउ मह सिमद्धीश्रो । श्रिहिश्रारसप्या इव, पेरतिवडबणफलाश्रो ।।३६।। (यास्तव सेवाविमुखस्य भवन्तु मा ता मम समृद्धय । ग्रिधिकारसप्य इव पर्यन्तिवडम्बनफला ।।)

ग्रन्त मे विडम्बना स्वरूप फलदायक राज्याधिकार की सम्पत्तियों के समान सम्पत्ति ग्रापकों सेवा से विमुख (सर्वथा जिन-धर्म से रहित प्रथम गुए स्थान पर रहने वाले मनुष्य ग्रादि) को होती हैं, वे सम्पत्ति मुक्ते प्राप्त न हो। (३६)

भित्तूण तम दीवो, दें । पयत्थे जरास्स पयडेइ । वुह पुरा विवरीयमिण, जईषकदीवस्स निव्वडिम्र ।।३७॥ (भित्वा तमो दीपो देव ! पदार्थान् जनस्य प्रकटयति । तव पुनविपरोतमिद जगदेकदोपस्य निष्पन्तम् ।।)

हे देव । दीपक अधकार को भेद कर मनुष्य को पदार्थ देखने में सहायता करता है, परन्तु निश्व के प्रद्वितीय दीपक स्वरूप आपका यह (दीपक कार्य) तो निगरीत हैं, (क्योंकि आप तो प्रयम उपदेश रूपी किरण के द्वारा भव्य जीवों को जोव-अजोव आदि पदार्था का वोध कराते हैं, प्रौर तत्पश्चात् उस प्रकार उन्हें यथार्थ ज्ञान देकर उनके अज्ञान रूपी धधकार का अन्त करते हैं।) (३७)

मिच्छत्तविसपसुत्ता, सचेयगा जिगा । न हुति कि जीवा ? कण्णिम्म कमइ जइ कित्तिग्र पि तुह वयग्पमन्तस्स ।।३८।। (मि॰यात्वविषप्रसुप्ताः सचेतना जिन ! न भवन्ति कि जीवाः ? कर्णायोः क्रामित यदि कियदिप तव वचनमन्त्रस्य ।।)

यदि मिथ्यात्व रूपी विष से मूछित जीवो के कानो मे हे वीतराग । ग्रापकी वाणी रूपी मन्त्र का ग्रमुक ग्रश भी प्रविष्ट हो तो वे जीव (भी रोहिएोय चोर तथा चिलाती पुत्र की तरह) क्या सचेत नही होते ? (३८)

श्रायित्रग्रा खराद्ध , पि पइ थिर ते करित श्रणुराय । परसमया तहिव मरा, तुह समयन्त्र्रा न हरंति ॥३६॥ (श्राकिराता क्षराार्धमिप त्विय स्थिर ते कुर्वन्त्यनुरागम् । परसमयास्तथापि मनस्त्वत्समयज्ञाना न हरन्ति ॥)

ग्रन्य (वैशेपिक, नैयायिक, जैमिनीय, साख्य, सौगत प्रमुख) दार्श-निको के ग्रागम ग्राधे क्षण तक श्रवण करने पर भी ग्रापके प्रति हमारा ग्रनुराग स्थिर रहता है ग्रौर जिसमे ग्रापके सिद्धातो के ज्ञाताग्रो के चित्त वे हर नही पाते। (३६)

वाईहि परिग्गहिम्रा, करित विमुह खर्गेण पिडविक्ख । तुष्भ नया नाह ! महागय व्व ग्रन्तुन्नसलग्गा ।।४०॥ (वादिभिः परिगृहोताः कुर्वन्ति विमुख क्षर्गोन प्रतिपक्षम् । तव नया नाथ! महागजा इवान्योन्यसलग्नाः ।।)

हे नाथ । ग्रद्या से घरे हुए तथा परस्पर मिले हुए महान् गज जिस प्रकार शत्रु-सेना को रए।भूमि मे से पीछे हटाते है उस प्रकार से ग्रत्यन्त चतुर एव वाद-लिब्ध से ग्रलकृत वादियों के द्वारा स्वीकार करते हुए तथा परस्पर सगत से ग्रापके नय क्षरा भर मे प्रतिपक्ष को (वाद-विवाद के क्षेत्र से) विमुख करते है। (४०)

पावति जस ग्रसमजसा वि वयगोहि जेहि परसमया।
तुह समयमहो ग्रहिगो, ते मदा बिदुनिस्सदा।।४१।।
(प्राप्नुवन्ति यशोऽसमञ्जसा ग्रिप वचनैयैं: परसमयाः।
तव समयमहोदधेस्ते मन्दा बिदुनिस्यन्दाः।।)

ग्रन्य दार्शनिको के युक्तिविकल सिद्धात भी (सूर्य-चन्द्र के ग्रहण ग्रादि वता कर) जिन वचनो के द्वारा यश प्राप्त करते हैं, वे वचन सिद्धान्त रूपी महासागर के सामान्य विन्दुग्रो की वूँदे हैं। (४१)

> पइ मुक्के पोम्रम्मिन, जीवेहि भवन्नविम्म पत्ताम्रो । म्रणुवेलमावयामुहपडिएहि विडम्बणा विविहा ॥४२॥ (त्विय मुक्ते पोत इव जीवैभेवार्णवे प्राप्ता । म्रनुवेलमापदामुखपिततैविडम्बना विविधाः॥)

(जिस प्रकार सरिता के भीतर पड़े हुए जीव जहाज के ग्रभाव में डूव जाते हैं, दुष्ट जलचर प्रािंग्यों के द्वारा मृत्यु के मुख में समा जाने ग्रादि की विविध विपत्तिया प्राप्त करते हैं उसी प्रकार हे नाथ। जिन जीवों ने नौका-तुल्य ग्रापका त्याग किया है वे ग्रापित्तयों में फँसे हुए जीव ससार-सागर में विविध विडम्बनाग्रों को बार-बार प्राप्त करते हैं (४२)

वुच्छ स्रपत्थिस्रागय - मच्छभवन्तोमुहुत्तवसिएए। । छावद्वो स्रयराइ, निरतर स्रव्यइट्ठाणे ॥४३॥ (उषितमप्राधितागममत्स्यभवान्तमुं हूर्त्तमुषितेन । पट्पष्टि स्रतराणि (सागरोपमानि) निरन्तरमप्रतिष्ठाने ॥)

(हे देव । अन्य भवो को तो क्या वात कहूँ) अचानक आये हुए मत्स्य के भव मे अन्तर्मुं हूर्त काल तक रह कर मैं (सातवी नरक के) अप्रतिष्ठान नरकावास मे छासठ मागरोपम तक अविच्छिन्न रूप से रहा। (४३)

> सीउण्हवासघारा - निवायदुवर्लं सुतिवलमणुभूश्र । तिरिधत्तणम्मि नाणा - वरणसमुच्छाइएगावि ॥४४॥ (शीतोष्णवर्षधारानिपातदु ल सुतोक्ष्णमनुभूतम् । तिर्पवत्वे ज्ञानावरणसमुच्छादितेनापि ॥)

शानावरण कर्म से ग्रत्यन्त ग्राच्छादित होकर भी मैंने तियँच के भव में शीत, ताप एवं वर्षा की धारा गिरने का ग्रत्यन्त नीव्र दुःच ग्रनुभव किया। (यह ग्रास्चर्य है) (४८) श्रंतो निक्खतेहि, पत्तींहं पिश्रकलत्तपुत्तींहं। सुन्ना मणुस्सभवणाडएसु निञ्काइश्रा श्रका।।४४॥ (श्रन्तिन्द्रकान्तैः प्राप्तैः (पात्रैः) प्रियकलत्रपुत्रैः। शुन्या मन्द्यभवनाटकेषु निध्यता श्रंकाः॥)

(हे नाथ) मनुष्य भव रूपी नाटको मे मुभे प्राप्त प्रिय पत्नी एव पुत्र वृद्धावस्था से पूर्व मृत्यु के मुख मे समा जाने से मुभे शून्य दिखाई दिया। (४५)

> विट्ठा रिउरिद्धीश्रो, श्राणां कया महिंद्वश्रसुराणं। सिंहश्रा य हीणदेवत्तरणेसु दोगच्चसंतावा।।४६।। (दृष्टा रिपुऋद्धय श्राज्ञाः कृता महिंद्धिकसुराणाम्। सोढौ च हीनदेवत्वेषु दौर्गत्यसन्तापौ ॥)

तदुपरान्त (देवलोक मे भी) मैंने शत्रुग्रो की सम्पत्ति देखी, महर्द्धिक सुरो के शासनो को सिर पर चढाया ग्रीर (किल्बिषक जैसे) नीच देव-भव मे दरिद्रता एव सन्ताप सहन किये। (४६)

> सिंचतेण भववणं, पल्लट्टा पिल्लग्राऽरहट्टु व्व । घडिसठाणोसिष्पिणिश्रवसिष्पिणपरिगया बहुसो ।।४७।। (सिञ्चता भववन परिवर्ताः प्रेरिता श्ररघट्ट इव । घटीसस्थानोरसिष्ण्यवसिष्पिणोपरिगता बहुशः ।।)

(हे नाथ । निथ्यात्व, ग्रविरित, कषाय, प्रमाद एव योग, कर्मबध के इन पाच कारण रूपी जल मे) भव-वन का सिचन करने वाले मैंने ग्ररघट्ट की तरह घटी-सस्थान रूपी उत्सिपिणी एव ग्रवसिपणी से युक्त ग्रनेक पुद्गल परावर्त व्यतीत किये। (४७)

भिमग्रो कालमणत, भविम्म भीग्रो न नाह ! दुक्खारा । सपइ तुमिम दिहु, जाय च भयं पलाय च ।।४६।। (भ्रान्त. कालमनन्तं भवे भीतो न नाथ ! दुःखेम्यः । सम्प्रति त्विय दृष्टे जात च भय पलायितं च ।।)

हे नाथ ! मैं ससार मे अनन्त काल तक भटकता रहा तो भी दु खो से भयभीत नहीं हुआ, परन्तु अभी जब मैंने आपको देखा तब (कोंघ आदि से होने वाली विडबना का बोध होने पर) भय उत्पन्न हुआ और (साथ ही माय शम ग्रादि से दूर कर मकूँगा यह ज्ञान होने पर) वह पलायन भी कर गया । (४८)

जइवि कयत्यो जगगुरु । मज्भत्यो जइवि पत्थेमि । दाविज्जसु श्रप्पाण, पुणो वि कइया वि श्रम्हाण ॥४६॥ (यद्यि फृतार्थो जगद्गुरो । मध्यस्या यद्यपि तथापि प्रार्थये । दर्शयेदात्मान पुनरपि कदाचिदप्यस्माकम् ॥)

हे जगद्गुरु । यद्यपि स्राप कृतार्थ हैं तथा मध्यस्य है तो भी मैं स्रापको प्रार्थना करता है कि स्राप किसी समय स्रथवा किसी देश मे भी भ्रमण कर हमे स्रपना दर्शन दे। (४९)

इत्र भारागिगवावित्रकिम्मधण । वालवुद्धिगा वि मए । भन्तोइ युत्रो भवभयसमुद्दवोहित्य । वोहिफलो ॥५०॥ (इति ध्यानाग्निप्रदीपितकर्मेन्धन । वालवुद्धिनाऽपि मया । भक्त्या स्तुतो भवभयसमुद्रयानपात्र । वोधिफल ॥)

ध्यान रपी ग्रग्नि के द्वारा कर्म रूपी ईंधन को प्रज्वलित करने वाले ग्रार प्रत्यन्त दुस्तर भव-भय रूपी समुद्र को पार करने मे यान के ममान हे नाय । मैंने वाल वृद्धि से सम्यक्त्व फल-दायक ग्रापकी इस प्रकार से भक्तिपूर्वक स्तुति की। (५०)

कलिकालसर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य द्वारा रचित

अयोगव्यवच्छेद-द्वात्रिंशिका

श्रगम्यमध्यात्मविदामवाच्यं । वचस्विनामक्षवतां परोक्षम् ।। श्रीवर्धमानाभिधमात्मरूप-महं स्तुतेर्गोचरमानयामि ॥ १ ।।

ग्रध्यात्मवेत्ताग्रो के लिए ग्रगम्य, पडितो के लिए ग्रनिर्वचनीय ग्रौर इन्द्रियो के ज्ञानियों के लिये परोक्ष परमात्म स्वरूप श्री वर्धमान स्वामी को मैं ग्रपनी स्तुति का विषय बनाता हु। (१)

स्तुतावशक्तिस्तव योगिनां न कि ।
गुगानुरागस्तु ममापि निश्चलः ।।
इद विनिश्चत्य तव स्तव वदन् ।
न बालिशोऽप्येष जनोऽपराध्यति ।। २ ।।

हे भगवान् । आपकी स्तुति करने मे क्या योगी पुरुष भी असमर्थ नही है ? (असमर्थ होते हुए भी आपके गुणो के प्रति अनुराग से ही योगियो ने आपकी स्तुति की है उस प्रकार से) मेरे हृदय मे भी आपके गुणो के प्रति दृढ अनुराग है, अत मेरे समान मूर्ख व्यक्ति भी आपकी स्तुति करने पर भी

म्रपराध का भागीदार नही होता। (२)

वव सिद्धसेनस्तुतयो महार्था । ग्रशिक्षितालापकला वव चैषा ।। तथापि यूथाधिपतेः पथिस्थः । स्खलद्गतिस्तस्य शिशुर्न शोच्य ।। ३ ।।

गम्भीर ग्रर्थ युक्त श्री सिद्धसेन दिवाकर सूरि की स्तुतियाँ कहाँ ग्रौर ग्रम्यास रहित मेरी यह वक्तृत्व-कला कहाँ ? तो भी बडे-बडे हाथियो के मार्ग पर चलने वाला हायी का वच्चा स्खलित होने पर भी जिस प्रकार चिन्ता का कारण नहीं वनता, उसी प्रकार से यदि मैं भी स्खलित हो जाऊँ तो चिन्ता का कारण नहीं है। (३)

> जिनेन्द्र! यानेव विवाधसे स्म, दुरन्तदोषान् विविधेरुपायैः । त एक चित्र त्वदसुययेव, कृताः कृतार्थाः परतीर्थनायैः ।।४।।

हे जिनेन्द्र । जिन दुरन्त दोपो का ग्रापने विविध उपायो के द्वारा नाण किया है, श्राक्चर्य है कि उन्ही दोपो को ग्रन्य मतो के देवो ने मानो ग्रापके प्रति ईपीं से ही स्वीकार कर लिया है। (४)

यथास्थित वस्तु विशक्तधीश ।
न तादृश कौशलमाश्रितोऽसि ।
तुरङ्गशृङ्गाण्युपपादयव्म्यो,
नम परेम्यो नवपण्डितेम्यः ॥५॥

हे स्वामिन् । भ्रापने पदार्थों का जैसा है वैसा ही वर्णन किया है, भ्रत स्रापने ग्रन्य मतावलिम्बयों की तरह कोई कुशलता प्रदर्शित नहीं की। ग्रश्य के सिंगों की तरह ग्रसभव वस्तुग्रों को उत्पन्न करने वाले ग्रन्य मत के न्तन पण्डितों को हम नमस्कार करते हैं। (५)

> जगत्यनुष्यानवलेन शश्वत, कृतार्थयत्मु प्रसभ भवत्मु । किमाधितोऽन्ये शरण त्वदन्य , स्वमासदानेन वृथा कृपालुः ॥६॥

हे पुरुषोत्तम । ध्यान रूपी उपकार के द्वारा तीनो लोको को सदा फ़नार्य करने वाले आपको छोड कर अन्य मतावलिम्बयो ने अपना माँस दान करके दयालु कहलाने वालो का शरण क्यो ग्रहण किया है ? यह तिनक्ष भी नमक मे नहीं आता। । यह कटाक्ष बुद्ध पर किया है।) (६)

स्वय कुमार्गग्लिपता नु नाम,
प्रलम्भमन्यानिप लम्भयन्ति।
नुमार्गग तद्विदमादिशन्तमत्त्ययान्धा श्रवमन्वते च ॥७॥

ईर्षा से अबे बने मनुष्य स्वय कुमार्ग में लीन होकर दूसरों को कुमार्ग की ओर ले जाते है और सुमार्ग पर चलने वाले, सुमार्ग के ज्ञाताओं तथा सुमार्ग के उपदेशकों का अपमान करते है, यह अत्यन्त खद की वात है। (७)

> प्रावेशिकेभ्यः परशासनेभ्यः, पराजयो यत्तव शासनस्य। खद्योतपोतद्युतिडम्बरेभ्यो विडम्बनेय हरिमण्डलस्य।। । । ।।

हे प्रभ ! वस्तु के तिनक श्रश को ग्रहण करने वाले ग्रन्य दर्शनों के द्वारा ग्रापके मत का पराभव करना एक छोटे से जुगनू के प्रकाश से सूर्य मण्डल का पराभव करने के समान है। (८)

शरण्य ! पुण्ये तव शासनेऽपि,
सदेग्धि यो विप्रतिपद्यते वा ।
स्वादौ स तथ्ये स्वहिते च पथ्ये,
संदेग्धि वा विप्रतिपद्यते वा ।।६।।

हे शरणागत ग्राश्रयदाता ! जो मनुष्य ग्रापके पिवत्र शासन के प्रति शका एव विवाद करते है, वे सचमुच स्वादिष्ट, ग्रनुकूल एव हितकर भोजन के प्रति शका ग्रौर विवाद करते है। (६)

हिसाद्यसत्कर्मपथोपदेशादसर्वविन्मूलतया प्रवृत्तेः।
नृशंसदुर्बु द्विपरिग्रहाच्च,
ब्रमस्त्वदन्यागममप्रमाणम्।।१०।।

हे भगवन् ! हिंसा ग्रादि ग्रसत्य कर्मों के उपदेशक होने से, ग्रसर्वज्ञों द्वारा कथित होने से तथा निर्देय एव दुर्बु द्वि मनुष्यो द्वारा ग्रहण किये हुए होने से ग्रापसे ग्रन्य मतो के ग्रागम प्रामाणिक नहीं हैं। (१०)

हितोपदेशात्सकलक्षवलृष्ते—

मुं मुक्षसत्साधुपरिग्रहाच्च ।
पूर्वापरार्थेप्यविरोधसिद्धे —

स्त्वदागमा एव सतां प्रमाणम् ।।११।।

हे भगवन् । हितकर उपदेशक होने से, सर्वज्ञ कथित होने से, मुमुक्षु गव उत्तम साधु पृष्पो द्वारा अगीकार किए होने से और पूर्वापर पदार्थों के सम्बन्ध में विरोध रहित होने से श्रापके आगम ही सत्पुष्पों के लिये प्रमारण ई। (११)

> क्षिप्येत वान्येः सद्शीक्रियेत वा, तवाध्रिपीठे लुठन सुरेशितुः। इद यथावस्थितवस्तुदेशन, परेः कथकारमपाकरिष्यते।।१२॥

हे जिनेश्वर । अन्य वाद वाले आपके चरण कमलो मे इन्द्र के नमस्कार की वात चाहे न मानें अथवा अपने इष्ट देवो मे भी उनकी कल्पना करके चाहे आपको समानता करे, परन्तु वस्तु के यथार्थ स्वरूप का प्रतिपादन रूप आपके गुण का अपलाप वे किस प्रकार करेंगे ? (१२)

तद्दु.पमाकालखलायित वा,
पचेलिम कर्म भवानुकूलम्।
उपेक्षते यत्तव शासनार्थंमयं जनो विप्रतिपद्यते वा ।।१३।।

हे भगवन् । जो मनुष्य ग्रापके शासन की उपेक्षा करते हैं ग्रथवा उसमें विवाद करते ह वे इम पाचवे ग्रारे के कुप्रभाव से ही ऐसा करते हैं ग्रथवा भव-परिभ्रमण के ग्रनुकूल उनके ग्रभुभ कर्मों का उदय समऋना चाहिये। (१३)

पर सहस्रा शरदस्तपासि,
युगान्तर योगमुपासता वा।
तथापि ते मार्गमनापतन्तो,
न मोक्ष्यमाणा ग्रपि यान्ति मोक्षम् ॥१४॥

हे भगवन् । चाहे यन्य मतावनम्यी हजारो वर्षो तक तप करें श्रयवा ग्राग्नर तक योग का श्रम्यान करें, तो भी उनकी मोदा की इच्छा होने पर भी धापके माग का श्रयनम्यन लिये विना उन्हें मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता। (१०)

श्रनाप्तजाडचादिविर्निमितित्व-सभावनासभिविविप्रलम्भाः । परोपदेशा परमाप्तवलृप्त-पथोपदेशे किमु संरभन्ते ।।१५।।

हे देवाधिदेव । ग्रनाप्तो की मन्द बुद्धि से रचित एव विसवाद से परिपूर्ण ग्रन्य मतो के उपदेश, परम ग्राप्त ग्रापके द्वारा प्रतिपादित किये गये उपदेशो के समक्ष भला कैसे ठहर सकते हे ? (१५)

यदार्जवादुक्तमयुक्तमन्यैस्तदन्यथाकारमकारि शिष्यैः।
न विष्लवोऽय तव शासनेऽभूदहो श्रधुष्या तव शासनक्षीः।।१६।।

ग्रन्य मतावलिम्बयों के गुरुग्रों ने सरल भाव से जो कुछ भी ग्रयोग्य कथन किया था उसका उनके शिष्यों ने विपरीत ढग से प्रतिपादन किया। हे भगवन् । उस प्रकार का विष्लव ग्रापके शासन में नहीं हुग्रा। ग्रहों। ग्रापके शासन को लक्ष्मी का किसी से भी पराभव नहीं हो सकता। (१६)

> देहाद्ययोगेन सदाशिवत्व, शरीरयोगादुपदेशकर्म। परस्परस्पधि कथ घटेत, परोपक्लृप्तेब्विधदेवतेषु॥१७॥

हे वीतराग । देह ग्रादि के ग्रयोग से सदाशिवत्व एव देह ग्रादि के योग से उपदेश-कर्म ये दो परस्पर विरोधी धर्म ग्रन्यो द्वारा कल्पित देवो मे किस प्रकार हो सकते है ? कदापि नहीं हो सकते। (१७)

प्रागेव देवान्तरसिश्रतानि,
रागादिरूपाण्यवमान्तराणि ।
न मोहजन्या करुगामपीश !
समाधिमाध्स्थ्ययुगाश्रितोऽसि ।।१८।।

राग स्रादि दोषो ने प्रथम से ही स्रन्य देवो का स्राश्रय लिया है। हे स्रधीश ! समाधि एव मध्यस्थता को जपने वाले स्रापने मोहजनित करुणा का भी स्राश्रय नहीं लिया। (१८) जगन्ति भिन्दन्तु सृजन्तु वा पुनर्यया तथा वा पतय प्रवादिनाम्।
त्वदेकनिष्ठे भगवन् भवक्षयक्षमोपदेशे तु पर तपस्विन ॥१६॥

हे भगवन् । ग्रन्य मत वाले देव चाहे जिस प्रकार से जगत् का प्रलय करें ग्रयवा जगत् की उत्पत्ति करें, परन्तु भव-भ्रमण का नाश करने मे समर्थ उपदेश देने में, ग्रापकी तुलना में वे विचारे रक ह । (१६)

वपुश्च पर्यद्धशय श्लय च,
दृशौ च नासानियते स्थिरे च।
न शिक्षितेय परतीर्थनाथैजिनेन्द्र । मुद्रापि तवान्यदास्ताम्।।२०।।

हे जिनेन्द्र । आपके अन्य गुणो को घारण करना तो दूर रहा, परन्तु अन्य देव पर्यक आमन वाली ,अनकडता रहित देह वाली और नासिका पर स्थिर दृष्टि वाली आपकी मुद्रा तक नहीं सीख पाए। (२०)

यदीयसम्यव्त्ववलात् प्रतीमो, भवादृशाना परमस्वभावम् । कुवासनापाशिवनाशनाय, नमोऽस्तु तस्मे तव शासनाय ॥२१॥

हे पीतराग । जिसके नम्यक्षने के वल से ग्राप जैनों के शुद्ध स्वरूप हा दन यथार्थ दर्शन कर सके ह, उस कुवासना रूपी वन्धन के नासक ग्रापके शासन को हमारा नमस्कार हो। (२१)

ध्रपक्षपातेन परोक्षमाणाः,
हय हयस्यात्रतिम त्रतीमः ।
यनास्थितार्वत्रयन तर्वतः
दस्याननिर्वत्यस्य परेवाम् ॥२२॥

हे भगपन् । जब हम निष्यंत बन कर परी बा करते है तब स्नापका प्रिया हप से पहनु का प्रतिभादन त्रार सन्य मताब विस्विध का पदायों को भिष्योत उन ते रापन करने का सामह दोनों वस्तु स्रप्रतिम प्रतीत होती ह। (२२) श्रनाद्यविद्योपनिषन्निषण्णै— विश्टं खलैश्चापलमाचरद्भिः । श्रमूढलक्ष्योऽपि पराक्रिये य— त्त्वत्किङ्करः कि करवाणि देव! ।।२३।।

हे देव ! अनादि अविद्या मे रमे हुए, उच्छृ खल, चपल एव अमूढ लक्ष्य से युक्त पुरुष भी इस तेरे सेवक के द्वारा उचित मार्ग पर नहीं लाये जा सकते तो अब मैं क्या करूँ ? (२३)

विमुक्तवैरव्यसनानुबन्धाः,
श्रयन्ति यां शाश्वतवैरिणोऽपि ।
परेरगम्यां तव योगिनाथ !
तां देशना भूमिमुपाश्रयेऽहम् ॥२४॥

हे योगियो के नाथ ! स्वभाव से ही वैरी प्राणी भी शत्रुता छोड कर दूसरो के द्वारा अगम्य आपके जिस समवसरण का आश्रय लेते है, उस समवसरण (देशना) भूमि का मैं भी आश्रय ग्रहण करता हूँ। (२४)

मदेन मानेन मनोभवेन,
क्रोधेन लोभेन च सम्मदेन।
पराजितानां प्रसभ सुराणां,
वथैव साम्राज्यक्जा परेषाम् ॥२४॥

हे प्रभु! मद, मान, काम, क्रोध, लोभ एव राग से अत्यन्त पराजित अन्य देवो का साम्राज्य - रोग (प्रभुता की व्यथा) सर्वथा व्यर्थ है। (२५)

स्वकण्ठपीठे कठिनं कुठारं,
परे किरन्तः प्रलपन्तु किंचित्।
मनीषिणां तु त्विय वीतराग !
न रागमात्रेण मनोऽनुरक्तम् ॥२६॥

वादी लोग अपने गले में तीक्ष्ण कुल्हाडी का प्रहार करते हुए कुछ भी कहे, परन्तु हे वीतराग ! बुद्धिमानो का चित्त आपके प्रति केवल राग से ही अनुरक्त हो, ऐसी बात नहीं है। (२६) सुनिश्चित मत्सरिर्गो जनस्य, न नाथ[ा] मुद्रामितशेरते ते । माष्यस्थ्यमास्थाय परीक्षका ये, मणौ च काचे च समानुबन्धाः ॥२७॥

हे नाय । जा परोक्षक मध्यस्यता धारण करके काच और मिए में समान भाव रखते हं वे भी, मत्मरी-मनुष्यों की मुद्रा का अतिक्रमण नहीं करते, यह सुनिश्चित है। (२७)

इमा समक्ष प्रतिपक्षसाक्षिणा—

मुदारघोषामवघोषणा बुवे ।
न वीतरागात्परमस्ति देवत,
न चाप्यनेकान्तमृते नयस्थिति ।।२८।।

में प्रतिपक्षी व्यक्तियों के समक्ष यह उदार घोषणा करता हूँ कि वीतराग भगवान के श्रतिरिक्त श्रन्य कोई परम देव नहीं है ग्रीर वस्तु का निरूपण करने के लिए श्रनेकान्तवाद के श्रतिरिक्त श्रन्य कोई नीति-मार्ग नहीं है। (२८)

> न श्रद्धयंव स्विय पक्षपातो, न द्वेषमात्रादरुचि परेषु । यथावदाष्तत्वपरीक्षया तु, स्वामेव बोर प्रभुमाश्रिताः स्मः ॥२६॥

हे बीर । केवल श्रद्धा के कारण हमारा ग्रापके प्रति पक्षपात नहीं है, भीर केवल द्वेष के कारण हमें भ्रन्य देवों के प्रति शत्रुता नहीं है, किन्तु भ्राप्तपन की यनार्थ रूप से परीक्षा करके ही हमने ग्रापका ग्राश्रय लिया है। (२६)

तम स्पृशामप्रतिभासभान,
भवन्तमण्याशु विविन्दते याः ।
महेम चन्द्राशुदृशावदाता—
स्तास्तर्कपुण्या जगदीश वावः ॥३०॥

हे अगरीत । बतान स्वी अधकार में नटकने वाले पुरुषे जो जो आएं। धाप धरोजर हो बनाती है, उन चन्द्रमा को किरणों के नमान स्वरुष्ठ एवं तर्व से पत्रिन श्रापती वाणी की हम पूजा करते हैं। (३०) यत्र तत्र समये यथा तथा,
योऽसि सोऽस्यभिघया यया तया।
वीतदोषकलुषः स चेद्भवानेक एव भगवन्नमोऽस्तु ते।।३१॥

हे भगवन् ! जिस किसी शास्त्र मे, जिस किसी प्रकार से ग्रौर जिस किसी नाम से राग-द्वेप रहित देव का वर्णन किया गया हे वह ग्राप एक ही हैं। ग्रत. ग्रापको हमारा नमस्कार है। (३१)

[उपसंहारकाव्यम्]

इद श्रद्धामात्रं तदथ परिनन्दा मृदुधियो, विगाहन्तां हन्त ! प्रकृतिपरवादव्यसिननः । ग्ररक्तद्विष्टानां जिनवर ! परीक्षाक्षमिधया— मय तत्त्वालोकः स्तुतिमयमुपाधि विधृतवान् ॥३२॥

चाहे मृदु बुद्धि वाले मनुष्य इस स्तोत्र को श्रद्धा से रचित समभे ग्रौर स्वभाव से ही पर-निन्दा के व्यसनी वादी पृष्ष चाहे इसे ग्रन्य देवों की निन्दा के लिये रचित माने, परन्तु हे जिनवर । परीक्षा करने मे समर्थ बुद्धि वाले एव राग-द्वेप से रहित पुष्पों को तत्त्वों को प्रकट करने वाला यह स्तोत्र स्तुति स्वरूप एवं धर्म चिन्तन में कारण स्वरूप है। (३२)



कलिकालसर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्राचार्य रचित

* अन्ययोगट्यवच्छेद-द्वात्रिंशिका *

श्चनन्तविज्ञानमतीतदोष
मबाध्यसिद्धान्तममर्त्यपूज्यम् ।
श्रीवर्धमान जिनमाप्तमुख्य,

स्वयम्भुव स्तोतुमह यतिष्ये ।।१।।

श्रनन्त ज्ञानी, दोष रिहत, श्रबाध्य सिद्धान्तो से युक्त, देवताश्रो द्वारा पूजनीय, यथार्थ वक्ताश्रो मे प्रधान एव स्वयभू श्री वर्धमान स्वामी की स्तुति करने का मैं प्रयत्न करू गा (१)

म्रय जनो नाथ ! तव स्तवाय,
गुणान्तरेभ्यः स्पृहयालुरेव ।
विगाहता किन्तु यथार्थवादमेक परोक्षाविधिदुविदग्धः ।।२।।

हे नाथ । परीक्षा करने में स्वय को पण्डित मानने वाला मैं आपके अन्य गुर्गो के प्रति श्रद्धालु होते हुए भी आपके स्तवन के लिये आपके यथार्थवाद नामक गुर्ग का अवगाहन करता हूँ। (२)

गुणेब्बसूया दघतः परेऽमी,
मा शिश्रियन्नाम भवन्तमीशम्।
तथापि सम्मील्य विलोचनानि,
विचारयन्ता नयवर्त्म सत्यम् ॥३॥

हे नाथ । यद्यपि स्रापके गुर्गा की ईर्ष्या करने वाले स्रन्य मनुष्य स्रापको स्वामी नही मानते, फिर भी वे सत्य न्याय मार्ग का नेत्रोन्मीलन करके विचार करें। (३) स्वतोऽनुवृत्तिव्यतिवृत्तिभाजो, भावा न भावान्तरनेयरूपाः । परात्मतत्त्वादतथात्मतत्त्वाद्, द्वय वदन्तोऽकुशलाः स्खलन्ति ।।४।।

पदार्थ स्वभाव से ही सामान्य एव विशेष रूप है। उनमें सामान्य विशेष की प्रतीति कराने के लिये पदार्थान्तर मानने की ग्रावश्यकता नहीं है। जो ग्रकुशलवादी पररूप एव मिथ्यारूप, सामान्य विशेष को पदार्थ से भिन्न रूप में बताते है वे न्याय-मार्ग से च्युत होते है। (४)

> श्रादीपमाव्योम समस्वभावं, स्याद्वादमुद्रानितभेदि वस्तु । तन्नित्यमेवैकमनित्यमन्य-दिति त्वदाज्ञाद्विषता प्रलापाः ॥५॥

दीपक से लगा कर आकाश तक समस्त पदार्थ नित्य स्रिनत्य स्वभाव युक्त है, क्यों कि कोई भी पदार्थ स्याद्वाद की मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता। ऐसी वस्तु-स्थिति में भी स्रापके विरोधी, दीपक स्रादि को सर्वथा स्रिनत्य एव स्राकाश स्रादि को सर्वथा नित्य मानते है, जो प्रलाप स्वरूप है। (५)

कत्तास्ति कश्चिद् जगतः स चैकः, स सर्वगः स स्ववशः स नित्यः। इमाः कुहेवाकविडम्बना स्यु-स्तेषां न येषामनुशासकस्त्वम् ॥४॥

हे नाथ ! जगत का कोई कत्ता है, वह एक है, वह सर्वव्यापी है, वह स्वतन्त्र है ग्रौर वह नित्य है । ये दुराग्रहपूर्ण विडम्बनाएँ उन्ही के लगी हुई हैं, जिनके ग्राप ग्रनुशासक नहीं है । (६)

> न धर्मधर्मित्वमतीवमेदे, वृत्त्यास्ति चेन्न त्रितयं चकास्ति । इहेदमित्यस्ति मतिश्च वृत्तौ, न गौणभेदोऽपि च लोकबाधः ॥७॥

धर्म एव धर्मी को सर्वथा भिन्न मानने से उनका सम्बन्ध नहीं हो सकता। यदि कोई कहे कि समवाय सम्बन्ध से परस्पर भिन्न धर्म एव धर्मी का सम्बन्ध होता है तो यह अनुचित है, क्योंकि जिस प्रकार धर्म और धर्मी इस लोक में छल, जाति एव निग्रह-स्थान का उपदेश देकर दूसरो के निर्दोष हेतुग्रो का खण्डन करने का उपदेश देने वाले गौतम मुनि को भी विरक्त एव कारुगािक माना जाता है। (१०)

> न धर्महेर्जुविहितापि हिसा, नोत्सृष्टमन्यार्थमपोद्यते च । स्वपुत्रघातान्नृपतित्विलप्सा— सब्रह्मचारिस्फुरित परेषाम् ।।११॥

वेद-विहित हिसा धर्म का कारण नही है। ग्रन्य ग्रर्थ के लिए वताया गया उत्सर्ग ग्रन्य ग्रर्थ के लिए ग्रपवाद नही वन सकता। फिर भी ग्रन्य लोगो का उस प्रकार मानना, ग्रपने पुत्र का वध करके राजा वनने की इच्छा के समान है। (११)

> स्वार्थावबोधक्षम एव बोधः, प्रकाशते नार्थकथान्यथा तु । परे परेभ्यो भयतस्तथापि, प्रपेदिरे ज्ञानमनात्मनिष्ठम् ॥१२॥

ज्ञान स्वय को श्रीर श्रन्य पदार्थों को भी जान सकता है, श्रन्यथा किसी भी पदार्थ का ज्ञान नहीं हो सकता, फिर भी श्रन्य वादियों के भय से श्रन्य मतावलिम्बयों ने ज्ञान को श्रनात्म-निष्ठ-स्वसवेदन रहित स्वीकार किया है। (१२)

माया सती चेद् द्वयतत्त्वसिद्धि—
रथासती हन्त कुतः प्रपंच ।
मायेव चेदर्थसहा च तिंक,
माता च वन्ध्या च भवत्परेषाम् ॥१३॥

यदि माया सत् रूप है तो ब्रह्म एव माया दोनो पदार्थों की सिद्धि होती है—अद्वैत की सिद्धि नहीं हो सकती। यदि माया असत् है तो तीन लोकों के पदार्थों की उत्पत्ति नहीं हो सकती। यदि यह कहें कि माया है और अर्थ किया भी करती है, तो एक ही स्त्री माता है और वन्ध्या (बाँभ) भी है, क्या आपके विरोधियों का कथन इस प्रकार का सिद्ध नहीं होता ? (१३)

श्रनेकमेकात्मकमेव वाच्यं, द्वयात्मक वाचकमप्यवश्यम् ।

श्रतोऽन्यथा वाचकवाच्यक्लृप्ता— वतावकाना प्रतिभाप्रमादः ॥१४॥

जिस प्रकार समस्त पदार्थ अनेक होते हुए भी एक है, उसी प्रकार से उन पदार्थों को बताने वाले शब्द भी द्वयात्मक-एक एव अनेक स्वरूप हैं। श्रापके सिद्धान्त को नहीं मानने वाले और वाच्य एव वाचक सम्बन्धी उससे विपरीत कल्पना करने वाले प्रतिवादी बुद्धि में प्रमाद भाव धारएा करने

वाले हैं। (१४)

चिदर्थशून्या च जहा च बुद्धिः, शब्दादितन्मात्रजमम्बरादि ।

न बन्धमोक्षौ पुरुषस्य चेति,

कियज्जहैर्न ग्रथित निरोधि ॥१४॥

चेतना स्वय पदार्थों को नही जानती। बुद्धि जड स्वरूप है। शब्द से आकाश, गध से पृथ्वी, रस से जल, रूप से अग्नि और स्पर्श से वायु उत्पन्न होती है तथा बध अथवा मोक्ष पुरुष को नही होता, ऐसी कितनी विपरीत कल्पना जड मनुष्यों ने नहीं की ? (१५)

न तुल्यकालः फलहेतुभावो,

हेतौ विलीने न फलस्य भाव ।

न सविदद्वे तपथेऽर्थसविद्, विलूनशोर्गं सुगतेन्द्रजालम् ॥१६॥

कार्य एव कारण दोनो साथ नही रह सकते। कारण का नाश होने पर भी फल की उत्पत्ति नहीं हो सकती। जगत् को यदि विज्ञान स्वरूप माना जाये तो पदार्थों का ज्ञान नहीं हो सकता। इस प्रकार बुद्ध का इन्द्रजाल भी विलीन हो जाता है। (१६)

विना प्रमारा परवन्न शून्यः,

स्वपक्षसिद्धेः पदमश्नुवीत । कुप्येत्कृतान्तः स्पृशते प्रमारा–

महो सुदूष्ट त्ववसूचिद्ष्टम् ॥१७॥

शून्यवादी प्रमाण के बिना अन्यवादियो की तरह अपना मत सिद्ध नहीं कर सकता। यदि वह किसी प्रमाण को माने तो स्वय द्वारा मान्य

जिन भक्ति]

45

शून्यता का सिद्धान्त, कृतान्त की तरह कुिंपत होता है। हे भगवन् ! ग्रापके मत के ईर्षालु मनुष्यों ने कुमित ज्ञान रूपी नेत्रों से जो कुछ जाना है, वह मिथ्या होने के कारए। उपहासास्पद है। (१७)

कृतप्रणाशाकृतकर्मभोगभवप्रमोक्षस्मृतिभङ्गदोषान् ।
उपेक्ष्य साक्षात् क्षरणभङ्गमिच्छन्नहो महासाहिसकः परस्ते ।।१८।।

श्रापके प्रतिपक्षी क्षिण्यकवादी, बौद्ध क्षिण्यकवाद को स्वीकार करके श्रकृतकर्म-भोगदोष, कृतप्रणाश-दोष, भव-भग-दोष, मुक्ति-भग-दोष श्रौर स्मरण-भग-दोष श्रादि श्रनुभव सिद्ध दोषों की उपेक्षा करके श्रपना मत स्थापित करने के लिये अत्यन्त साहस करते है, यह सचमुच श्राश्चर्य है। (१८)

सा वासना सा क्षग्रसन्तितश्च, नाभेदभेदानुभयेष्टेते । ततस्तटादिशशकुन्तपोत— न्यायात्त्वदुक्तानि परे श्रयन्तु ।।१६।।

वासना एव क्षरा सन्तित, परस्पर भिन्न, ग्रभिन्न एव ग्रनुभव, इन तीन भेदो मे से किसी भी भेद से सिद्ध नही होती। जिस प्रकार समुद्र में जहाज से उडा पक्षी समुद्र का किनारा नही दिखाई पड़ने से पुन जहाज पर ही ग्रा बैठता है, उसी प्रकार से उपायान्तर नही होने से बौद्ध लोग ग्रन्त मे ग्रापके ही सिद्धान्त का ग्राश्रय लेते है। (१६)

विनानुमानेन पराभिसिन्ध
मसंविदानस्य तु नास्तिकस्य ।

न साम्प्रत वक्तुमिष क्व चेष्टा,

क्व दृष्टमात्रं च हहा ! प्रमादः ॥२०॥

बिना श्रनुमान के श्रन्य व्यक्तियो का श्रभिप्राय नही समभ सकने वाले चार्वाक लोगो को बोलने की चेष्टा करना उचित नही है। कहा चेष्टा श्रीर कहा प्रत्यक्ष ? इन दोनो के मध्य श्रत्यन्त श्रन्तर है। इसे नही समभने वालो का कैसा प्रमाद है ? (२०) प्रतिक्षणोत्पादिवनाशयोगि-स्थिरैकमध्यक्षमपीक्षमागः। जिन ! त्वदाज्ञामवमन्यते यः,

स वातकी नाथ ! पिशाचकी वा ।।२१।।

हे नाथ ¹ प्रत्येक क्षण उत्पन्न होने वाले, नष्ट होने वाले तथा स्थिर रहने वाले पदार्थों को देख कर भी हे जिन ¹ जो लोग भ्रापकी ग्राज्ञा की भ्रवहेलना करते हैं वे वायु भ्रथवा पिशाच से ग्रस्त है। (२१)

ग्रनन्तवर्मात्मकमेव तत्त्वमतोऽन्यथा सत्त्वमसूपपादम्।
इति प्रमागान्यपि ते कुवादिकुरङ्गसत्रासनसिहनादाः ।।२२।।

प्रत्येक पदार्थ मे अनन्त धर्म हैं—यह नही मानने से वस्तु की सिद्धि नहीं हो सकती। इस प्रकार आपके प्रमाण-भूत वाक्य कुवादी रूपी मृगो मे भय (त्रास) उत्पन्न करने के लिये सिंह की गर्जना के समान हैं। (२२)

श्रपर्ययं वस्तु समस्यमान-मद्रव्यमेतच्च विविच्यमानम् । श्रादेशमेदोदितसप्तभङ्गः-

मदीदशस्त्व बुघरूपवेद्यम् ।।२३।।

यदि वस्तु का सामान्यतया कथन किया जाये तो प्रत्येक वस्तु पर्याय रिहत है। यदि वस्तु की विस्तारपूर्वक प्ररूपणा की जाये तो प्रत्येक वस्तु द्रव्य रिहत है। इस प्रकार सकलादेश भीर विकलादेश के भेद से पिडत लोग समक सकें वैसे सात भगो की स्रापने प्ररूपणा की है। (२३)

उपाधिमेदोपहितं विरुद्धः , नार्थेष्वसत्त्वः सदवाच्यते च । इत्यप्रबुष्येव विरोधभीता, जडास्तदेकान्तहताः पतन्ति ॥२४॥

प्रत्येक पदार्थ मे ग्रस्तित्व, नास्तित्व एव ग्रवक्तव्यत्व रूप परस्पर विरुद्ध धर्मों का प्रतिपादन ग्रपेक्षा भेद से विरुद्ध नही है। विरोध से भयभीत बने एकान्तवादी मूर्ख लोग इस सिद्धान्त को नही समभने के कारण ही न्याय-मार्ग से पतित होते हैं। (२४)

स्यान्नाशि नित्यं सदृशं विरूपं, वाच्यं न वाच्य सदसत्तदेव। विपश्चितां नाथ! निपीततत्त्व— सुघोद्गतोद्गारपरम्परेयम् ॥२४॥

हे विद्वान्-शिरोमिशा । प्रत्येक वस्तु किसी अपेक्षा से अनित्य है, किसी अपेक्षा से नित्य है, किसी अपेक्षा से सामान्य है, किसी अपेक्षा से विशेष है, किसी अपेक्षा से वाच्य है, किसी अपेक्षा से अवाच्य है, किसी अपेक्षा से अवाच्य है, किसी अपेक्षा से अत् है । अनेकान्त-तत्व रूपी अमृत के पान से निकली हुई यह उद्गारों की परम्परा है। (२४)

य एव दोषाः किल नित्यवादे, विनाशवादेऽपि समास्त एव । परस्परध्वंसिषु कण्टकेषु, जयत्यधृष्य जिन ! शासनं ते ।।२६।।

वस्तु को सर्वथा नित्य मानने में जो दोष आते है, वे ही दोष सर्वथा अनित्य मानने में भी आते है। जिस प्रकार एक काटा (शूल) दूसरे काटे का नाश करता है, उसी प्रकार से नित्यवादियों और अनित्यवादियों के पारस्परिक दूषणा बता कर एक दूसरे का निराकरणा करने पर भी हे जिन! आपका अधृष्य शासन बिना परिश्रम के विजय प्राप्त करता है। (२६)

नैकान्तवादे सुखदुःखभोगौ,
न पुण्यपापे न च बन्धमोक्षौ।
दुर्नोतिवादव्यसनासिनैव,
परैविलुप्तं जगदप्यशेषम्।।२७।।

एकान्तवाद मे सुख-दुख का उपभोग घट नही सकता और पुण्य-पाप तथा बध-मोक्ष की व्यवस्था भी नही घट सकती। सचमुच, एकान्त-वादी लोगो ने दुर्नयवाद मे ग्रासक्ति रूपी खड़्न से सम्पूर्ण विश्व का नाश किया है। (२७)

सदेव सत् स्यात्सदिति त्रिधार्थो,
मीयेत दुर्नोतिनयप्रमाणैः ।
यथार्थदर्शी तु नयप्रमारणपथेन दुर्नोतिपथं त्वमास्थः ॥२८॥

पदार्थ सर्वदा सत् तथा कथचित् सत् है। इस प्रकार पदार्थों का ज्ञान क्रमण दुर्नय, नय एव प्रमाण मार्ग के द्वारा होता है, किन्तु हे भगवन्। ग्राप यथार्थदर्शी ने नय मार्ग एव प्रमाण मार्ग के द्वारा दुर्नय-वाद का निराकरण किया है। (२८)

मुक्तोऽपि वाम्येतु भव भवो वा, भवस्यशून्योऽस्तु मितात्मवादे ।

षड्जीवकाय त्वमनन्तसख्य-माख्यस्तथा नाथ ! यथा न दोषः ॥२६॥

जो मनुष्य जीवो को अनन्त न मान कर परिमित सख्या मे मानते हैं उनके मतानुसार मुक्त जीवो को पुन ससार मे जन्म धारएा करना चाहिये अथवा यह ससार एक दिन जीव-विहीन हो जाना चाहिये, परन्तु हे भगवन् । आपने छ काय के जीवो को उस प्रकार अनन्त सख्या युक्त प्ररूपित किया है जिससे आपके मत मे उपर्युक्त दोष नहीं आ सकता। (२६)

श्रन्योऽन्यपक्षप्रतिपक्षभावाद्, यथा परे मत्सरिगः प्रवादा । नयानशेषानविशेषमिच्छन्,

न पक्षपाती समयस्तथा ते ॥३०॥

श्रन्य वादी जिस प्रकार परस्पर पक्ष एव प्रतिपक्ष भाव रखने से एक दूसरे के प्रति ईप्यी रखते है, उस प्रकार से समस्त नयो को समान मानने वाले श्रापके शास्त्रों में किसी का भी पक्षपात नहीं है। (३०)

वाग्वेभव ते निखिल विवेक्तुमाशास्महे चेन्महनीयमुख्य !।
लङ्कोम जङ्कालतया समुद्र,
वहेम चन्द्रद्युतिपानतृष्णाम्।।३१।।

हे पूज्य शिरोमिं । श्रापकी वाणी के वैभव का पूर्णरूपेण विवेचन करने की आशा रखना हम जैसो के लिए जघा-बल से समुद्र लाघने की श्राशा करने के समान है अथवा चन्द्रमा की चादनी को पान करने की तृष्णा के समान है। (३१)

(उपसंहारकाव्यम्)

इदं तत्त्वातत्त्वव्यतिकरकरालेऽन्धतमसे,
जगन्मायाकारैरिव हतपरैही विनिहितम्।
तदुद्धर्तुं शक्तो नियतमविसवादिवचन—
स्त्वमेवातस्त्रातस्त्विय कृतसपर्याः कृतिधयः ॥३२॥

इन्द्रजालियों की तरह ग्रंधम पर-दार्शनिकों ने इस जगत को तत्व श्रौर ग्रंतत्व के व्यतिकर मिश्रण से विकराल गहन ग्रन्धकार में डाल दिया है। ग्राप ही इस जगत् का उद्धार करने में समर्थ हैं, क्यों कि ग्रापके वचन विसवाद-रहित है। हे जगत रक्षक । वृद्धिमान मनुष्य इस कारण ग्रापकी ही सेवा करते हैं। (३२)

कलिकालसर्वज्ञ-श्रीहेमचन्द्राचार्यचरग्गकजचञ्चरीक— परमाहैत्-श्रीकुमारपालम् भूपाल रचितम्

🌞 साधारणजिनरतवनम् 🏶

नम्राखिलाखण्डलमौलिरतन
रिश्मच्छटापल्लविताह्मि पीठ ।
विध्वस्तविश्वव्यसनप्रबन्ध ।
जिलोकबन्धो जयताज्जिनेन्द्र ! ।।१।।

समस्त विनीत इन्द्रों के मुकुटो पर विद्यमान रत्नों की किरणों से कान्तिमय बने पाद-पीठ वाले श्रौर जिन्होंने जगत् के दु ख समूह को नष्ट किया है ऐसे तीन लोकों के वन्धु हे जिनेन्द्र । श्रापकी जय हो। (१)

मूढोऽस्म्यह विज्ञपयामि यत्त्वामुपेतरागं भगवन् ! कृतार्थम् ।
न हि प्रभूणामुचितस्वरूपनिरूपणाय क्षमतेऽियवर्ग ।।२।।

हे भगवन् [!] मैं बुद्धिहीन, राग-रहित एव कृतार्थ श्रापको विज्ञप्ति करता हूँ कि सचमुच स्वामी के उचित स्वरूप का निरूपण करने मे सेवक समर्थ नही होता है। (२)

> मुक्ति गतोऽपीश । विशुद्धचित्ते, गुर्गाघिरोपेण ममासि साक्षात् । भानुर्दवीयानपि दर्पर्गेऽशु– सङ्गान्न कि द्योतयते गृहान्तः ? ।।३।।

हे स्वामी । ग्राप मोक्ष में है फिर भी मेरे निर्मल चित्त में ग्रापके गुराों का ग्रारोप करने से ग्राप साक्षात् मेरे समझ है। ग्रत्यन्त दूरस्य सूर्य दर्परा में किरणों के सग से क्या घर के भीतर प्रकाश नहीं फैलाता ? (३) तव स्तवेन क्षयमञ्जभाजां,
भजन्ति जन्माजितपातकानि ।
कियन्चिर चण्डरुचेर्मरीचिस्तोमे तमांसि स्थितिमुद्दहन्ति ? ॥४॥

श्रापके स्तवन से प्राशायों के श्रनेक भवों के सचित पापों का क्षय होता है। सूर्य की किरणों के समक्ष श्रधकार भला कव तक ठहर सकता है ? (४)

> शरण्य । कारुण्यपरः परेषां, निहंसि मोहज्वरमाश्रितानाम् । मम त्वदाज्ञा वहतोऽपि मूध्नां, शान्ति न यात्येष कुतोऽपि हेतोः ? ॥ ॥

हे शरण ग्रहण करने योग्य प्रभु । श्राप दयालु ग्रापके शरगागतो का मोह-ज्वर नष्ट करते हैं, परन्तु ग्रापकी ग्राज्ञा सिरोधार्य करने वाले मेरे इस मोह-ज्वर का, पता नहीं क्यो शमन नहीं होता ? (४)

> भवाटवीलङ्क्षनसार्थवाह, त्वामाश्रितो मुक्तिमह यियासुः । कषायचोरैजिन! लुप्यमान, रत्नत्रयं मे तदुपेक्षसे किम्? ॥६॥

मुक्ति-ग्रभिलाषा मे भव-वन को पार करने मे सार्थवाह तुल्य ग्रापके ग्राश्रय मे हूँ, तो भी हे जिनेश्वर! कषाय रूपी चोरो के द्वारा चुराये जाते मेरे ग्रमूल्य त्रिरत्नो की ग्राप उपेक्षा क्यो करते है ? (६)

लब्धोऽसि स त्वं मयका महात्मा,
भवाम्बुधौ बम्भ्रमता कथञ्चित् ।
श्राः पापिण्डेन नतो न भक्त्या,
न पूजितो नाथ ! न तु स्तुतोऽसि ।।७।।

भव-सागर मे भटकते हुए मुक्ते किसी प्रकार से ग्रत्यन्त ही कठिनाई से श्राप महात्मा मिल पाये हैं, परन्तु मुक्ते खेद तो इस बात का है कि मुक्त पाप-पिण्ड ने भक्ति पूर्वक हे नाथ । न तो ग्रापको नमन किया, न ग्रापकी पूजा-ग्रर्चना की ग्रीर न स्तुति की। (७)

जिन भक्ति

संसारचक्के भ्रमयन् कुबोध
दण्डेन मा कर्ममहाकुलाल ।

करोति दुःखप्रचयस्थ भाण्ड,

तत प्रभो ! रक्ष जगच्छरण्य ! ।।८।।

इस ससार चक्र में कर्म रूपी महान् कुम्भकार कुबोध रूपी डण्डे से घुमाता हुग्रा मुक्ते दुख के समूह का भाजन बनाता है। ग्रत हे प्रभु । हे जगत् के शरराभूत । ग्राप मेरी रक्षा करे। (८)

कदा त्वदाज्ञाकरणाप्ततत्त्वस्त्यक्त्वा ममत्वादि भवेककन्दम् ।
ग्रात्मैकसारो निरपेक्षवृत्तिमॉक्षेऽप्यनिच्छो भवितास्मि नाथ ! ।।६।।

हे नाथ । श्रापकी आज्ञा का पालन करने से मुक्ते तत्त्व प्राप्त होने के कारण मैं इस ससार का मूल कारण स्वरूप ममता आदि का त्याग करके, आत्मा को ही तत्त्व मान कर ससार मे निरपेक्ष व्यवहार युक्त तथा मोक्ष की भी इच्छा से रहित कब बनू गा ? (१)

तव त्रियामापितकान्तिकान्तै—

र्गु गौनियम्यात्ममन प्लवङ्गम् ।

कदा त्वदाज्ञाऽमृतपानलोल ,

स्वामिन् । परब्रह्मर्रातं करिष्ये ? ।।१०।।

हे स्वामी । आपके चन्द्रमा की चाँदनी (कान्ति) के समान मनोहर गुए रूपी डोरी के द्वारा मेरे मन रूपी वन्दर को वाँध कर आपकी आज्ञा रूपी अमृत के पान में लीन बना मैं कब आत्म-स्वरूप मे आनन्द-मग्न होऊँगा ? (१०)

एतावतीं भूमिमह त्वदिहपद्मप्रसादाद् गतवानघोशम् ।
हठेन पापास्तदिष स्मराद्या,
ही मामकार्येषु नियोजयन्ति ॥११॥

हे स्वामी । ग्रापके चरण-कमलो की कृपा से मैंने इतना उच्च स्थान प्राप्त किया है, फिर भी खेद की बात यह है कि बलात्कार पूर्वक काम- विकार म्रादि पाप कर्म मुक्ते म्रकरणीय प्रवृत्तियो में म्रत्यन्त लगा देते हैं। (११)

भद्र न कि त्वय्यपि नाथनाथे, सम्भान्यते मे यदिष स्मराद्याः । श्रपाक्रियन्ते शुभभावनाभिः, पृष्ठि न मुञ्चित्ति तथापि पापाः ।।१२॥

श्रापके तुल्य स्वामी के होने से मेरे लिए समस्त कल्याएा सभव हैं। यद्यपि शुभ भावनाश्रो के द्वारा काम-विकार श्रादि शत्रु दूर हटाये जाते है, फिर भी वे पापी मेरा श्रांचल नहीं छोडते। (१२)

> भवाम्बुराशौ भ्रमतः कदापि, मन्ये न मे लोचनगोचरोऽभूः । निस्सीमसोमन्तकनारकादि-दुःखातिथित्व कथमन्यथेश[।] ।।१३।।

हे ईश ! मैं यह मानता हूँ कि भव-सागर मे परिभ्रमण करते मुभे ग्रापके दर्शन कदापि नहीं हुए, ग्रन्यथा ग्रसीम दु खो की खान स्वरूप सीमतक नारकीय दुःखो ग्रादि का भोक्ता मैं कैसे होता ? (१३)

> चक्रासिचापाड्कुशवज्त्रमुख्येः, सल्लक्षणैलंक्षितमह्नियुग्मम् । नाथ ! त्वदीय शरण गतोऽस्मि, दुर्वारमोहादिविपक्षभीतः ।।१४॥

हे नाथ । दुख से निवारण किए जा सके ऐसे मोह आदि शत्रुओ से भयभीत बना मैं चक्र, तलवार, धनुष, वज्र आदि प्रमुख शुभ लक्षरणों से अलकृत आपके चरण-युगलों की शरण में आया हुआ हूँ। (१४)

श्रगण्यकारुण्य ! शरण्य ! पुण्य ! सर्वज्ञ ! निष्कण्टक ! विश्वनाथ ! दीनं हताशं शरणागत च, मां रक्ष रक्ष स्मरिभल्लभल्लैः ॥ १४॥

हे अगिरात करुगानिधान । हे शरण छेने योग्य । हे पिवत्र ! हे सर्वज्ञ । हे निष्कण्टक । हे जगन्नाथ । मुक्त दीन, हताश, एव शरणागत की काम-देव रूपी भील के भालों से रक्षा करों, रक्षा करों। (१५)

स्वया विना दुष्कृतचक्रवालं, नान्यः क्षय नेतुमल ममेश ! को वा विपक्षप्रतिचक्रमूल, चक्र विना छेत्तुमल भविष्णु ? ।।१६॥

हे स्वामी । श्रापके ग्रतिरिक्त मेरे पाप-समूह को क्षय करने मे ग्रन्य कौन समर्थं है ? ग्रथवा शत्रु-सेना का मूलोच्छेदन करने के लिए चक्र के ग्रतिरिक्त कौन समर्थ हो सकता है ? (१६)

> यद् देवदेवोऽसि महेश्वरोऽसि, बुद्धोऽसि विश्वत्रयनायकोऽसि । तेनान्तरङ्गारिगगाभिभूत-स्तवाग्रतो रोदिमि हा सखेदम् ।।१७।।

जिन कारणो के लिए ग्राप देवाधिदेव हैं, महेश्वर है, बुद्ध हैं, तीनो लोको के नायक हैं ग्रीर मैं ग्रन्तरग शत्रुग्रो से पराजित हो चुका हूँ, इस कारण ग्रापके समक्ष मैं खेद सहित रुदन करता हूँ। (१७)

> स्वामिन्नधर्मन्यसनानि हित्वा, मनः समाधौ निदधामि यावत् । तावत्क्रुधेवान्तरवैरिणो मा-मनल्पमोहान्ध्यवश नयन्ति ।।१८।।

हे स्वामी । जब तक ग्रधमों एव व्यसनो का परित्याग करके मैं ग्रपने मन को समाधि मे स्थापित करता हूँ उतने मे तो कोध से ही मानो मेरे श्रन्तरग शत्रु मुक्ते मोहान्ध कर देते है। (१८)

त्वदागमाद्विद्धि सदैव देव!
मोहादयो यन्मम वैरिग्गोऽमी।
तथापि मूढस्य पराप्तबृद्ध्या,
तत्सिन्निघौहीन किमप्यकृत्यम्।।१९।।

हे देव । श्रापके ग्रागमो के द्वारा में सदा मोह ग्रादि को ग्रपना शत्रु समभता हूँ, परन्तु मुक्त मूर्ख को शत्रु मे उत्कृष्ट विश्वास हुग्रा है, जिससे मोह ग्रादि के समीप रह कर मुक्त से कौनसा कुकृत्य नही होगा ? ग्रर्थात् मोह ग्रादि के कारण पुद्गल मे विश्वास ग्रथवा पुद्गल मे ग्रपनत्व की भावना से मूढ बने मेरे लिए कोई भो कार्य अकरणीय नही रहा, यह खेद की बात है। (१६)

म्लेच्छैर्नृ शसैरतिराक्षसैश्च, विडम्बितोऽमीभिरनेकशोऽहम् । प्राप्तस्त्विदानीं भुवनैकवीर ! त्रायस्व मा यत्तव पादलीनम् ।।२०।।

म्लेच्छ, निर्देयी तथा राक्षसो को भी मात करने वाले इन काम-कोध ग्रादि के द्वारा मैं ग्रनेक बार दुख प्राप्त कर चुका हूँ। हे लोक मे वीर परमात्मा ! ग्रब मैंने ग्रापको प्राप्त किया है। मैं ग्रापके चरणो मे लीन हूँ। ग्राप मेरी रक्षा करे। (२०)

> हित्वा स्वदेहेऽपि ममत्वबुद्धि, श्रद्धापवित्रीकृतसद्धिवेकः । मुक्तान्यसङ्गः समशत्रुमित्रः, स्वामिन् । कदा सयममातिन्ध्ये ।।२१।।

हे स्वामी । ग्रपने देह के प्रति भी ममत्व का त्याग करके, श्रद्धा सिहत पिवत्र ग्रन्तः करण युक्त होकर, हृदय मे शुद्ध विवेक-हेय ग्रादि का विभाग करके, ग्रन्य सभी की सगित का परित्याग करके तथा शत्रु एव मित्र को समान समक्त कर मैं कब सयम ग्रहण कर सकूँगा ? (२१)

त्वमेव देवो मम वीतराग!

धर्मो भवद्दशितधर्म एव ।

इति स्वरूपं परिभाव्य तस्मान्,

नोपेक्षणीयो भवति स्वभृत्यः ॥२२॥

हे वीतराग ! ग्राप ही मेरे देव है श्रीर ग्राप द्वारा प्ररूपित धर्म ही मेरा धर्म है। इस प्रकार मेरे स्वरूप का विचार करके ग्रापको मुक्त सेवक की ऐसी उपेक्षा करना उचित नहीं है। (२२)

जिता जिताशेषसुरासुराद्याः,
कामादयः कामममी त्वयेश !
त्वां प्रत्यशक्तास्तव सेवकं तु,
निघ्नन्ति ही मां पहषं हवैव ॥२३॥

हे ईशा । ये काम भ्रादि, समस्त देव-दानवो के विजेता हैं। इन्हें भ्रापने सर्वथा जीत लिया है, परन्तु भ्रापको जीतने मे भ्रसमर्थ वे काम भ्रादि मानो क्रोध से ही मुक्त सेवक का निर्दयता से सहार करते हैं, यह खेद की वात है। (२३)

सामर्थ्यमेतद् भवतोऽस्ति सिद्धिः, सत्त्वानशेषानिप नेतुमीशः ! क्रियाविहीन भवदिह्नलीन दीन न कि रक्षसि मा शरण्य ॥२४॥

है ईश । समस्त प्राणियों को मुक्ति में ले जाने का आपका सामर्थ्य है, तो फिर मुक्त क्रियाविहीन, दीन एव आपके चरणों में लीन को आप क्यों नहीं बचाते ? (२४)

त्वत्पादपद्मद्वितय जिनेन्द्र!
स्फुरत्यजस्र हृदि यस्य पु स ।
विश्वजयो श्रोरपि नूनमेति,
तत्राश्रयार्थं सहचारिणीव ।।२४॥

हे जिनेन्द्र । जिस पुरुष के ग्रन्त करएा मे ग्रापके चरएा-कमल-युगल सदा स्फुरायमान हैं, वहाँ निश्चय ही तीनो लोको की लक्ष्मी सहचारिएा। की तरह ग्राश्रय ग्रहएा करने के लिए ग्राती है। (२४)

> श्रह प्रभो ! निर्गु ग्राचक्रवर्ती, क्रूरो दुरात्मा हतकः सपाप्मा । हो दुःखराशो भववारिराशो, यस्मान्तिमग्नोऽस्मि भवद्विमुक्तः ॥२६॥

हे प्रभो [।] मैं निर्गु िएयो मे चक्रवर्ती हूँ, कूर हूँ, दुरात्मा हूँ, हिंसक हूँ श्रौर पापी हूँ, जिस कारएा से मैं श्रापसे श्रलग होकर दुख की खान तुल्य भव-सागर मे डूव गया हूँ, यह खेद की बात है। (२६)

> स्वामिन्निमग्नोऽस्मि सुघासमुद्रे, यन्नेत्रपात्रातिथिरद्य मेऽसू । चिन्तामगो स्फूर्जति पागिपद्मे, पुंसामसाध्यो न हि कश्चिदर्थ ।।२७।।

न्यायाचार्य-न्यायविज्ञारद-महोपाध्याय श्रीयशोविजय-रचिता

🕸 परमज्योतिः पञ्चविंशतिका 🕸

ऐन्द्र तत्परम ज्योतिरुपाधिरहित स्तुम । उदिते स्युर्यदशेऽपि, सन्निधौ निधयो नव ॥१॥

कर्म-उपाधि-रहित श्रात्मा के सम्बन्ध में हम उस परम ज्योति की स्तुति करते हैं जिसके श्रश मात्र के उदय से नौ निधियाँ प्रकट होती है। (१)

> प्रभा चन्द्राऽकभादीना, मितक्षेत्रप्रकाशिका। स्रात्मानस्तु पर ज्योति –लोंकालोकप्रकाशम्।।२।।

चाद, सूर्य एव नक्षत्रो श्रादि की प्रभा सीमित क्षेत्र को प्रकाशित करने वाली है, जबिक श्रात्मा की परम ज्योति लोक-ग्रलोक को प्रकाशित करने वाली है। (२)

> निरालम्बं निराकारं, निर्विकल्प निरामयम्। श्रात्मनः परम ज्योति, —निरुपाधि-निरंजनम्।।३।।

श्रात्मा की परम ज्योति श्रालम्बन रहित, श्राकार रहित, विकल्प रहित, रोग रहित, उपाधि रहित एव मल रहित है। (३)

> दीपादिपुद्गलापेक्ष, समल ज्योतिरक्षजम्। निर्मल केवलं ज्योति –िनरपेक्षमतोन्द्रियम्।।४।।

इन्द्रियो से उत्पन्न ज्योति दीपक म्रादि पुद्गलो की म्रपेक्षा रखने वाली म्रौर मल युक्त है। म्रतीन्द्रिय केवल ज्योति निरपेक्ष एव निर्मल है। (४)

कर्मनोकर्मभावेषु, जागरूकेव्विप प्रभुः। तमसानावृतः साक्षी, स्फुरति ज्योतिषा स्वयम् ॥४॥

जागरूक कर्म तथा नोकर्म जनित भावो के सम्बन्ध मे ग्रज्ञान-ग्रधकार से ग्रनावृत्त स्वय साक्षी स्वरूप प्रभु ग्रात्म-ज्योति के द्वारा स्फ्रायमान होता है। (५)

परमज्योतिषः स्पर्शादपरं ज्योतिरेषते। यथा सूर्यकरस्पर्शात्, सूर्यकान्तस्थितोऽनलः।।६।।

सूर्य की किरणों के स्पर्श से सूर्यकान्तमिण में निहित अग्नि की जिस प्रकार वृद्धि होती है, उसी प्रकार से परम ज्योति के स्वर्श से अपरम ज्योति की वृद्धि होती है। (६)

पश्यन्नपरम ज्योतिर्विवेकाद्रेः पतत्यधः। परम ज्योतिरन्विच्छन्नाऽविवेके निमज्जति ॥७॥

ग्रगरम ज्योति का दर्शक विवेक रूपी पर्वत से नीचे गिरता है, परम ज्योति का ग्रभिलाषी अविवेक मे नहीं डूबता। (७)

तस्मै विश्वप्रकाशाय, परमज्योतिषे नमः। केवलं नैव तमसः, प्रकाशादिष यत्परम्।।८।।

विश्व का प्रकाश करने वाली उस परम ज्योति को नमस्कार है कि जो केवल अधकार से ही परे नहीं है, किन्तु प्रकाश से भी परे है। (८)

ज्ञानदर्शनसम्यक्त्व -चारित्रसुखवीर्यभूः। परमात्मप्रकाशो मे, सर्वोत्तमकलामयः।।६।।

ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त्व, चारित्र, सुख ग्रौर वीर्य की भूमि तुल्य मेरा परमात्म प्रकाश सर्वोत्तम कलामय है। (१)

या विना निष्फलाः सर्वाः, कला गुणबलाधिका । स्रात्मधामकलामेका, ता वयं समुपास्महे ॥१०॥

गुरा एव वल से अधिक समस्त कलाये जिसके विना निष्फल हैं, उस आत्म-ज्योति स्वरूप एक ही कला की हम उपासना करते है। (१०)

जिन भक्ति]

निधिभिर्नवभीरत्ने –श्चतुर्दशभिरप्यहो। न तेजश्चक्रिणां यत्स्यात्, तदात्माधीनमेवहि ।।११।।

श्रहो ! नौ निधियाँ एव चौदह रत्नो से भी चक्रवित्तयो को जिस तेज की प्राप्ति नही होती, वह तेज परम ज्योति के प्रकाश को प्राप्त हमारी स्रात्मा के श्रधीन है। (११)

> दम्भपर्वतदम्भोलि, ज्ञानध्यानघनाः सदा। मुनयो वासवेभ्योऽपि, विशिष्ट धाम बिभ्रति ॥१२॥

दम्भ रूपी पर्वत को तोडने के लिये वज्र तुल्य, ज्ञान तथा ध्यान रूपी धन वाले मुनि इन्द्रों से भी ग्रधिक तेज को धारण करते है। (१२)

> श्रामण्ये वर्षपर्यायात्, प्राप्ते परमशुक्तताम् । सर्वार्थसिद्धदेवेभ्योऽप्यधिकं ज्योतिक्ल्लसेत् ॥१३॥

एक वर्ष के श्रमण पर्याय के द्वारा परम शुक्लता को प्राप्त मुनिवरों को सर्वार्थसिद्ध विमान के देवों से भी ग्रधिक ज्योति उल्लसित होती है। (१३)

> विस्तारिपरमज्योति, –र्द्घोतिताभ्यन्तराशयाः । जीवन्मुक्ता महात्मानो, जायन्ते विगतस्पृहाः ।।१४।।

विस्तार युक्त परम ज्योति से प्रकाशित ग्रन्तरात्मा वाले जीवन-मुक्त महात्मा समस्त प्रकार की स्पृहा से रहित होते है। (१४)

> जाग्रत्यात्मिनि ते नित्य, बहिर्भाविषु शेरते। उदासते परद्रव्ये, लीयन्ते स्वगुर्गामृते॥१४॥

वे श्रात्म-भाव के विषय में सदा जाग्रत रहते हैं, बाह्य भावों में निरन्तर सोये हुए रहते हैं, पर द्रव्यों के विषय में उदासीन रहते हैं श्रौर स्वगुरा रूपी श्रमृत-पान के विषय में तल्लीन रहते हैं। (१४)

यथैवाभ्युदितः सूर्यः , पिदघाति महान्तरम् । चारित्रापरमज्योति, –द्यौतितात्मा तथा मुनिः ॥१६॥

उदित भानु जिस प्रकार घोर ग्रधकार का नाश करता है, उसी

१ न

प्रकार से चारित्र रूपी परम ज्योति से प्रकाशित ग्रात्मा वाले मुनिगरा ग्रज्ञानान्यकार को नष्ट कर डालते हैं। (१६)

प्रच्छन्न परम ज्योति - रात्मनोऽज्ञानभस्मना । क्षायादाविभवत्युग्र - ध्यानवातप्रचारतः ॥१७॥

ग्रात्मा की परम ज्योति ग्रज्ञान रूपी भस्म से ग्राच्छादित है। उग घ्यान रूपी वायु के प्रचार से क्षरण भर मे उसका ग्राविर्भाव होता है। (१७)

परकीय प्रवृत्तौ ये, मूकान्धविधरोपमाः। स्वगुर्णार्जन⁹-सज्जास्तै , परम ज्योतिराप्यते ।।१८।।

जो परकीय प्रवृत्ति मे मूक, श्रन्ध श्रौर बिधर की उपमा से युक्त हैं तथा स्वगुण के उपार्जन मे सज्ज हैं, वे परम ज्योति को प्राप्त करते हैं। (१८)

परेषा गुणदोषेषु, दृष्टिस्ते विषदायिनी। स्वगुणानुभवालोकाद्, दृष्टिः पीयूषवर्षिणी।।१६।।

दूसरो के गुएा दोषो पर रही हुई तेरी दृष्टि विष की वृष्टि करने वाली है। स्वगुण का अनुभव करने के प्रकाश युक्त दृष्टि अमृत की वृष्टि करने वाली है। (१६)

> स्वरूपादर्शन^२ श्लाघ्य, पररूपेक्षण वृथा। एतावदेव विज्ञानं, परज्योतिः प्रकाशकम् ॥२०॥

स्वरूप का दर्शन क्लाघनीय है, पर रूप का ईक्षगा वृथा है, इतना ही विज्ञान परम ज्योति का प्रकाशक है। (२०)

स्तोकमप्यात्मनो ज्योति , पश्यतो दीपवद्वितम् । श्रन्घस्य दीपशतवत्, परज्योतिर्न बह्वपि ॥२१॥

तिनक आरम-ज्योति भी दृष्टि युक्त को दीपक की तरह हितकर है। अने के लिये एक सौ दीपको की तरह अधिक ज्योति भी दूसरों के लिये हितकार नहीं है। (२१)

ਗਿਰ ਪੁਲਿਸ਼ 1

१ सज्जाश्च ते पर। २ स्वरूपादशन।

समताऽमृतमग्नानां, समाधिधूतपाप्मना । रत्नत्रयमयं शुद्धं, पर ज्योतिः प्रकाशते ॥२२॥

समता रूपी अमृत मे निमग्न एव समाधिपूर्वक पाप-कर्मों के नाशक महात्माओं को रत्नत्रयमय शुद्ध परम ज्योति प्रकाशमय करती है। (२२)

> तीर्थंकरा गराधरा, लिब्बसिद्धाश्च साघवः । संजातास्त्रिजगद्दन्द्याः, परं ज्योतिष्प्रकाशतः ॥२३॥

तीर्थंकर, गराधर एव लिब्ध-सिद्ध साधु पुरुष परम ज्योति के प्रकाश से त्रिलोक-वदनीय हुए है। (२३)

> न रागं नापि च होष, विषयेषु यदा वजेत्। श्रौदासीन्यनिमग्नात्मा, तदाप्नोति परं महः।।२४॥

उदासीन भाव मे निमग्न ग्रात्माये जव विषयो मे राग ग्रथवा द्वेष नहीं करती, तब वे परम ज्योति को प्राप्त करती है। (२४)

> विज्ञाय परमज्योति - मीहात्म्यमिदमुत्तमम् । यः स्थैर्यं याति लभते, स यशोविजयश्रियम् ॥२४॥

परम ज्योति का यह उत्तम माहात्म्य समभ कर जो स्थिरता प्राप्त करते है, वे यश एव विजय को लक्ष्मी प्राप्त करते है, ग्रथवा श्रीयशोविजय की लक्ष्मी को प्राप्त करते है। (२५)

न्यायाचार्य-न्यायविशारद-महोपाध्याय श्रीयशोविजय रचिता

* परमात्म-पत्र्चविंशतिका *

परमात्मा परम्ज्योतिः , परमेष्ठी निरञ्जनः । ग्रजः सनातनः शुभः , स्वयम्भूजयताज्जिनः ॥१॥

परमात्मा, परज्योति, परमेष्ठी, निरजन, भ्रज, सनातन, शभु एव स्वयभू श्री जिनेश्वर प्रभु की जय हो। (१)

> नित्य विज्ञानमानन्दं, ब्रह्म यत्र प्रतिष्ठितम् । शुद्धवुद्धस्वभावाय, नमस्तस्मे परात्मने ॥२॥

जहाँ निरन्तर विज्ञान, श्रानन्द श्रीर ब्रह्म प्रतिष्ठित है, उन शुद्ध बुद्ध स्वभावी परमात्मा को नमस्कार हो। (२)

श्रविद्याजनितैः सर्वे -विकारैरनुपद्भतः। व्यक्तया शिवपदस्योऽसी, शक्त्या जयति सर्वगः।।३।।

जो श्रज्ञान-जित समस्त प्रकार के विकारों से श्रनुपद्रुत हैं, व्यक्ति के द्वारा शिव-पद में विद्यमान हैं श्रीर शक्ति के द्वारा सर्वत्र व्यापक हैं। (३)

यतो वाचो निवर्तन्ते, न यत्र मनसो गतिः । शुद्धानुभवसवेद्य, तद्रूप परमात्मनः ॥४॥

जहाँ से वाणी लौट ग्राती है श्रौर जहाँ से मन की गित नहीं होती; केवल शुद्ध श्रनुभव से ही ज्ञात हो सकने वाला परमात्मा का स्वरूप है। (४)

> न स्पर्शो यस्य नो वर्णो, न गन्धो न रसश्युतिः । शुद्धचित्मात्रगुणवान्, परमात्मा स गीयते ॥४॥

जिनके स्पर्श नही है, वर्गा नही है, गद्य नही है, रस नही है तथा शब्द नही है श्रीर जो केवल शुद्ध ज्ञान-गुण के धारक हैं वे परमात्मा कहलाते हैं। (४)

माधुर्यातिशयो यद्वा, गुणौघः परमात्मन । तथाऽऽख्यातुं न शक्योऽपि, प्रत्याख्यातुं न शक्यते ।।६।।

श्रथवा अतिशय मधुरता के धारक परमात्मा का समुदाय श्रमुक प्रकार का है, यह भी नहीं कहा जा सकता श्रीर श्रमुक प्रकार का नहीं है, यह भी नहीं कहा जा सकता। (६)

बुद्धो जिनो हृषीकेशः, शम्भुर्क् ह्यादिपुरुषः । इत्यादिनामभेदेऽपि, नाऽर्थतः स विभिद्यते ।।७।।

बुद्ध, जिन, हृषिकेश, शभु, ब्रह्मा आदिपुरुष इत्यादि नामो से अनेक भेद युक्त होने पर भी अर्थ से तिनक भी भेद नहीं है। (७)

धावन्तोऽपि नया नैके, तत्स्वरूपं स्पृशन्ति न ।

समुद्रा इव कल्लोलेः, कृतप्रतिनिवृत्तयः ॥ ।। ।।

दौडते हुए अनेक नय परमात्मा के स्वरूप का स्पर्श नहीं कर सकते। जिस प्रकार समुद्र की तरगे समुद्र में लौट स्राती है उसी प्रकार से नय भी (परमात्म स्वरूप का स्पर्श किये बिना) पुनः लौट स्राते है। (८)

शब्दोपरक्ततद्रूप, -बोधकृत्रयपद्धतिः (ते)। निर्विकरुपं तु तद्रूप, गम्य नाऽनुभव विना ॥६॥

नय का मार्ग शब्दों के द्वारा उपरक्त बन कर परमात्म-स्वरूप का बोध कराता है, परन्तु परमात्मा का निर्विकल्प स्वरूप अनुभव के बिना केवल शब्दों से जाना नहीं जा सकता। (१)

केषा न कल्पना दर्वी, शास्त्रक्षीरान्नगाहिनी। स्तोकास्तत्त्वरसा स्वाद - विदोऽनुभवजिह्वया।।१०।।

शास्त्ररूपी क्षीरान्न का अवगाहन करने वाली कल्पना रूपी कडछी भला किसे प्राप्त नहीं हुई है ? अनुभव रूपी जीभ (रसना) के द्वारा उसका रसास्वादन करने वाले जगत् में विरले ही है। (१०)

जितेन्द्रिया जितकोधा, दान्तात्मान शुभाशया । परमात्मर्गात यान्ति, विभिन्ने रिप वर्त्मभि ॥११॥

जितेन्द्रिय, क्रोध-विजेता, ग्रात्मा का दमन करने वाले श्रीर शुभ ग्राशय वाले महापुरुष भिन्न-भिन्न मार्गी के द्वारा भी परमात्म स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करते हैं। (११)

१. सामुद्रा इव कल्लोला ।

नूनं मुमुक्षवः सर्वे , परमेश्वरसेवकाः । दुरासम्नादिभेदस्तु, तद्भृत्यत्व निहन्ति न ॥१२॥

समस्त मुमुक्षु श्रात्माये निश्चित रूप से परमेश्वर के सेवक ही हैं। दूर, समीप श्रादि का भेद उनके सेवकत्व मे तिनक भी बाधक नहीं होता। (१२)

नाममात्रेण ये हप्ता, ज्ञानमार्गविवर्जिताः । न पश्यन्ति परात्मान⁹, ते घूका इव भास्करम् ॥१३॥

ज्ञान-मार्ग से रहित एव परमात्मा के नाम मात्र से ग्रभिमानी बने पुरुष, जिस प्रकार उलूक (उल्लू) सूर्य को नही देख सकता उसी प्रकार, परमात्मा को देख नहीं सकते। (१३)

श्रमः शास्त्राश्रयः सर्वो, यज्ज्ञानेन फलेग्रहिः । ध्यातक्योऽयमुपास्योऽय, परमात्मा निरञ्जनः ।।१४।।

शास्त्र-सम्बन्धी समस्त परिश्रम, जिनका ज्ञान होने के पश्चात् ही सफल होता है, वे एक निरजन परमात्मा ही ध्यान करने योग्य एव उपा-सना करने योग्य है। (१४)

नान्तराया न मिण्यात्व, हासो रत्यरती च न । न भीर्यस्य जुगुप्सा नो, परमात्मा स मे गतिः ॥१४॥

जिनके ग्रन्तराय नहीं है, मिथ्यात्व नहीं है, हास्य नहीं है, रित नहीं है, श्ररित नहीं है, भय नहीं है ग्रीर जुगुप्सा नहीं है वे परमात्मा मुफे शरएा-गित देने वाले वने। (१५)

न शोको यस्य नो कामो, ना ज्ञानाविरती तथा । नावकाशश्च निद्रायाः , परमात्मा स मे गति ।।१६॥

जिन्हे शोक नही है, काम नही है, श्रज्ञान नही है, श्रविरित नही है तथा नीद का श्रवकाश नहीं है वे परमात्मा मेरे शरएा-भूत हो। (१६)

> रागद्वेषी हतौ येन, जगत्त्रय भयंकरौ। स त्राण परमात्मा मे, स्वप्ने वा जागरेऽपि वा ।।१७।।

तीनो लोको के लिये भयकर राग एव द्वेप को जिन्होने नष्ट कर दिया है वे परमात्मा स्वप्न में ग्रथवा जागृत ग्रवस्था में मेरे रक्षक वनें। (१७)

१ परेशान।

उपाधिजनिता भावा, ये ये जन्मजरादिकाः। तेषां तेषां निषेधेन, सिद्धं रूपं परात्मनः॥१८॥

कर्म रूपी उपाधि से उत्पन्न होने वाले जो-जो जन्म, जरा ग्रादि भाव है उन-उन भावो का निषेध होने पर परमात्मा का स्वरूप सिद्ध होता है। (१८)

श्रतद्व्यावृत्तितो भिन्नं, सिद्धान्ताः कथयन्ति तम् । वस्तुतस्तु न निर्वाच्यं, तत्स्वरूप⁹ कथञ्चन ॥१६॥

"वह इस प्रकार का नहीं है"-यह कह कर सिद्धान्त उसके रूप का वर्णन करते है, परन्तु वस्तुत परमात्मा के स्वरूप का किसी भी प्रकार से वर्णन नहीं किया जा सकता। (१६)

जानन्निप यथा म्लेच्छो, न शक्नोति पुरीगुणान् । प्रवक्तुमुपमाऽभावात्, तथा सिद्धसुखं जिनः ॥२०॥

गाव का निवासी नगर के गुएगों को जानते हुए भी उपमास्रों के स्रभाव में उनके विषय में कुछ कह नहीं सकता, इसी प्रकार केवलज्ञानी महात्मा भी उपमास्रों के स्रभाव में सिद्ध परमात्मा के सुख का वर्णन नहीं कर सकते। (२०)

सुरासुराणां सर्वेषां, यत्सुखं पिण्डितं भवेत् । एकत्राऽपि हि सिद्धस्य, तदनन्ततमांशगम् ॥२१॥

समस्त सुरासुरो के सुख को यदि एक स्थान पर एकत्रित कर लिया जाये तो भी वह एक सिद्ध के सुख के ग्रनन्तवे भाग जितना भी नही होता। (२१)

श्रदेहा दर्शनज्ञानो -पयोगमयमूर्त्तय । श्राकालं परमात्मान , सिद्धा सन्ति निरामया ॥२२॥

सिद्ध परमात्मा देहरिहत, दर्शन एव ज्ञानोपयोग स्वरूप से युक्त तथा सर्वदा रोग एव पीडारिहत होते है। (२२)

> लोकाग्रशिखरारूढ़ाः , स्वभावसमवस्थिता । भवप्रपञ्चनिर्मुक्ताः , युक्तानन्ताऽवगाहनाः ॥२३॥

१. तस्य रूप ।

वे लोक के अग्र भाग रूपी शिखर पर आरुढ होते हैं, वे सदा अपने स्वभाव मे अवस्थित होते हैं, ससार के प्रपचो से सर्वथा मुक्त होते है और अनन्त सिद्धों की अवगाहना में रहे हुए होते हैं। (२३)

> ईलिका भ्रमरीध्यानाद्, भ्रमरीत्व यथाऽश्नुते । तथा ध्यायन् परात्मान, परमात्मत्वमाप्नुयात् ॥२४॥

भ्रमरी के घ्यान से जिस प्रकार ईलिका भ्रमरी वन जाती है, उसी प्रकार से परमात्मा का घ्यान करने वाली ग्रात्मा परमात्मत्व प्राप्त करती है। (२४)

परमात्मगुणानेव⁹, ये घ्यायन्ति समाहिताः । लभन्ते निभृतानन्दा –स्ते यशोविजयश्रियम् ॥२४॥

इस प्रकार समाधियुक्त मनवाले पुरुष जो परमात्मा के गुराो का ध्यान करते हैं, वे परिपूर्ण श्रानन्दमय बन कर यश का विजय करने वाली लक्ष्मी को प्राप्त करते हैं, श्रथवा श्री यशोविजय की लक्ष्मी को प्राप्त करते हैं। (२५)



१ गुए।नेप।

कलिकालसर्वज्ञ-श्रोमद्-हेमचन्द्राचार्य-विरचित

* वीतराग-रतोत्रम् *

प्रथम प्रकाश

यः परात्मा परंज्योति ,परमः परमेष्ठिनाम् । स्रादित्यवर्णं तमस ,परस्तादामनन्ति यम् ॥१॥

जो परात्मा, परज्योति एव परमेष्ठियो मे प्रधान है, जिन्हे पण्डित-गर्ग अज्ञान से पार पाये हुए एव सूर्य के समान उद्योत करने वाले मानते है। (१)

> सर्वे येनोदमूल्यन्त, समूलाः क्लेशपादपा । मूट्नि यस्मै नमस्यन्ति, सुरासुरनरेश्वराः ॥२॥

जिन्होने राग ग्रादि क्लेश-वृक्षो का समूल उन्मूलन कर दिया है, जिनके (चरणो मे) सुर, ग्रसुर, मनुष्य एव उनके ग्रधिपति नत मस्तक होते है। (२)

> प्रावर्त्तन्त यतो विद्याः, पुरुषार्थप्रसाधिका । यस्य ज्ञान भवद्भावि - भूतभावावभासकृत् ॥३॥

जिनसे पुरुषार्थ को सिद्ध करने वाली शब्द ग्रादि विद्याएँ प्रवर्तित है, जिनका ज्ञान वर्तमान, भावि ग्रौर भूत भावो का प्रकाशक है। (३)

यस्मिन्विज्ञानमानन्द, ब्रह्म चैकामत्तां गतम् । स श्रद्धेयः स च घ्येय , प्रपद्ये शरगां च तम् ॥४॥

जिनमे विज्ञान-केवलज्ञान, ग्रानन्द-सुख ग्रौर ब्रह्म-परमपद ये तीनो एकात्म-एकरूप हो गये है, वे श्रद्धेय है तथा घ्येय है ग्रौर मैं उनकी शरण ग्रङ्गीकार करता हू। (४) तेन स्यां नायवास्तस्मे, स्पृहयेय समाहितः। ततः कृतार्थो मूयास, भवेय तस्य किङ्करः॥४॥

उनके कारण में मनाय ह, समाहित मन वाला में उनकी इच्छा करता हू, में उनसे कृतार्थ होता हू, ग्रीर में उनका सेवक हू। (५)

> तत्र स्तोत्रेण कुर्या च, पवित्रा स्वा सरस्वतोम् । इद हि भवकान्तारे, जन्मिना जन्मन फलम् ॥६॥

उनको स्तुति करके मैं ग्रपनी वाणी पिवत्र करता हू क्योकि इस भव-वन मे प्राणियो के जन्म का यही एक फल है। (६)

क्वाह पशोरिप पशु -र्वीतरागस्तवः क्व च। उत्तितीर्षु ररण्यानीं, पद्भ्या पड्गुरिवास्म्यतः ॥७॥

पशु से भी गया बीता मैं कहाँ ग्रौर सुरुगुरु (वृहस्पित) से भी ग्रसभव वीतराग की स्तुति कहाँ ? इस कारएा दो पाँवो से वड़े भारी वन को लाघने के ग्रभिलाषी पगु के समान मैं हू। (७)

> तथापि श्रद्धामुग्घोऽह, नोपालभ्य स्खलन्नपि । विश्रुह्मलापि वाग्वृत्ति , श्रद्धानस्य शोभते ॥८॥

तो भी श्रद्धा-मुग्ध मैं प्रभु की स्नुति करने में स्खलित होने पर भी उपालम्भ का पात्र नहीं हूं। श्रद्धालु व्यक्ति की सम्बन्ध-विहीन वाक्य-रचना भी सुशोभित होती है। (८)

> श्रीहेमचन्द्रप्रभवाद्, –वीतरागस्तवादित । कुमारपालभूपाल प्राप्नोतु फलमीप्सितम् ॥६॥

श्री हेमचन्द्रसूरि द्वारा रचित इस श्री वीतरागस्तव से श्री कुमारपाल भ्याल श्रद्धा-विशुद्धि-लक्षण एव कर्मक्षय-लक्षण इच्छित फल प्राप्त करें। (१)

दूसरा प्रकाश

प्रियङ्ग**ु- स्फटिक स्वर्ण - पद्मरागाञ्जनप्रभ**ा । प्रभो¹ तवाधीतगुचि , काय कमिव नाक्षिपेत् ॥१॥ हे प्रभु ! प्रियगु के समान नीले वर्ण की, स्फटिक के समान उज्ज्वल वर्ण की, स्वर्ण के समान पीत वर्ण की, पद्मराग के समान लाल और अञ्जन के समान स्याम कान्ति वाली और धोये बिना ही पवित्र आपकी देह भला किसे आश्चर्य-चिकत नहीं करेगी ? (१)

मन्दार - दामवित्तत्य - मवासित - सुगन्धिन । तवाङ्गे भृङ्गतां यान्ति, नेत्राणि सुरयोषिताम ॥२॥

कल्पवृक्ष के पुष्पो की माला के समान स्वभाव से ही सुगन्धित स्रापके देह पर देवाङ्गनास्रो के नेत्र भौरो की तरह मडराते है। (२)

दिव्यामृतरसास्वाद - पोषप्रतिहता इव । समाविशन्ति ते नाथ! नाङ्गे रोगोरगव्रजाः ॥३॥

हे नाथ ¹ दिव्य अमृत रस के स्वाद की पुष्टि से पराजित हो गये हो उस प्रकार से कास, क्वास आदि रोग रूपी सापो के समूह आपके देह मे प्रविष्ट नहीं होते। (३)

त्वय्यादर्शतलालीन - प्रतिमाप्रतिरूपके । क्षरत्स्वेदविलीनत्व - कथाऽपि वपुषः कुतः? ॥४॥

दर्पण मे प्रतिबिम्बित प्रतिबिम्ब की तरह स्वच्छ ग्रापके देह मे से निकलते पसीने से व्याप्त हो ऐसी बात भी कहां से हो सकती है ? (४)

न केवल रागमुक्तं, वीतराग ! मनस्तव । वपुः स्थित रक्तमपि, क्षीरघारासहोदरम् ॥४॥

हे वीतराग ! केवल ग्रापका मन ही राग-रहित है ऐसी बात नही है, ग्रापके देह का रुधिर भी दूध की धारा के समान उज्ज्वल है, इवेत है। (५)

जगद्विलक्षण कि वा, तवान्यद्ववतुमीश्महे ? । यदविस्नमबीभत्सं, शुभ्र मांसमिप प्रभो ! ॥६॥

श्रथवा हे प्रभु । जगत् से विलक्षगा श्रापका हम श्रन्य कितना वर्णन करने में समर्थ हो सकते है ? क्यों कि श्रापका मास भी दुर्गन्ध-विहीन-दुर्गञ्छा-विहीन तथा उज्ज्वल है। (६)

जलस्थलसमुद्मूता, संत्यज्य सुमनः स्रजः। तव निःश्वाससौरम्य-मनुयान्ति मधुन्नता ॥७॥

जल-थल मे उत्पन्न पुष्प-मालाग्रो का त्याग करके भौरे श्रापके नि स्वास की सौरभ लेने के लिये श्रापके पीछे ग्राते है। (७)

> लोकोत्तरचमत्कार - करी तव भवस्थितिः । यतो नाहारनीहारौ, गौचरश्चर्मचक्षुषाम् ।।८।।

ग्रापका ससार मे निवास लोकोत्तर चमत्कार (ग्रपूर्व ग्राश्चर्य) उत्पन्न करने वाला है, क्योंकि ग्रापके ग्राहार एव नीहार चर्म-चक्षु वालों के लिये ग्रगोचर हैं, ग्रहस्य हैं। (८)

तीसरा प्रकाश

सर्वाभिमुख्यतो नाथ ।, तीर्थक्वन्नामकर्मजात् । सर्वथा सम्मुखोनस्त्वमानन्दयसि यत्प्रजाः ॥१॥

हे नाथ । तीर्थंकर नामकर्म जिनत "सर्वाभिमुख्य" नामक ग्रतिशय से, केवल-ज्ञान के प्रकाश से सर्वथा समस्त दिशाग्रो मे सम्मुख रहने वाले ग्राप देव, मनुष्य ग्रादि समस्त प्रजा को समस्त प्रकार से ग्रानन्द प्रदान करते है। (१)

यद्योजनप्रमारगेऽपि, धर्मदेशनसद्मनि । समान्ति कोटिशस्तिर्यग्नृदेवाः सपरिच्छदाः ॥२॥

धर्मदेशना की एक योजन भूमि मे अपने-अपने परिवार सहित करोडो तिर्यच, मनुष्य एव देवता समाविष्ट हो जाते हैं। (२)

> तेषामेव स्वस्वभाषा - परिणाममनोहरम्। श्रप्येकरूप वचन, यत्ते धर्माववोधकृत् ॥३॥

अपनी-अपनी भाषा मे एक समान ज्ञात हो जाने से आपके मनोहर वचन उन्हें धर्म का बोध कराने वाले है। (३)

> साग्रेऽपि योजनशते, पूर्वोत्पन्नाः गदाम्बुदाः । यदञ्जसा विलोयन्ते, त्वद्विहारानिलोमिभिः ॥४॥

श्रापके विहार रूपी वायु की लहरों से सवा सौ योजन के क्षत्र में पूर्वीत्पन्न रोग रूपी बादल तुरन्त विलीन हो जाते है। (४)

नाविर्भवन्ति यद्भूमौ, मूषकाः शलभाः शुकाः । क्षरोन क्षितिप्रक्षिप्ता, ग्रनीतय इवेतय ।।४।।

राजाओं द्वारा परित्यक्त अनीतियों की तरह भूमि में मूषक (चूहे) शलभ (टिड्डी) और पोपट आदि के उपद्रव क्षणभर में नष्ट हो जाते हैं। (४)

स्त्रीक्षेत्रपद्रादिभवो, यद्वैराग्निः प्रशाम्यति । त्वत्कृपापुष्करावर्त्तवर्षादिव भ्वस्तले ॥६॥

श्रापकी कृपा रूपी पुष्करावर्त्त मेघ (बादलो) की वृष्टि से ही मानो श्राप जहा चरण रखते है वहाँ स्त्री, क्षेत्र एव नगर श्रादि से उत्पन्न द्वेष रूपी श्रग्नि का शमन हो जाता है। (६)

तत्प्रभावे भुवि भ्राम्यत्यशिवोच्छेदडिण्डिमे। सम्भवन्ति न यन्नाथ[।], मारयो भुवनारय ॥७॥

हे नाथ । ग्रशाव का उच्छेद करने के लिये डिम-डिम नाद के समान ग्रापका प्रभाव भूमि पर होने से लोक-शत्रु तुल्य महामारी, मरकी ग्रादि उपद्रव उत्पन्न नहीं होते। (७)

कामवर्षिणि लोकानां, त्विय विश्वेकवत्सले। श्रितवृष्टिरवृष्टिर्वा, भवेद्यन्नोपतापकृत्।। ५।।

लोक-कामित की वृष्टि करने वाले अद्वितीय विश्ववत्सल आपके विद्यमान होने से परितापकारी अतिवृष्टि अथवा अनावृष्टि नहीं होती। (८)

स्वराष्ट्र-परराष्ट्रेभ्यो, यत्क्षुद्रोपद्रवा द्रुतम्। विद्ववन्ति त्वत्प्रभावात्, सिहनादादिव द्विपाः॥६॥

जिस प्रकार सिह-नाद से हाथी भाग जाते है उसी प्रकार से स्वराष्ट्र एव पर-राष्ट्र से उत्पन्न क्षुद्र उपद्रव श्रापके प्रभाव से तुरन्त नष्ट हो जाते है। (१) यत्क्षीयते च दुभिक्ष, क्षितौ विहरति त्विय । सर्वाद्भुतप्रभावाद्ये, जङ्गमे कल्पपादमे ॥१०॥

समस्त प्रकार के ग्रद्भुत प्रभावशाली जगम कल्पवृक्ष के समान ग्रापके पृथ्वी पर विचरण करने से दुर्भिक्ष समाप्त हो जाता है। (१०)

> यन्मूर्घ्नः पश्चिमे भागे, जितमार्ताण्डमण्डलम् । माऽमूद्वपुर्दु रालोकमितीवोत्पिण्डत महः ॥११॥

ग्रापके देह के दर्शन में रुकावट न हो उसके लिये ही मानो सुर-ग्रसुरों ने ग्रापके मस्तक के पीछे एक स्थान पर ही एकत्रित किए हुए ग्राप के देह का ही मानो महातेज न हो ऐसे सूर्य-मण्डल से भी ग्रधिक तेजस्वी तेज का मण्डल-भामण्डल स्थापित किया हुग्रा है। (११)

स एव योगसाम्राज्य - महिमा विश्वविश्वतः।
कर्मक्षयोत्थो भगवन्कस्य नाश्चर्यकारणम्? ॥१२॥
हे भगवन् । घाती कर्म के क्षय से उत्पन्न विश्व-विख्यात योग
साम्राज्य की महिमा भला किसे ग्राश्चर्य-चिकत नहीं करती ? (१२)

श्रनन्तकालप्रचित - मनन्तमिष सर्वथा । त्वत्तो नान्य कर्मकक्षमुन्मूलयित मूलतः ।।१३॥ र काल से उपार्वित समस्य कर्मन्त्रम का सामके सिवास सर

श्रनन्त काल से उपाजित श्रनन्त कर्म-वन का श्रापके सिवाय श्रन्य कोई भी मूलोच्छोदन करने मे समर्थ नहीं है। (१३)

> तथोपाये प्रवृत्तस्त्व, क्रियासमभिहारतः। यथानिच्छन्नुपेयस्य, परा श्रियमशिश्रियः।।१४।।

हे प्रभु । चारित्र रूपी उपाय मे बार वार के अभ्यास से आप उस प्रकार से प्रवृत्त हुए हैं जिससे अनिच्छा से भी मोक्ष रूपी उत्कृष्ट लक्ष्मी आपने प्राप्त की है। (१४)

मैत्रीपवित्रपात्राय, मुदितामोदशालिने ।
कृपोपेक्षाप्रतीक्षाय, तुभ्य योगात्मने नमः ।।१४॥
मैत्री भावना के पवित्र पात्र स्वरूप, प्रमोद भावना के द्वारा
सुशोभित तथा करुए। एव मध्यस्य भावना के द्वारा पूजनीय त्राप योगात्मा
(योग स्वरूप) को नमस्कार हो । (१४)

चौथा प्रकाश

मिथ्यादृशां युगान्तार्कः सुदृशाममृताञ्जनम् । तिलक तीर्थक्रलक्षम्याः, पुरश्चक्रं तवैधते ॥१॥

मिथ्याद्दियों के लिये प्रलयकालीन सूर्य समान तथा सम्यग्-दृष्टियों के लिये अमृत के अञ्जन समान शान्ति-दायक, तीर्थकर की लक्ष्मी के तिलक-स्वरूप हे प्रभु । आपके आगे धर्मचक्र सुशोभित हो रहा है। (१)

> एकोऽयमेव जगति, स्वामीत्याख्यातुमुच्छिता । उच्चेरिन्द्रध्वजन्याजात्तर्जनी जम्भविद्विषा ॥२॥

"जगत में वोतराग ही एक स्वामी है"—यह कहने के लिये इन्द्र ने अचे इन्द्रध्वज के बहाने अपनी तर्जनी अगुली अची की हो ऐसा प्रतीत होता है। (२)

यत्र पादौ पदं धत्तस्तव तत्र सुरासुराः। किरन्ति पङ्कजन्याजाच्छियं पङ्कजनासिनीम्।।३।।

जहा श्रापके दो चरण पडते हैं वहा देव एव दानव स्वर्ण कमल के वहाने कमल में निवास करने वाली लक्ष्मी का विस्तार करते हैं। (३)

दानशीलतपोभाव - भेदाह्यमं चतुर्विधम्। मन्ये युगपदाख्यातुं, चतुर्वक्त्रोऽभवद् भवान्।।४।।

मैं यह मानता हू कि दान, शील, तप श्रीर भाव के भेद से चार प्रकार का धर्म एक साथ स्पष्ट करने के लिये ही श्राप चार मुह युक्त हुए है। (४)

> त्विय दोषत्रयात् त्रातुं, प्रवृत्ते भुवनत्रयीम् । प्राकारत्रितय चक्रुस्त्रयोऽपि त्रिदिवौकसः ॥४॥

तीनो लोको को राग, द्वेप तथा मोह रूपी तीनो दोषो से वचाने के लिये आपके प्रवृत्त होने से वैमानिक, ज्योतिषी और भुवनपति तीन प्रकार के देवो ने रत्नमय, स्वर्णमय एव रजतमय तीन प्रकार के किलो (समवसरएा) की रचना की है। (५)

ग्रघोमुखा कण्टका स्युषित्र्या विहरतस्तव । भवेयुः सम्मुखोनाः किं, तामसास्तिरमरोचिषः ?।।६।। श्रापके पृत्वी पर विचरण करने से काटे श्रघोमुखी हो जाते है। वया सूर्योदय होने पर उलूक श्रयवा श्रघकार का ममूह ठहर सकता है ? (६)

केशरोमनखश्मश्रु, तवावस्थितमित्ययम् । बाह्योऽपि योगमहिमा, नाप्तस्तीर्थकरैः परे ।।७।।

श्रापके वाल, रोम, नाखून श्रौर दाढी-मूछो के बाल, दीक्षा ग्रहण करने के समय जितने होते है उतने ही रहते हैं। इस प्रकार की बाह्य योग की महिमा भी श्रन्य देवो ने प्राप्त नही की। (७)

शब्दरूपरसस्पर्श-गन्धाख्याः पञ्च गोचराः। भजन्ति प्रातिकृत्य न, त्वदग्रे तार्किका इव ॥५॥

ग्रापके समक्ष ग्रन्य (बौद्ध) तार्किको की तरह शब्द, रूप, रस, स्पर्श ग्रीर गन्ध रूप पाचो इन्द्रियो के विषय प्रतिकूल नही होते, ग्रनुकूल रहते हैं। (८)

> त्वत्पादावृतवः सर्वे, युगपत्पर्युपासते। श्राकालकृतकन्दर्प – साहायकभयादिव ॥६॥

मानो ग्रनादि काल से कामदेव को की गई सहायता के भय से ही समस्त ऋतुयें एक साथ ग्राकर ग्रापके चरणो की सेवा करती हैं। (६)

सुगन्ध्युदकवर्षेगा, दिन्यपुष्पोत्करेगा च। भावित्वत्पादसस्पर्शां, पूजयन्ति भुव सुराः ॥१०॥

जिस भूमि पर भविष्य मे आपके चरगो का स्पर्ग होने वाला है जस भूमि को देवतागग सुगन्धित जल की वृष्टि से तथा दिन्य पुष्पों के समूह से पूजते हैं। (१०)

जगतप्रतीक्ष्य ! त्वां यान्ति, पक्षिग्गोऽपि प्रदक्षिग्गम् । का गतिर्महतां तेषा, त्विय ये वामवृत्तय ? ॥११॥

हे विश्व पूज्य । पक्षी भी ग्रापकी प्रदक्षिगा करते हैं, तो फिर ग्रापके प्रति प्रतिकूल व्यवहार करने वाले तथाकथित वडे पुरुषो की क्या गति समभी जाये ? (११)

पञ्चेन्द्रियाणां दौःशील्यं, वव भवेद् भवदन्तिके । एकेन्द्रियोऽपि यन्मुञ्चत्यनिलः प्रतिकृलताम् ॥१२॥

ग्रापके समक्ष पचेन्द्रिय तो दुष्टता कर हो कैसे सकते है, क्योकि एकेन्द्रिय वायु भी भ्रापके समक्ष प्रतिकूलता का त्याग कर देता है। (१२)

मूर्ध्ना नमन्ति तरवस्त्वन्माहात्म्यचमत्कृताः । तत्कृतार्थं शिरस्तेषा, व्यर्थं मिश्यादृशां पुनः ।।१३।।

हे प्रभु! ग्रापके माहात्म्य से चमत्कृत वृक्ष भी ग्रापके समक्ष नत मस्तक होते हैं जिससे उनके मस्तक कृतार्थ हैं, किन्तु ग्रापके समक्ष नत मस्तक नहीं होने वाले मिण्यात्वियों के मस्तक व्यर्थ हैं। (१३)

जघन्यत कोटिसल्यास्त्वां सेवन्ते सुरासुरा । भाग्यसम्भारलभ्येऽर्थे, न मन्दा श्रप्यदासते ॥१४॥

हे प्रभु ! जघन्य से एक करोड देव एव ग्रसुर श्रापकी सेवा करते है, क्यों कि भाग्योदय से प्राप्त पदार्थ के लिये मन्द ग्रात्मा भी उदासीन नहीं रहते। (१४)

पाचवा प्रकाश

गायन्तिवालिविरुतेर्नृ त्यन्निवचलैर्दलैः । त्वद्गुणैरिव रक्तोऽसौ, मोदते चैत्यपादपः ।।१।।

हे नाथ ! भीरो के गुञ्जन से मानो गीत गाता हो, चचल पत्तो के द्वारा मानो नृत्य करता हो तथा ग्रापके गुगो से मानो रक्त हुग्रा हो उस प्रकार से यह ग्रगोक वृक्ष प्रफुल्लित हो रहा है। (१)

श्रायोजनं सुमनसोऽधस्तान्निक्षिप्तवन्धना । जानुदध्नीः सुमनसो, देशनोर्व्या किरन्ति ते ॥२॥

हे नाथ । एक योजन तक जिनके दीटडे नीचे हैं ऐसे जानु प्रमाण पुष्पो को देवतागरा ग्रापकी देशना भूमि पर वरसाते है। (२)

स्पृहयन्ति वद् योगाय, यत्तेऽपि लवसत्तमा । योग-मुद्रादरिद्राणा, परेषा तत्कथैव का? ॥४॥

श्रापके योग की स्पृहा लवसप्तम श्रनुत्तर विमानवासी देव भी करते हैं। योग-मुद्रा से रहित पर-दार्शनिको मे उस योग की वात भी क्यो हो ? नहीं होगी। (४)

> त्वां प्रपद्यामहे नाथ, त्वा स्तुमस्त्वामुपास्महे। त्वत्तो हि न परस्त्राता, कि द्रूम^२ किमु कुमहे⁷॥५॥

श्रापको हम नाथ के रूप मे स्वीकार करते हैं, श्रापकी हम स्तुति करते हैं श्रीर श्रापकी हम उपामना करते हैं, क्योंकि श्रापसे श्रिषक श्रन्य कोई हमारा रक्षक नहीं है, श्रापकी स्तुति से श्रिधक श्रन्य कुछ भी बोलने योन्य नहीं है श्रीर श्रापकी उपासना से श्रिधक श्रन्य कुछ भी करने योग्य नहीं है। (५)

> स्वय मलीमसाचारे . प्रतारणपरे परेः। वञ्च्यते जगदप्येतत्कस्य पूरकुर्महे पुरः ? ॥६॥

स्वय मिलन श्राचार वाले श्रीर पर को ठगने में तत्पर श्रन्य देवो के द्वारा यह विश्व ठगा जा रहा है। हे नाथ हम किसके समक्ष जाकर पुकार करें ? (६)

नित्यमुक्तान् जगज्जन्म -क्षेमक्षयकृतोद्यमान् । वन्ध्यास्तनन्धयप्रायान्, को देवाश्चेतनः श्रयेत् ॥७॥

नित्य मुक्त एव जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय करने मे प्रयत्नशील वन्ध्या (वाभ) के पुत्र के समान देवो का कौन सचेतन व्यक्ति भ्राश्रय ग्रहण करेगा ? (७)

> फ़तार्था जठरोपस्य -दु स्थितरिप दैवतैः। भवादृशान्तिह्नुवते, हा हा ? देवास्तिकाः परे।।।।।।

जठर (उदर) एव उपस्य (इन्द्रियवर्ग) से पीडित देवो से कृत्कृत्य वने अन्य देव - ग्रास्तिक बुतीयिक ग्राप जैसे का श्रपनाप करते है, जो सचमुच अत्यन्त दुख का विषय है। (८)

जिन भक्ति]

वृद्धि होती हुई ग्रापकी पुण्य ऋद्धि के कम के समान एक दूसरे पर ग्राये हुए तीन छत्र मानो तीनो लोको मे छाई हुई ग्रापकी प्रभुता की प्रौढता बता रहे है। (८)

> एतां चमत्कारकरीं, प्रातिहार्यश्रिय तव। चित्रीयन्ते न के दृष्ट्वा, नाथ! मिण्यादृशोऽपि हि ॥६॥

हे नाथ । चमत्कारपूर्ण ग्रापकी इस प्रातिहार्य लक्ष्मी को देखकर किन मिथ्यात्वियो को ग्राश्चर्य नही होता ? ग्रर्थात् सभी को ग्राश्चर्य होता है। (१)

छठा प्रकाश

- o --

लावण्यपुण्यवपुषि, त्विय नेत्रामृताञ्जने । माध्यस्थ्यमपि दौ:स्थ्याय, कि पुनर्ह्वेषविष्लव ।।१॥

नेत्रो के लिये ग्रमृत के ग्रञ्जन के समान ग्रीर लावण्य से पवित्र देह वाले ग्रापके लिये मध्यस्थता धारण करना भी दु ख के लिये है, तो फिर द्वेष भाव धारएा करने वालो के लिये तो कहना ही क्या ? (१)

> तवापि प्रतिपक्षोऽस्ति, सोऽपि कोपादिविष्तुतः । श्रनया किवदन्त्याऽपि, कि जीवन्ति विवेकिनः ।।२।।

श्रापके भी प्रतिपक्षी (शत्रु) है श्रौर वे भी क्रोध श्रादि से व्याप्त है। इस प्रकार की किंवदन्ति (कुत्सित बात) सुनकर विवेकी पुरुष वया प्राराण धारण कर सकते हैं ? कदापि नहीं। (२)

> विपक्षस्ते विरक्तश्चेत्, स त्वमेवाथ रागवान् । न विपक्षो विपक्षः कि, खद्योतो द्युतिमालिनः?।।३।।

श्रापका विपक्ष यदि विरक्त है तो वह श्राप ही हैं श्रीर यदि रागी है तो वह विपक्ष ही नही है। वया सूर्य का शत्रु (विपक्ष) खद्योत (जुगनू) हो सकता है ? (३)

स्पृहयन्ति वद् योगाय, यत्तेऽपि लवसत्तमा । योग-मुद्रादरिद्राणां, परेषा तत्कथैव का ? ॥४॥

त्रापके योग की स्पृहा लवसप्तम श्रनुत्तर विमानवासी देव भी करते हैं। योग-मुद्रा से रहित पर-दार्शनिको मे उस योग की बात भी क्यो हो ? नही होगी। (४)

त्वा प्रपद्यामहे नाथं, त्वां स्तुमस्त्वामुपास्महे। त्वत्तो हि न परस्त्राता, किं बूमः? किंमु कुर्महे[?]।।४।।

श्रापको हम नाथ के रूप में स्वीकार करते हैं, श्रापकी हम स्तुति करते हैं श्रीर श्रापकी हम उपासना करते हैं, क्यों आप श्रेष्टिक अन्य कोई हमारा रक्षक नहीं है, श्रापकी स्तुति से श्रिधिक श्रन्य कुछ भी बोलने योन्य नहीं है श्रीर श्रापकी उपासना से श्रिधिक श्रन्य कुछ भी करने योग्य नहीं है। (१)

> स्वय मलीमसाचारे , प्रतारणपरे परेः। वञ्च्यते जगदप्येतत्कस्य पूरकुर्महे पुरः [?] ॥६॥

स्वय मिलन प्राचार वाले ग्रीर पर को ठगने मे तत्पर अन्य देवो के हारा यह विश्व ठगा जा रहा है। हे नाथ हिम किसके समक्ष जाकर पुकार करे ?(६)

नित्यमुक्तान् जगज्जन्म -क्षेमक्षयकृतोद्यमान् । वन्ध्यास्तनन्धयप्रायान्, को देवाश्चेतन श्रयेत् ॥७॥

नित्य मुक्त एव जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय करने मे प्रयत्नशोल वन्ध्या (वाभः) के पुत्र के समान देवो का कौन सचेतन व्यक्ति प्राश्रय ग्रहरा करेगा ? (७)

कृतार्था जठरोपस्य -दु स्थितरिप दैवतै । भवाहशान्निह्नुवते, हा हा ? देवास्तिका. परै ॥ ॥

जठर (उदर) एव उपस्थ (इन्द्रियवर्ग) से पीडित देवो से कृत्कृत्य वने भ्रन्य देव - भ्रास्तिक कुतीधिक भ्राप जैसे का श्रपलाप करते है, जो सचमुच भ्रत्यन्त दुख का विषय है। (८)

खपुष्पप्रायमुत्प्रेक्ष्य, किञ्चिन्मानं प्रकल्प्य च। संमान्ति देहे गेहे वा, न गेहेर्नीदन परे ॥६॥

श्राकाश के पुष्प के समान किसी वस्तु की कल्पना करके श्रीर उसे सिद्ध करने के लिये किसी प्रमाण को प्रस्तुत करके घर मे शूरवीर(गेहेनर्दी) परतीर्थिक श्रपने देह मे श्रथवा घर मे समाते नहीं हैं श्रर्थात् हमारा ही धर्म श्रेष्ठ है यह मानकर व्यर्थ फूलते है। (६)

कामराग-स्नेहरागा –वीषत्करनिवारगा। वृष्टिरागस्तु पापीयान्, दुरूच्छेदः सतामपि ॥१०॥

काम-राग एव स्नेह-राग का निवारण सुकर है, किन्तु पापी दृष्टि-राग सज्जन पुरुषों के लिये भी दुरुच्छेद है। (१०)

प्रसन्नमास्यं मध्यस्थे, दृशौ लोकम्पृग्गं वचः। इति प्रीतिपदे बाढं, मूढास्त्वय्यप्युदासते ॥११॥

प्रसन्न मुख, मध्यस्थ लोचन ग्रीर लोकप्रिय वचनो के धारक ग्रत्यन्त प्रेम के स्थान स्वरूप श्रापके विषय मे भी मूढ लोग उदासीन रहते हैं।(११)

> तिष्ठेद्वायुर्द्रवेदद्रि -ज्वंलेज्जलमपि क्वचित्। तथापि ग्रस्तो रागाद्यं -निष्तो भवितुमहंति ।।१२।।

कदाचित् वायु स्थिर हो जाये, पर्वत पिघल जाये श्रौर जल जाज्वल्यमान हो जाये, तो भी राग ग्रादि से ग्रस्त पुरुष श्राप्त होने के योग्य नहीं है। (१२)

सातवा प्रकाश

धर्माधर्मो विना नाङ्गं, विनाङ्गेन मुखं कुतः। मुखाद्विना न वक्तृत्वं, तच्छास्तारः परे कथम् ? ॥१॥

धर्म और अधर्म विहीन देह नहीं होता, देह के बिना मुह नहीं होता और मुह के बिना वाणी नहीं होती। तो फिर धर्म, अधर्म और देह आदि से रहित अन्य देव उपदेशक कैसे हो सकते है ? (१)

श्रदेहस्य जगत्सर्गे, प्रवृत्तिरिप नोचिता । न च प्रयोजन किचित्, स्वातन्त्र्या(त्र्या)न्न पराज्ञया ॥२॥

देह रहित के लिये जगत् का सृजन करने की प्रवृत्ति भी उचित नहीं है, कृतकृत्य होने से सृजन करने का कोई प्रयोजन नहीं है श्रौर स्वतन्त्र होने से दूसरे की श्राज्ञा पर भी चलना नहीं है। (२)

> क्रीडया चेत्प्रवर्तेत, रागवान् स्यात कुमारवत् । कृपयाऽय सृजेर्त्ताह, सुख्येव सकल सृजेत् ॥३॥

कीडा के लिये यदि प्रवृत्त हो तो वालक को तरह रागी सिद्ध होगा श्रीर यदि कृपा से करे तो समस्त जगत् को सुखी ही करे। (३)

दु खदौर्गत्यदुर्योनि -जन्मादिक्लेशविह्वलम् । जन तु सृजतस्तस्य, कृपालो का कृपालुता ? ।।४।।

दु ख, दुर्गति ग्रीर दुष्ट योनियो मे जन्म ग्रादि के क्लेश से विह्वल जगत् का सृजन करने वाले उस कृपालु की कृपा कहा रही ? (४)

> कर्मापेक्ष. स चेत्तीह, न स्वतन्त्रोऽस्मदादिवत्। कर्मजन्ये च वैचित्र्ये, किमनेन शिखण्डिना ?।।।।।।

दु ख ग्रादि देने मे यदि वह प्राणियों के कर्म की ग्रपेक्षा रखता है तो वह हमारी-तुम्हारी तरह स्वतन्त्र नहीं है, यही सिद्ध होता है ग्रीर जगत् की विचित्रता यदि कर्म - जिनत है तो शिखण्डी की तरह उसको बीच में लाने की भी क्या ग्रावश्यकता है ? (५)

> श्रय स्वभावतो वृत्ति -रवितक्या महेशितु । परीक्षकाणा तह्येष, परीक्षाक्षेपश्चिण्डमः ॥६॥

श्रीर यदि महेरवर की यह प्रवृत्ति न्वभाव से ही है किन्तु तर्क करने योग्य नहीं है, इस प्रकार कहोगे तो वह परीक्षवों को परीक्षा करने का निषेध करने के लिये टोल वजाने के समान है। (६)

> सर्वभावेषु कर्तृत्व, ज्ञातृत्व यदि सम्मतम्। मत नः सन्ति सर्वज्ञा, मुक्ता कायभृतोऽपि च ॥७॥

समस्त पदार्थों का ज्ञातृत्व ही यदि कर्तृत्व है तो उस बात से हम भी सहमत हैं, क्योंकि हमारा यह मत है कि सर्वज्ञ, मुक्त-देह रहित (सिद्ध) है श्रीर देहधारी (ग्ररिहन्त) भी है। (७)

सृष्टिवादकुहेवाक -मुन्मुच्यत्यप्रमाणकम् । त्वच्छासने रमन्ते ते, येषां नाथ ! प्रसीदसि ॥ ।। ।।।

हे नाथ ! जिनके ऊपर ग्राप प्रसन्न हैं, वे ग्रात्मा प्रमाण रहित सृष्टिवाद का दुराग्रह छोड कर ग्रापके शासन मे रमण करते है। (८)

श्राठवा प्रकाश

सत्त्वस्यैकान्तिनित्यत्वे, कृतनाशाकृतागमौ । स्यातामेकान्तनाशेऽपि, कृतनाशाकृतागमौ ॥१॥

पदार्थ की एकान्त नित्यता मानने में कृतनाश एवं अकृतागम नामक दो दोष है। एकान्त अनित्यता मानने में भी कृतनाश एवं अकृतनाश नामक दो दोष विद्यमान है। (१)

म्रात्मन्येकान्तनित्ये स्यान्न भोगः सुखदु खयोः । एकान्तानित्यरूपेऽपि, न भोगः सुखदुःखयो ॥२॥

श्रातमा को एकान्त नित्य मानने मे सुख - दु ख का भोग घटता नहीं है। एकान्त श्रनित्य स्वरूप मानने मे भी सुख - दु ख का भोग घटता नहीं है। (२)

पुण्यपापे बन्धमोक्षी, न नित्येकान्तदर्शने । पुण्यपापे बन्धमोक्षी, नानित्येकान्तदर्शने ॥३॥

एकान्त नित्य दर्शन मे पुण्य - पाप ग्रौर बन्घ - मोक्ष घटते नही है। एकान्त ग्रनित्य दर्शन मे भी पुण्य - पाप ग्रौर बध-मोक्ष घटते नही हैं। (३)

> क्रमाक्रमाभ्यां नित्यानां, युज्यतेऽर्थक्रिया न हि । एकान्तक्षरणकत्वेऽपि, युज्यतेऽर्थक्रिया न हि ॥४॥

नित्य पदार्थों मे कम से अयवा विना कम से अर्थ-किया घटती नहीं है श्रीर एकान्त क्षिणिक पक्ष में भी कम से अयवा कम के बिना अर्थिकिया घटती ही नहीं है। (४)

> यदा तु नित्यानित्यस्व —रूपता वस्तुनो भवेत्। यथार्थं भगवन्नेव, तदा दोषोऽस्ति कश्वन ॥ ॥

हे भगवन् । ग्रापके कथनानुसार यदि वस्तु की नित्यानित्यता हो तो किमी भी प्रकार का दोष नही ग्राता है। (४)

> गुडो हि कफहेतुः स्यान्नागर पित्तकारणम् । द्वयात्मनि न दोषोऽस्ति, गुडनागरभेषजे ।।६।।

गुड में कफ उत्पन्न होता है ग्रीर सीठ से पित्त होता है। जब गुड ग्रीर सीठ मिश्रित कर ली जायें तब दोष नहीं रहता, किन्तु भेपज(ग्रीषिध) स्वरूप हो जाता है। (६)

> द्वय विरुद्धं नैकत्राऽसत्प्रमाराप्रसिद्धितः । विरुद्धवर्णयोगो हि, दृष्टो मेचकवस्तुषु ।।७।।

इसी प्रकार से एक वस्तु में नित्यत्व एवं श्रनित्यत्व दो विरुद्ध धर्मी का रहना भी विरुद्ध नहीं है। प्रत्यक्ष ख्रादि किसी भी प्रमाण से उसमें विरोध सिद्ध नहीं हो सकता, वयोकि मेचक (कावडचीती) वस्तुग्रों में विरुद्ध वर्णों का सयोग प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है। (७)

> विज्ञानस्यैकमाकार, नानाकारकरिम्बतम् । इच्छस्तथागतः प्राज्ञो, नानेकान्त प्रतिक्षिपेत् ॥८॥

विचित्र श्राकार रहित विज्ञान एक ग्राकार वाला है। यह स्वीकार करने वाला प्राज्ञ बौद्ध भी ग्रनेकान्तवाद का उत्यापन नही कर सकता। (=)

चित्रमेकमनेण च, रूपं प्रामाणिक वदन्। योगो वैशेषिको वाऽपि, नानेकान्त प्रतिक्षिपेत् ॥६॥

एक चित्ररप, प्रनेव रा युक्त प्रमाण सिद्ध है यह कहने वाला योग समया वैगेषिक स्रनेवान्तवाद का उत्यापन नहीं कर सकता। (६)

श्यिभक्ति]

इच्छन्प्रधानं सत्त्वाद्यं विरुद्धं गुंम्फितं गुर्गैः । साख्यः संख्यावतां मुख्यो, नानेकान्तं प्रतिक्षिपेत् ॥१०॥

सतोगुरा, रजोगुरा ग्रादि विरुद्ध गुराो से गुम्फित एक प्रधान (प्रकृति) का चाहक विद्वानों में मुख्य साख्य भी ग्रनेकान्तवाद का उत्थापन नहीं कर सकता । (१०)

विमतिस्सम्मतिर्वापि, चार्वाकस्य न मृग्यते । परलोकात्ममोक्षेषु , यस्य मुह्यति शेमुषी ।।११।।

परलोक, त्रात्मा त्रौर मोक्ष ग्रादि प्रमाण सिद्ध पदार्थों के विषय में भी जिसकी मित उदासीन है ऐसे चार्वाक नास्तिक की विमिति है ग्रथवा सम्मित है यह देखने की तिनक भी श्रावश्यकता नहीं है। (११)

तेनोत्पाद्व्ययस्थेम - सम्मिश्रं गोरसादिवत् । त्वदुपज्ञ कृतिधयः, प्रपन्ना वस्तुतस्तु सत्।।१२।।

उस कारण से बुद्धिमान पुरुष समस्त सत् पदार्थों को आपके कथनानुसार गोरस आदि की तरह उत्पाद व्यय और ध्रोव्य से मिश्रित मानते है। (१२)

नवा प्रकाश

यत्राऽल्पेनाऽपि कालेन, त्वद्भवतेः फलमाप्यते । कलिकालः स एकोऽस्तु, कृतं कृतयुगादिभिः ॥१॥

जहा अल्पकाल मे आपकी भक्ति का फल प्राप्त किया जा सकता है वह केवल एक कलियुग ही स्पृह्मािय हो, कृतयुग आदि अन्य युगो को जाने दो। (१)

सुषमातो दुषमायां, कृपा फलवती तव। मेरतो मरुभूमी हि, श्लाघ्या कल्पतरोः स्थितिः॥२॥

सुषम काल की अपेक्षा दुषम कलिकाल मे आपकी कृपा अधिक फलवती है। मेरु पर्वत की अपेक्षा मरुभूमि मे कल्पवृक्ष की स्थिति अधिक प्रशसनीय है। (२) श्राद्ध श्रोता सुधीर्वक्ता, युज्येयाता यदीश ! तत् । त्वच्छासनस्य साम्राज्य -मेकच्छत्र कलाविप ॥३॥

हे ईग । श्रद्धावान श्रोता एव वृद्धिमान वक्ता दोनो का योग हो जाये तो उम कलियुग मे भी श्रापके शासन का एकछत्र साम्राज्य है। (३)

युगान्तरेऽपि चेन्नाय! भवन्तयुच्छृह्मलाः खला । वृथेव तहि कुप्यामः, कलये वामकेलये।।४।।

हे नाय ग्रन्य कृतयुग ग्रादि मे भी गोशाला जैसे उच्छृ खल व्यक्ति होते है तो फिर ग्रयोग्य कीडा वाले इस कलियुग के ऊपर हम व्यर्थ ही कुपित होते हैं। (४)

> कल्यासास्त्रच्यं साधीयान् कलिरेव कषोपलः। विनाऽग्नि गन्धमहिमा, काकतुण्डस्य नैधते।।४।।

कल्याण की सिद्धि के लिये इस कलियुग रूपी कसौटी का पत्थर ही श्रेष्ठ है। श्रीम के बिना काकतुण्ड (श्रगर) धूप के गन्च की महिमा मे वृद्धि नहीं होती। (१)

निशि दीपोऽम्बुधौ द्वीप, मरौ शाखी हिमे शिखी । कलो दुरापः प्राप्तोऽय, त्वत्पादाव्जरजः कराः ॥६॥

रात्रि में दीपक, सागर में द्वीप, मह-भूमि मे वृक्ष और शीतकाल में श्रिग्न की तरह कलियुग में दुर्लभ श्रापके चरण-कमलो की रज हमें प्राप्त हुई हैं। (६)

युगान्तरेषु भ्रान्तोऽस्मि, त्वद्दर्शनिवना कृत । नमोऽस्तु कलये यत्र, त्वद्दर्शनमजायत ॥७॥

हे नाथ । श्रन्य युगो मे श्रापके दर्शन किये विना हो मैंने ससार में परिश्रमण किया है। श्रत इस कलियुग को ही नमस्कार है कि जिस में मुक्ते श्रापके दर्शन हुए। (७)

बहुदोषो दोवहीनात्वत कलिरशोभत । विषयुक्तो विषहरात्फणीन्द्र इव रत्नतः ॥ । । ।

हे नाय । विपाक्त (विपेला) विपधर जिन प्रकार विपहारी रतन से मुगोभित होता है, उसी प्रकार से घ्रनेक दोषों से युक्त यह कलियुग समस्त दोषों से रहित ग्रापसे शोभायमान है। (=)

सर्वया निर्जिगीषेगा, भीतभीतेन चागसः । त्वया जगत्त्रयं जिग्ये, महतां कापि चातुरी ॥३॥

हे नाथ ! सर्वथा जीतने की ग्रनिच्छा होने पर भी तथा पाप से ग्रत्यन्त भयभीत होते हुए भी ग्रापने तीनो लोको को जीत लिया है। सच-मुच महान ग्रात्माग्रो की चतुराई कोई ग्रद्भुत ही होती है। (३)

दत्त न किञ्चित्कस्मैचिन्नात्तं किञ्चित्कुतश्चन । प्रभुत्वं ते तथाप्येतत्, कला कापि विपश्चिताम् ॥४॥

हे नाथ । आपने किसी को कुछ (राज्य आदि) दिया नही और किसी से कुछ (दण्ड आदि) लिया नहीं, तो भी आपका यह प्रभुत्व है जिससे यह लगता है कि कुशल पुरुषों की कला कोई अद्भुत होती है। (४)

यद्देहस्यापि दानेन, सुकृतं नाजित परै । उदासीनस्य तन्नाथ ।, पादपीठे तवालुठत् ॥५॥

हे नाथ । देह का दान देकर भी अन्यों ने जो सुक्रत नहीं कमाया, वह सुकृत उदातीनता से रहने वाले आपके पादपीठ में लेटता रहा। (५)

रागादिषु न्शसेन, सर्वात्मसु कृपालुना । भीमकान्तगुर्गोनोच्चैः, साम्राज्यं साधितं त्वया ॥६॥

हे नाथ । राग ग्रादि के प्रति कूर एव समस्त प्राणियों के प्रति द्यालु ग्रापने भयानकता तथा मनोहरता रूपी दो गुणों से महान् साम्राज्य प्राप्त कर निया है। (६)

सर्वे सर्वात्मनाऽन्येषु, दोषास्त्विय पुनर्गुणाः । स्तुतिस्तवेयं चेन्मिण्या, तत्त्रमार्गं सभासदः ॥७॥

हे नाथ ! पर-तीथिको मे समस्त प्रकार के समस्त दोष हैं ग्रीर भापने समस्त प्रकार से समस्त गुण हैं। यदि ग्रापकी यह स्तुति मिथ्या हो दो सभासद प्रमाण हैं। (७)

_{महीयसा}मपि महान्, महनीयो महात्मनाम् । _{प्रहो} ! मे स्तुवतः स्वामी, स्तुतेर्गीचरमागमत् ।।८।।

प महो। हर्ष की बात यह है कि वड़े से वड़े और महात्माओ द्वारा भी आ में स्तुति कर रहा हूँ। (८)

हय विरुद्धं भगवंस्तव नान्यस्य कस्यचित् । निर्ग्रन्थता परा या च, या चोच्चेश्चक्रवितता ॥६॥

हे भगवन् । श्रेष्ठ निर्मन्थता (नि स्पृहता) ग्रीर उत्कृष्ट चक्रवितत्व (धर्म सम्राट् पदवी) ये दो विरुद्ध वातें ग्रापके ग्रतिरिक्त ग्रन्य किसी भी देव में नहीं है। (६)

> नारका भ्रिप मोदन्ते, यस्य कल्याणपर्वसु । पवित्र तस्य चारित्र, को वा वर्णायतु क्षमः? ।।७।।

ग्रयवा तो जिनके पाचो कल्याएक पर्वों में नारकीय जीव भी सुख प्राप्त करते हैं, उनके पवित्र चारित्र का वर्णन करने में कौन समर्थ है। (७)

> शमोऽद्भुतोऽद्भुत रूप, सर्वात्ममु कृपाद्भुता । सर्वाद्भुतनिघीशाय, तुम्य भगवते नम ।। ६।।

श्रद्भुत समता, श्रद्भुत रूप श्रीर समस्त प्राणियो पर श्रद्भुत कृपा करने वाले तथा समस्त श्रद्भुतो के महानिधान हे भगवन् । श्रापको नमस्कार हो। (८)

गयारहवा प्रकाश

निघ्नन्परीपहचमूमुपसर्गान् प्रतिक्षिपन् । प्राप्तोऽसि शमसोहित्य, महतां कापि वेंदुषी ।।१।।

हे नाय । परीपहो की सेना का सहार करने वाले तथा उपसर्गों का तिरस्कार करने वाले श्रापने समता रूपी श्रमृत की नृष्ति प्राप्त की है। श्रहो । बडो की चतुराई कुछ श्रद्भुत होती है। (१)

> घरक्तो मुक्तवान्मुक्ति -महिप्टो हतवान्द्विष. । घहो । महात्मना कोऽपि, महिमा लोकदुर्लभः ॥२॥

हे नाय । श्राप राग-रहित है फिर भी मुक्ति-रमणी का उपभोग करते है श्रीर होप-रहित है फिर भी श्राप श्रातिरक राजुश्रो का सहार करते हैं। श्रहो । लोक मे दुर्नभ महान श्रात्माश्रो की महिमा कोई श्रद्भृत हो होती है। (२)

ſ

दसवा प्रकाश

मत्त्रसत्तेस्त्वत्त्रसादस्त्वत्त्रसादादियं पुनः । इत्यन्योन्याश्रय भिन्धि, प्रसीद भगवन् ! मयि ॥१॥

हे भगवन् मेरी प्रसन्नता से आपकी प्रसन्नता और आपकी प्रसन्नता से मेरी प्रसन्नता इस प्रकार के अन्योन्याश्रय दोष का आप भेदन करे और मुभ पर प्रसन्न हो। (१)

> निरोक्षितुं रूपलक्ष्मीं, सहस्राक्षोऽपि न क्षम । स्वामिन् ! सहस्रजिह्वोऽपि, शक्तो वक्तुं न ते गुर्णान् ॥२॥

हे स्वामी ! ग्रापके रूप की शोभा निहारने के लिये हजार नेत्रो वाला (इन्द्र) भी समर्थ नहीं है तथा ग्रापका गुरा-गान करने के लिये हजार जीभ वाला (शेष नाग) भी समर्थ नहीं है। (२)

> सशयान् नाथ !हरसेऽनुत्तरस्विगिगामिप । भ्रतः परोऽपि किं कोऽपि, गुगा स्तुत्योऽस्ति वस्तुतः ॥३॥

हे नाथ ! ग्राप यहा है तो भी ग्रनुत्तर विमान-वासी देवताग्रो के सशय दूर करते है। ग्रत ग्रन्य कोई भी गुण वस्तुत परमार्थ से स्तुति करने योग्य है ? ग्रर्थात् नहीं है। (३)

इदं विरुद्धं श्रद्धता, कथमश्रद्द्धानकः!। ग्रानन्दं सुखसवितश्च, विरक्तिश्च सम त्विय ॥४॥

श्रखण्ड श्रानन्द स्वरूप सुख मे श्रासक्ति एव सकल सग से विरक्ति ये दो विपरीत वाते श्रापमे एक साथ विद्यमान है। श्रश्रद्धालु मनुष्य इस वात की श्रद्धा कैसे करे ? (४)

नाथेयं घट्यमानापि, दुर्घटा घटतां कथम् ? । उपेक्षा सर्वसत्त्वेषु, परमा चोपकारिता ॥॥॥

हे नाय । समस्त प्राणियो से उपेक्षा (राग-हे प-रहितता) श्रीर परमोपकारिता (सम्यग् दर्शन ग्रादि मोक्ष मार्ग की उपदेशकता) ये दो वाते ग्राप में प्रत्यक्ष प्रतीत होती होने से घटित, फिर भी ग्रन्य देवो मे श्रघटित हो सकती है ? (५) ह्यं विरुद्धं भगवस्तव नान्यस्य कस्यचित् । निर्प्रन्थता परा या च, या चोच्चैश्चक्रवर्तिता ॥६॥

हे भगवन् । श्रेष्ठ निर्ग्रन्थता (नि स्पृहता) ग्रीर उत्कृष्ट चक्रवितित्व (धर्म सम्राट् पदवी) ये दो विरुद्ध वातें ग्रापके ग्रतिरिक्त ग्रन्य किसी भी देव में नही है। (६)

> नारका श्रिप मोदन्ते, यस्य कल्याणपर्वसु । पवित्र तस्य चारित्र, को वा वर्णियतु क्षमः ? ।।७।।

श्रयवा तो जिनके पाचो कल्यागाक पर्वो मे नारकीय जीव भी सुख प्राप्त करते हैं, उनके पवित्र चारित्र का वर्णन करने मे कीन समर्थ है। (७)

> शमोऽद्भुतोऽद्भुत रूपं, सर्वात्ममु कृपाद्भुता । सर्वाद्भुतनिघीशाय, तुम्य भगवते नम ।।८।।

श्रद्भृत समता, श्रद्भृत रूप श्रीर समस्त प्राणियो पर श्रद्भुत कृपा करने वाले तथा समस्त श्रद्भुतो के महानिघान हे भगवन् । श्रापको नमस्कार हो। (८)

गयारहवा प्रकाश

निघ्नन्परीपहचमूमुपसर्गान् प्रतिक्षिपन् । प्राप्तोऽसि शमसोहित्यं, महतां कापि वैदुषी ।।१।।

हे नाथ । परोपहों की सेना का नहार करने वाले तथा उपसर्गों का तिरस्कार करने वाले श्रापने समता रूपी श्रमृत की तृष्ति प्राप्त की है। श्रहों ! वडों की चतुराई कुछ श्रद्भुत होती है। (१)

> ग्ररवतो भुक्तवानमुक्ति -मद्विष्टो हतवान्द्विषः । घहो । महात्मना कोऽपि, महिमा लोकदुर्लभः ॥२॥

हे नाय । श्राप राग-रिहत है फिर भी मुक्ति-रमणी का जपभोग करते हैं श्रोर होप-रिहत हैं फिर भी श्राप श्रातिरक रात्रुश्रो का सहार करते हैं। घहो । लोक मे दुर्नभ महान श्रात्माश्रो की महिमा कोई अद्भुत ही होती है। (२)

दसवा प्रकाश

मत्प्रसत्तेस्त्वत्प्रसादस्त्वत्प्रसादादियं पुनः । इत्यन्योन्याश्रय भिन्धि, प्रसीद भगवन् ! मयि ॥१॥

हे भगवन् मेरी प्रसन्नता से आपकी प्रसन्नता और आपकी प्रसन्नता से मेरी प्रसन्नता इस प्रकार के अन्योन्याश्रय दोष का आप भेदन करे और मुभ पर प्रसन्न हो। (१)

> निरीक्षितुं रूपलक्ष्मीं, सहस्राक्षोऽपि न क्षम । स्वामिन् ! सहस्रजिह्वोऽपि, शक्तो वक्तुं न ते गुर्णान् ॥२॥

हे स्वामी ! आपके रूप की शोभा निहारने के लिये हजार नेत्रो वाला (इन्द्र) भी समर्थ नही है तथा आपका गुरा-गान करने के लिये हजार जीभ वाला (शेष नाग) भी समर्थ नही है। (२)

> संशयान् नाथ ! हरसेऽनुत्तरस्विगिगामिप । स्रतः परोऽपि कि कोऽपि, गुगा स्तुत्योऽस्ति वस्तुत ।।३।।

हे नाथ ! ग्राप यहा है तो भी ग्रनुत्तर विमान-वासी देवताग्रो के सशय दूर करते है। ग्रतः ग्रन्य कोई भी गुण वस्तुत परमार्थं से स्तुति करने योग्य है ? ग्रर्थात् नहीं है। (३)

इदं विरुद्धं श्रद्धतां, कथमश्रद्दधानकः!। श्रानन्दं सुखसवितश्च, विरक्तिश्च सम त्विय ॥४॥

श्रखण्ड श्रानन्द स्वरूप सुख मे श्रासक्ति एव सकल सग से विरक्ति ये दो विपरीत वाते श्रापमें एक साथ विद्यमान है। श्रश्रद्धालु मनुष्य इस वात की श्रद्धा कैसे करे ? (४)

नाथेयं घट्यमानापि, दुर्घटा घटतां कथम् ? । उपेक्षा सर्वसत्त्वेषु, परमा चोपकारिता ॥॥॥

हे नाथ ! समस्त प्राणियो से उपेक्षा (राग-द्वेष-रहितता) और परमोपकारिता (सम्यग् दर्शन म्रादि मोक्ष मार्ग की उपदेशकता) ये दो वाते ग्राप मे प्रत्यक्ष प्रतीत होती होने से घटित, फिर भी ग्रन्य देवो में ग्रघटित हो सकती है ? (५)

ह्यं विरुद्धं भगवस्तव नान्यस्य कस्यचित्। निर्ग्रन्थता परा या च, या चोच्चैश्चक्रवर्तिता ॥६॥

हे भगवन् । श्रेष्ठ निर्ग्रन्थता (नि स्पृहता) ग्रौर उत्कृष्ट चक्रवितत्व (धर्म सम्राट् पदवी) ये दो विरुद्ध बातें ग्रापके ग्रतिरिक्त ग्रन्य किसी भी देव मे नही है। (६)

> नारका ग्रपि मोदन्ते, यस्य कल्याणपर्वसु । पवित्र तस्य चारित्रं, को वा वर्णियतुं क्षमः? ।।७।।

ग्रथवा तो जिनके पाचो कल्याएक पर्वों में नारकीय जीव भी सुख प्राप्त करते हैं, उनके पवित्र चारित्र का वर्णन करने में कौन समर्थ है। (७)

> शमोऽद्भुतोऽद्भुत रूपं, सर्वात्मसु कृपाद्भुता । सर्वाद्भुतनिघीशाय, तुम्य भगवते नम ॥५॥

ग्रद्भृत समता, ग्रद्भृत रूप ग्रौर समस्त प्राणियो पर ग्रद्भृत कृपा करने वाले तथा समस्त ग्रद्भृतो के महानिधान हे भगवन् । ग्रापको नमस्कार हो। (८)

गयारहवा प्रकाश

निघ्नन्परीषहचमूमुपसर्गान् प्रतिक्षिपन् । प्राप्तोऽसि शमसौहित्य, महतां कापि वैदुषी ।।१।।

हे नाथ । परीषहो की सेना का सहार करने वाले तथा उपसर्गों का तिरस्कार करने वाले आपने समता रूपी अमृत की तृष्ति प्राप्त की है। श्रहो । बडो की चतुराई कुछ अद्भुत होती है। (१)

> श्ररक्तो भुक्तवान्मुक्ति -मद्विष्टो हतवान्द्विष । श्रहो । महात्मना कोऽपि, महिमा लोकदुर्लभः ।।२।।

हे नाथ । ग्राप राग-रहित हैं फिर भी मुक्ति-रमग्गी का उपभोग करते हैं ग्रीर हें प-रहित हैं फिर भी ग्राप ग्रातरिक शत्रुग्नो का सहार करते हैं। ग्रहो । लोक मे दुर्लभ महान ग्रात्माग्नो की महिमा कोई ग्रद्भुत ही होती है। (२)

सर्वथा निजिगीषेगा, भीतभीतेन चागसः। त्वया जगत्त्रयं जिग्ये, महतां कापि चातुरी ॥३॥

हे नाथ ! सर्वथा जीतने की ग्रनिच्छा होने पर भी तथा पाप से ग्रत्यन्त भयभीत होते हुए भी ग्रापने तीनो लोको को जीत लिया है। सच-मुच महान ग्रात्मात्रो की चतुराई कोई ग्रद्भुत ही होती है। (३)

> दत्त न किञ्चित्कस्मैचिन्नात्तं किञ्चित्कुतश्चन । प्रभुत्वं ते तथाप्येतत्, कला कापि विपश्चिताम् ॥४॥

हे नाथ । श्रापने किसी को कुछ (राज्य श्रादि) दिया नहीं श्रीर किसी से कुछ (दण्ड श्रादि) लिया नहीं, तो भी श्रापका यह प्रभुत्व है जिससे यह लगता है कि कुशल पुरुषों की कला कोई श्रद्भुत होती है। (४)

> यद्देहस्यापि दानेन, सुकृतं नाजित परै । उदासीनस्य तन्नाथ[।], पादपीठे तवालुठत् ॥५॥

हे नाथ ¹ देह का दान देकर भी ग्रन्यों ने जो सुकृत नहीं कमाया, वह सुकृत उदातीनता से रहने वाले श्रापके पादपीठ में लेटता रहा। (५)

> रागादिषु न्शसेन, सर्वात्मसु कृपालुना । भीमकान्तगुरोनोच्चैः, साम्राज्य साधितं त्वया ॥६॥

हे नाथ । राग ग्रादि के प्रति कूर एव समस्त प्राणियो के प्रति दयालु ग्रापने भयानकता तथा मनोहरता रूपी दो गुणो से महान् साम्राज्य प्राप्त कर लिया है। (६)

> सर्वे सर्वात्मनाऽन्येषु, बोषास्त्विय पुनर्गुणाः । स्तुतिस्तवेयं चेन्मिण्या, तत्त्रमार्गं सभासदः ॥७॥

हे नाथ । पर-तीथिको मे समस्त प्रकार के समस्त दोष हैं श्रीर श्रापमे समस्त प्रकार से समस्त गुण हैं। यदि श्रापकी यह स्तुति मिथ्या हो तो सभासद प्रमाण है। (७)

> महोयसामिप महान्, महनीयो महात्मनाम् । ग्रहो ! मे स्तुवतः स्वामी, स्तुतेर्गोचरमागमत् ॥६॥

ग्रहो । हर्प की वात यह है कि वड़े से वड़े ग्रीर महात्माग्रो द्वारा भी पूजनीय स्वामी की ग्राज में स्तुति कर रहा हूँ। (८)

बारहवा प्रकाश

पट्चम्यासादरैः पूर्वं, तथा वैराग्यमाहरः। यथेह जन्मन्याजन्म, तत्सात्मीभावमागमत् ॥१॥

हे नाथ । पूर्वभवो मे श्रादर पूर्वक के सुन्दर अभ्यास से श्रापने उस प्रकार का वैराग्य प्राप्त किया था कि जिससे श्रापको इस (चरम) भव मे जन्म से ही सहज वैराग्य प्राप्त हुआ है। साराश यह है कि आप अन्म से ही विरागी हैं। (१)

दु.खहेतुषु वैराग्य, न तथा नाथ । निस्तुषम् । मोक्षोपायप्रवीगस्य, यथा ते सुखहेतुषु ॥२॥

हे नाथ ! मोक्ष प्राप्ति के उपाय मे प्रवीरा ग्रापको, सुख-हेतुग्रो मे जिस प्रकार का वैराग्य होता है, उसी प्रकार का वैराग्य दुःख-हेतुग्रो मे नहीं होता, क्यों कि दु ख-हेतु वाला वैराग्य क्षिणिक होने से भव-साधक है भीर सुख - हेतु वैराग्य निश्चल होने से मोक्ष - साधक है। (२)

विवेकशाणैर्वेराग्य, -शस्त्र शातं त्वया तथा । यथा मोक्षेऽपि तत्साक्षा -वकुण्ठितपराक्रम् ॥३॥

हे नाथ । श्रापने विवेक रूपी शराग से वैराग्य रूपी शस्त्र को उस प्रकार से घिस कर तीक्ष्ण किया है कि जिससे मोक्ष के लिये भी उस वैराग्य रूपी शस्त्र का पराक्रम साक्षात् श्रकुण्ठित रहा। (३)

यदामरुन्नरेन्द्रश्री -स्त्वया नाथोपभुज्यते। यत्र तत्र रतिर्नाम, विरक्तत्व तदापि ते।।४॥

हे नाथ । जब श्राप पूर्व भव मे देव-ऋद्धि का श्रोर मनुष्य भव मे राज्य ऋद्धि का उपभोग करते हैं तब भी जहा जहा ग्रापकी रित (ग्रासिक्त) प्रतीत होती है वह भी विरक्ति होती है, क्यों कि उस ऋद्धि का उपभोग करते हुए भी भोग-फल वाले कर्म का विना भोगे हुए क्षय नही होगा यह सोचकर श्राप ग्रनासिक से ही उपभोग करते है। १ (४)

इस क्लोक मे भगवान के पूर्व भव तथा राज्य ग्रवस्था की वैराग्य दशा का वर्णन है।

श्रनुक्षित - फलोदग्रा -दनिपातगरीयसः । श्रसङ्कित्पितकल्पद्रो, -स्त्वत्तः फलमवाप्नुयाम् ॥५॥

समस्त वृक्ष जल-सिंचन से ही समय पर फल देते हैं, गिरने पर ही अत्यन्त बोभ वाले होते हैं और प्रार्थना करने से ही वाछित वस्तु प्रदान करते है, परन्तु आप तो सिंचन किये बिना ही उदग्र-परिपूर्ण फल-दायक, गिरे बिना ही अर्थात् स्व-स्वरूप में रहने से ही गौरवपूर्ण तथा प्रार्थना किये बिना ही वाछित प्रदान करने वाले है। ऐसे (अपूर्व) कल्प-वृक्ष स्वरूप आपसे में फल प्राप्त करता हूँ। (५)

ग्रसङ्गस्य जनेशस्य, निर्ममस्य कृपात्मनः। मध्यस्थस्य जगत्त्रातु -रनङ्कस्तेऽस्मि किङ्करः ॥६॥

इसं क्लोक मे परस्पर विरुद्ध विशेषण बताये है। जो सगरिहत होता है वह लोक का स्वामी नहीं होता, जो ममता रहित हो वह किमी पर कुपा नहीं करता श्रीर जो मध्यस्य-उदासीन हो वह श्रन्य की रक्षा नहीं करता; परन्तु श्राप तो समस्त सग के त्यागी होते हुए भी जगत् के लोगों के द्वारा सेव्य होने के कारण जनेश है, ममता रहित होते हुए भी जगत् के समस्त प्राण्यियो पर कुपा करने वाले हैं, राग-द्वेष का नाश किया हुश्रा होने से मध्यस्थ – उदासीन होते हुए भी एकान्त हितकारी धर्म का उपदेश देने से ससार से त्रस्त जगत् के जीवों के रक्षक है। उपर्युक्त विशेषणों से युक्त चिन्ह – कुग्रह रूपी कलक रहित श्रापका मैं सेवक हूँ। (जो सेवक होता है वह तलवार, बन्दूक श्रादि किसी चिन्ह से युक्त होता है।) (६)

श्रगोपिते रत्निषा -ववृते कल्पपादपे । श्रचित्त्ये चिन्तारत्ने च, त्वय्यात्माऽयं मर्पापितः ।।७।।

नही छिपाये हुए रत्न के निधि के समान, कर्मरूपी बाड से अपरिवृत कल्पवृक्ष के समान और अचिन्तनीय चिन्तामिए। रत्न के समान आपको (आपके चरएा-कमलो में) मैंने अपनी यह आत्मा समर्पित कर दी है। (७)

> फलानुघ्यानवन्ध्योऽहं, फलमात्रतनुर्भवान् । प्रसीद यत्कृत्यविद्यो, किंकर्तव्यजडे मयि ॥५॥

हे नाथ । श्राप सिद्धत्व स्वरूप फल वाले केवल देह युक्त है। मैं ज्ञान श्रादि के फल सिद्धत्व के यथावस्थित स्मरण से भी रिहत हू। श्रत मैं क्या कर्हें ? इस विषय में मैं जड (मूढ) हू। मुक्त पर कृपा करके श्राप मुक्त करने योग्य विधि बताने की कृपा करे। (८)

चौदहवां प्रकाश

मनोवच काय-चेष्टा , कष्टा संहृत्य सर्वथा । श्लथत्वेनैव भवता, मनःशल्यं वियोजितम् ॥१॥

मन, वचन, काया की सावद्य चेष्टाम्रो का सर्वथा परित्याग करके भ्रापने स्वभाव से ही (शिथिलता से ही) मन रूपी शल्य को दूर किया है। (१)

> सयतानि न चाक्षाणि, नैवोच्छृह्मलितानि च । इति सम्यक् प्रतिपदा, त्वयेन्द्रियजय कृतः ॥२॥

हे प्रभु । ग्रापने बल पूर्वक इन्द्रियो को नियन्त्रित नही की तथा लोलुपता से उन्हें स्वतन्त्र भी नहीं छोडी, परन्तु यथावस्थित वस्तु तत्त्व को ग्रापनार करने वाले ग्रापने सम्यक् प्रकार से कुशलता पूर्वक इन्द्रियो पर विजय प्राप्त की है। (२)

योगस्याष्टाङ्गता नून, प्रपञ्चः कथमन्यथा ? । श्राबालभावतोऽप्येष, त्व सात्म्यमुपेयिवान् ॥३॥

हे योग रूपी समुद्र का पार पाये हुए भगवन् । यम, नियम, ग्रासन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान ग्रीर समाधि ये योग के ग्राठ ग्रज्ज बताये गये हैं। वे केवल प्रपच (विस्तार) प्रतीत होते है, क्यों कि यदि ऐसा नहीं हो तो ग्रापको बाल्यावस्था से ही ये योग स्वाभाविक रीति से ही क्यों प्राप्त हो ? ग्र्यात् यह योग प्राप्त का कम सामान्य योगियों की ग्रपेक्षा से है। श्राप तो योगियों के भी नाथ हैं, ग्रत ग्रापके लिये ऐसा होने में कोई श्राह्चर्य नहीं है। (३)

विषयेषु विरागस्ते, चिर सहचरेष्विष । योगे सात्म्यदृष्टेऽपि, स्वामिन्तिदमलोकिकम् ॥४॥

दीर्घकाल से परिचित विषयों के प्रति भी श्रापको वैराग्य है श्रीर कदापि नहीं देखे हुए योग के लिये तन्मयता है। हे स्वामी श्रापका यह चिरत्र कोई श्रलौकिक है। (४)

जिन मिति]

श्रनुक्षित - फलोदग्रा -दिनपातगरीयसः । श्रसङ्कित्पितकत्पद्रो, -स्त्वत्तः फलमवाप्नुयाम् ॥५॥

समस्त वृक्ष जल-सिंचन से ही समय पर फल देते हैं, गिरने पर ही श्रत्यन्त बोभ वाले होते हैं श्रीर प्रार्थना करने से ही वाछित वस्तु प्रदान करते है, परन्तु श्राप तो सिंचन किये बिना ही उदग्र-परिपूर्ण फल-दायक, गिरे बिना ही श्रर्थात् स्व-स्वरूप मे रहने से ही गौरवपूर्ण तथा प्रार्थना किये बिना ही वाछित प्रदान करने वाले हैं। ऐसे (श्रपूर्व) कल्प-वृक्ष स्वरूप श्रापसे मैं फल प्राप्त करता हूँ। (५)

ग्रसङ्गस्य जनेशस्य, निर्ममस्य कृपात्मनः। मध्यस्थस्य जगत्त्रातु –रनङ्कस्तेऽस्मि किङ्करः॥६॥

इस क्लोक मे परस्पर विरुद्ध विशेषण बताये है। जो सगरिहत होता है वह लोक का स्वामी नहीं होता, जो ममता रहित हो वह किमी पर कृपा नहीं करता श्रीर जो मध्यस्थ-उदासीन हो वह श्रन्य की रक्षा नहीं करता; परन्तु श्राप तो समस्त सग के त्यागी होते हुए भी जगत् के लोगों के द्वारा सेव्य होने के कारण जनेश है, ममता रहित होते हुए भी जगत् के समस्त प्राणियो पर कृपा करने वाले है, राग-द्वेष का नाश किया हुआ होने से मध्यस्थ – उदासीन होते हुए भी एकान्त हितकारी धर्म का उपदेश देने से ससार से त्रस्त जगत् के जीवों के रक्षक हैं। उपर्युक्त विशेषणों से युक्त चिन्ह – कुग्रह रूपी कलक रहित श्रापका मैं सेवक हूँ। (जो सेवक होता है वह तलवार, बन्दूक श्रादि किसी चिन्ह से युक्त होता है।) (६)

श्रगोपिते रत्निधा -ववृते कल्पपादपे । श्रचित्त्ये चिन्तारत्ने च, त्वय्यात्माऽयं मयापितः ।।७।।

नही छिपाये हुए रत्न के निधि के समान, कर्मरूपी वाड से ग्रपरिवृत कल्पवृक्ष के समान ग्रोर ग्रचिन्तनीय चिन्तामिए। रत्न के समान ग्रापको (ग्रापके चरएा-कमलो में) मैंने ग्रपनी यह ग्रात्मा समिपत कर दी है। (७)

> फलानुध्यानवन्ध्योऽहं, फलमात्रतनुर्भवान् । प्रसीद यत्कृत्यविधी, किंकर्तव्यजडे मयि ॥५॥

हे नाथ । ग्राप सिद्धत्व स्वरूप फल वाले केवल देह युक्त हैं। मैं ज्ञान ग्रादि के फल सिद्धत्व के यथावस्थित स्मरण से भी रहित हू। ग्रत मैं क्या कर्ले ? इस विषय मे मैं जड (मूढ) हू। मुभ पर कृपा करके ग्राप मुभे करने योग्य विधि बताने की कृपा करें। (८)

-- o --

चौदहवा प्रकाश

मनोवच काय-चेष्टा , कष्टा सहृत्य सर्वथा । श्लथत्वेनेव भवता, मनःशल्य वियोजितम् ॥१॥

मन, वचन, काया की सावद्य चेष्टाम्रो का सर्वथा परित्याग करके भ्रापने स्वभाव से ही (शिथिलता से ही) मन रूपी शल्य को दूर किया है। (१)

> संयतानि न चाक्षाणि, नैवोच्छृङ्खलितानि च । इति सम्यक् प्रतिपदा, त्वयेन्द्रियजय कृतः ।।२।।

हे प्रभु ! ग्रापने बल पूर्वक इन्द्रियो को नियन्त्रित नहीं की तथा लोलुपता से उन्हें स्वतन्त्र भी नहीं छोडी, परन्तु यथावस्थित वस्तु तत्त्व को ग्रागीकार करने वाले श्रापने सम्यक् प्रकार से कुशलता पूर्वक इन्द्रियो पर विजय प्राप्त की है। (२)

> योगस्याष्टाङ्गता नून, प्रपञ्चः कथमन्यथा ^२ । श्राबालभावतोऽप्येष, तव सात्म्यमुपेयिवान् ॥३॥

हे योग रूपी समुद्र का पार पाये हुए भगवन् । यम, नियम, श्रासन, प्राणायाम, प्रत्याहार, घारणा, घ्यान और समाधि ये योग के श्राठ श्रङ्ग बताये गये हैं। वे केवल प्रपच (विस्तार) प्रतीत होते हैं, क्योकि यदि ऐसा नहीं हो तो श्रापको बाल्यावस्था से ही ये योग स्वाभाविक रीति से ही क्यो प्राप्त हो ? श्रर्थात् यह योग प्राप्ति का कम सामान्य योगियो की श्रपेक्षा से है। श्राप तो योगियो के भी नाथ हैं, श्रत श्रापके लिये ऐसा होने में कोई श्रारचर्य नहीं है। (३)

> विषयेषु विरागस्ते, चिर सहचरेष्विष । योगे सात्म्यवृष्टेऽपि, स्वामिन्तिदमलौकिकम् ॥४॥

दीर्घकाल से परिचित विषयो के प्रति भी श्रापको वैराग्य है श्रौर कदापि नहीं देखे हुए योग के लिये तन्मयता है। हे स्वामी । श्रापका यह चरित्र कोई श्रलौकिक है। (४)

तथा परे न रज्यन्त, उपकारपरे परे । यथाऽपकारिंगा भवा -नहो ! सर्वमलौकिकम् ॥४॥

उपकार करने में तत्पर भक्तो पर भी अन्य देव उतने प्रसन्न नहीं होते जितने प्रसन्न आप आपका अपकार करने वाले (कमठ, गोशाला आदि) प्राणियो पर होते हैं। अहो ! आपका समस्त अलौकिक है। (५)

हिंसका श्रप्युपकृता, श्राश्रिता श्रप्युपेक्षिताः । इदं चित्रं चरित्र ते, के वा पर्यनुयुञ्जताम् ? ॥६॥

हे वीतराग । (चण्डकौशिक भ्रादि) हिंसको पर भ्रापने उपकार किया है भ्रीर (सर्वानुभूति तथा सुनक्षत्रमुनि भ्रादि) भ्राश्रितो की भ्रापने उपेक्षा की है। श्रापके इस विचित्र चरित्र के विरुद्ध प्रश्न भी कौन उठा सकता है।(६)

तथा समाघौ परमे, त्वयात्माविनिवेशितः। सुखी दुःख्यस्मि नास्मीति, यथा न प्रतिपन्नवान् ॥७॥

त्रापने ग्रपनी ग्रात्मा को परम समाधि मे उस प्रकार स्थापित कर दी है कि जिससे मैं सुखी हू ग्रथवा नहीं ? ग्रथवा मैं दुःखी हू ग्रथवा नहीं, इसका भी ग्रापको घ्यान न रहा, उसका ज्ञान होने की ग्रापने तनिक भी परवाह तक नहीं की। (७)

घ्याता घ्येयं तथा ध्यानं, त्रयमेकात्मतां गतम् । इति ते योगमाहात्म्यं, कथ श्रद्धीयतां परे ? ॥८॥

ध्याता, ध्येय ग्रीर ध्यान तीनो ग्रापमे श्रभेद रूप मे है। इस प्रकार के ग्रापके योग के माहातम्य मे ग्रन्य किस प्रकार श्रद्धा कर सकते है ? (८)

पद्रहवा प्रकाश

जगज्जैत्रा गुगास्त्रात -रन्ये तावत्तवासताम् । उदात्तशान्तया जिग्ये, मुद्रयेव जगत्त्रयी ॥१॥

हे जग-रक्षक । जगत को जीतने वाले आपके अन्य गुरा तो दूर रहे परन्तु आपकी उदात्त (पराजित न कर सकें वैसी) एव शान्त मुद्रा ने ही तीनो लोको पर विजय प्राप्त कर ली है। (१) मेरुस्तृणीकृतो मोहात्, पयोधिर्गोष्पदीकृतः । गरिष्ठेम्यो गरिष्ठो यैः, पाष्मभिस्त्वमपोहितः ॥२॥

हे नाय । इन्द्र म्रादि से भी महान् म्रापका जिन्होने म्रनादर किया है उन्होने म्रज्ञान से मेरु को तृगा के समान समका है म्रौर समुद्र को गाय के खुर के समान माना है। (२)

> च्युतश्चिन्तामिताः पाणे -स्तेषां लब्धा सुधा सुधा । यैस्त्वच्छासनसर्वस्व -मज्ञानैनित्मसात्कृतम् ।।३।।

जिन भ्रज्ञानियो ने आपके शासन का सर्वस्व (धन) अपने अधीन नहीं किया, उनके हाथ से चिन्तामिए। रत्न गिर पड़ा है और प्राप्त हुआ अमृत व्यर्थ गया है। (३)

यस्त्वय्यपि दघौ दृष्टि -मुल्मुकाकारघारिग्गीम् । तमाशुशुक्षणिः साक्षा -दालप्यालमिद हि वा ।।४।।

हे भगवन् । ग्रापके लिये भी जो मनुष्य जलते उल्मुक के ग्राकार को घारण करने वाली दृष्टि रखते हैं उन्हें साक्षात् ग्राग्न जला डाले ग्रथवा ऐसा वचन नहीं कहना ही उत्तम है। (४)

त्वच्छासनस्य साम्य ये, मन्यन्ते शासनान्तरैः। विषेण तुल्य पीयूष, तेषा हन्त[ा] हतात्मनाम्।।५।।

हे नाथ । सेद की बात है कि जो ग्रापके शासन को श्रन्य शासनो के समान मानते हैं उन ग्रज्ञानियो के लिये ग्रमृत भी विष के समान है। (५)

> भ्रनेडसूका भूयासु –स्ते येषां त्विय मत्सर । गुभोदकीय वैकल्य –मिप पापेषु कर्मसु ।।६।।

है नाथ । जिन्हे ग्रापके प्रति ईर्जा है वे बहरे ग्रौर गूँगे हो जायें, क्यों पर-निन्दा का श्रवण एव उच्चारण ग्रादि पाप-कार्यों मे इन्द्रियों की रहितता शुभ परिणाम के लिये ही है, ग्रर्थात् कान एव जीभ के ग्रभाव मे आपकी निन्दा का श्रवण एव उच्चारण नहीं कर सकने से वे दुर्गति मे नहीं जायेंगे, यह उन्हें भविष्य मे महान् लाभ है। (६)

तेभ्यो नमोऽञ्जलिरयं, तेषां तान्समुपास्महे । त्वच्छासनामृतरसै -यैंरात्माऽसिच्यतान्वहम् ॥७॥

हे नाथ ! आपके शासन रूपी अमृत रस से जिन्होंने अपनी आतमा का सदा सिचन किया है, उन्हें हमारा नमस्कार हो। उन्हें हम दो हाथ जोडते हैं और उनकी हम उपासना करते है। (७)

भुवे तस्यै नमो यस्या, तव पादनखांशवः । चिरं चूडामग्गोयन्ते, जूमहे किमतः परम्? ॥ ।। ।।

हे नाथ ¹ उस भूमि को भी नमस्कार हो जहा ग्रापके चरणो के नाखूनो की किरणे चिरकाल तक चूडामिए। के समान सुशोभित होती है। इससे ग्रिधक हम क्या कहे ? (८)

जन्मवानस्मि घन्योऽस्मि, कृतकृत्योऽस्मि यन्मुहु । जातोऽस्मि त्वद्गुणग्राम –रामणीयकलम्पटः ।।६।।

हे नाथ ! ग्रापके गुरा समूह की रमणीयता मे मैं बार-बार तन्मय हुग्रा हूँ जिससे मेरा जन्म सफल है, मैं धन्य हूँ, कृतकृत्य हूँ। (६)

सोलहवाँ प्रकाश

त्वन्मतामृतपानोत्था, इतः शमरसोर्मय । पराणयन्ति मां नाथ !, परमानन्दसम्पदम् ॥१॥

हे नाथ ! एक ग्रोर ग्रापके ग्रागम रूपी ग्रमृत के पान से उत्पन्न उपशम रस की तरगे मुभ्ते बलपूर्वक मोक्ष की सम्पदा प्राप्त कराती हैं। (१)

इतश्चानादिसंस्कार ~मूच्छितो मूच्छंयत्यलम् । रागोरगविषावेगो, हताशः करवाणि किम्? ॥२॥

तथा दूसरी ग्रोर ग्रनादिकालीन सस्कार से उत्पन्न राग रूपी उरग (साँप) के विप का वेग मुभे मूच्छित कर देता है - मोहित कर देता है। विनष्ट ग्रागा वाला मैं ग्रव क्या करू ? (२)

रागाहिगरलाघ्रातोऽकार्षं यत्कर्मवैशसम् । तद्वक्तुमप्यशक्तोऽस्मि, धिग् मे प्रच्छन्नपापताम् ॥३॥

हे नाथ । राग रूपी साँप के विप से व्याप्त मैंने जो अयोग्य कार्य किये हैं, उनका वर्णन करने में भी मैं समर्थ नहीं हूँ। अत मेरे प्रच्छन्न पापो को धिक्कार है। (३)

> क्षण सक्त. क्षरा मुक्त , क्षरा क्रुद्धः क्षणं क्षमी । मोहाद्ये क्रीडयैवाह, कारितः कपिचापलम् ॥४॥

हे प्रभु । मैं क्षण भर सासारिक सुखो मे ग्रासक्त हुग्रा हूँ तो क्षण भर उक्त सुख के विपाक का विचार करने से विरक्त हुग्रा हूँ; क्षण भर को घी हुग्रा हूँ तो क्षण भर के लिये क्षमाशील हुग्रा हूँ। इस प्रकार की चपल कीडाग्रो से ही मोह ग्रादि मदारियो ने मुक्ते बन्दर की तरह नचाया है। (४)

> प्राप्यापि तव सम्बोधि, मनोवाक्कायकर्मजैः । दुश्चेष्टितैर्मया नाथ[ा], शिरसि ज्वालितोऽनल ।।४।।

हे नाथ । ग्रापका धर्म पाकर भी मैंने मन, वचन श्रीर काया के व्यापारों से उत्पन्न दुष्ट चेष्टाग्रों से सचमुच ग्रपने मस्तक पर ग्रिग्न जलाई है। (४)

त्वय्यपि त्रातरि त्रात -र्यन्मोहादिमलिम्लुचै । रत्नत्रय मे ह्रियते, हताशो हा हतोऽस्मि तत् ॥६॥

हे रक्षक । श्राप रक्षक विद्यमान हैं तो भी मोह श्रादि चोर मेरे ज्ञान, दर्शन श्रीर चारित्र रूपी तीन रत्नो का हरण करके जा रहे हैं, जिससे हा । मैं हताश हो गया हूँ। (६)

भ्रान्तस्तीर्थानि हण्टस्त्व, मयैकस्तेषु तारकः । तत्तवाड् घ्रौ विलग्नोऽस्मि, नाथ । तारय तारय ॥७॥

मैं अनेक मतो मे भटका हूँ परन्तु उन सव मे मैंने आपको ही तार ए हो के रूप मे देखा है, जिससे में आपके चर एो से लिपट गया हूँ। अति हे नाय । आप कृपा करके मेरा उद्घार करो, मेरा उद्घार करो। (७)

भवत्त्रसादेनैवाह -मियतीं प्रापितो भुवम् । श्रौदासीन्येन नेदानी, तव युक्तमुपेक्षितुम् ॥८॥

हे नाथ ! आपकी कृपा से ही मैं इतनी भूमिका को, आपकी सेवा की योग्यता को प्राप्त कर सका हूँ। अत अब उदासीनता से मेरी उपेक्षा करना योग्य नहीं है, उचित नहीं है। (८)

ज्ञाता तात ! त्वमेवंक -स्त्वत्तो नान्य कृपापरः । नान्यो मत्तः कृपापात्र -मेधि यत्कृत्यकर्मठः ॥६॥

हे तात् । श्राप ही एक ज्ञाता है। श्रापसे श्रधिक अन्य कोई दयालु नहीं है श्रौर मुभसे श्रधिक अन्य कोई कृपापात्र (दया पात्र) नहीं है। करने योग्य कार्य मे ग्राप कुज्ञल है अत जो करने योग्य हो उसे आप करने के लिये तत्पर बनें। (६)

सत्रहवाँ प्रकाश

स्वकृतं दुष्कृत गर्हन्, सुकृत चानुमोदयन्। नाथ! त्वच्चरणौ यामि, शरण शरणोजिभतः॥१॥

हे नाथ । िकये गये दुष्कृतो की गर्हा एव िकये गये सुकृतो की अनु-मोदना करता हुग्रा, अन्य की शरण से रिहत मैं श्रापके चरणो की शरण ग्रहण करता हूँ। (१)

मनोवाक्कायजे पापे, कृतानुमतिकारितैः। मिथ्या मे दुष्कृत भूया –दपुन क्रिययान्वितम्।।२।।

हे भगवन् । करने, कराने ग्रौर ग्रनुमोदना के द्वारा मन वचन काया से हुए पाप के लिए जो दुब्कृत लगा हो उसे पुन नहीं करने की प्रतिज्ञा से ग्रापके प्रभाव से मेरा वह दुष्कृत मिथ्या हो। (२)

> यत्कृत सुकृत किञ्चिद्, रत्नित्रितयगोचरम् । तत्सर्वमनुमन्येऽहं, मार्गमात्रानुसार्यपि ॥३॥

हे नाथ ¹ रत्नत्रयी के मार्ग का केवल अनुकरण करने वाला जो कुछ भी मुक़त मैंने किया हो उस सवकी मैं अनुमोदना करता हूँ। (३)

सर्वेषामर्हदादीना, यो योऽर्हत्त्वादिको गुराः। श्रनुमोदयामि त त, सर्वं तेषां महात्मनाम्।।४।।

ग्ररिहन्त, सिद्ध, ग्राचार्य, उपाध्याय ग्रौर साधुग्रो मे जो जो ग्राईन्त्य, सिद्धत्व, पचाचार के पालन मे प्रवीएाता, सूत्रो की उपदेशकता ग्रौर रत्नत्रयी की साधना ग्रादि जो जो गुए है उन समस्त गुएगो की मैं ग्रनुमोदना करता हूँ। (४)

त्वा त्वत्फल मूतान् सिद्धां -स्त्वच्छासनरतान्मुनीन् । त्वच्छासन च शररा, प्रतिपन्नोऽस्मि भावतः ॥५॥

हे भगवन् । भाव ग्रिरहन्त ग्रापकी, ग्रापके फलभूत (ग्रिरहन्तो का फल सिद्ध है) समस्त कर्मो से मुक्त एव लोक के ग्रग्रभाग पर स्थित सिद्ध भगवानो की, ग्रापके शासन मे श्रनुरक्त मुनिवरो की ग्रौर ग्रापके शासन की शरए। मैने भावपूर्वक ग्रहण की है। (५)

क्षमयामि सर्वान्सत्वान्सर्वे क्षाम्यन्तु ते मिय । मैत्र्यस्तु तेषु सर्वेषु, त्वदेकशररास्य मे ॥६॥

हे नाथ ! समस्त प्राणियो से मैं क्षमा याचना करता हूँ, समस्त प्राणी मुभे क्षमा करे, मेरे प्रति कलुपता को त्याग कर मुभे क्षमा प्रदान करे। केवल ग्रापके ही शरणागत मुभ मे उन सबके प्रति मैत्री, मित्रभाव, हितवुद्धि हो। (६)

> एकोऽह नास्ति मे कश्चिन्, न चाहमिष कस्यचित् । त्वदङ् च्रिशरणस्थस्य, मम दैन्य न किञ्चन ॥७॥

हे नाथ ! मैं अकेला हूँ, मेरा कोई नही है और मैं भी किसी का नही हूँ, फिर भी आपके चरणो की शरण ग्रहण किये हुए मुफ में तिनक भी दीनता नहीं है। (७)

> यावन्नाप्नोमि पदवीं, परा त्वदनुभावजाम् । तावन्मिय शरण्यत्व, मा मुञ्चः शरण श्रिते ॥ ।।।।

हे विश्व-बरसल ! आपके प्रभाव से प्राप्त होने वाली उत्कृष्ट पदवी—मुक्तिपद मुभे प्राप्त न हो, तव तक शरणागत मेरे, आप पालक वने रहे, पालकता का त्याग नहीं करें। (८)

अठारहवाँ प्रकाश

न परं नाम मृद्धेव, कठोरमिप किञ्चन। विशेषज्ञाय विज्ञप्यं, स्वासिने स्वान्तशुद्धये।।१।।

केवल सुकोमल वचनो से ही नहीं, किन्तु विशेषज्ञ-हितकारी स्वामी को अन्त करण की शुद्धि के लिए कुछ कठोर वचनो से भी विनती करनी चाहिये। (१)

> न पक्षिपशुसिंहादि –वाहनासीनविग्रहः । न नेत्रगात्रवक्त्रादि –विकारविकृताकृतिः ॥२॥

हे स्वामिन् । लौकिक देवो की तरह श्रापका शरीर हस, गरुड श्रादि पक्षियो, छाग, वृषभ, सिंह, व्याघ्र श्रादि पशुश्रो के वाहन पर श्रारूढ नही है, तथा श्रापकी श्राकृति भी उन देवो की तरह नेत्र, गात्र (शरीर) श्रौर मुह श्रादि के विकारों से विकृत नहीं है। (२)

न शूलचापचक्रादि –शस्त्राङ्करपल्लवः। नाङ्गनाकमनीयाङ्ग –परिष्वङ्गपरायगः।।३।।

हे नाथ ! ग्राप ग्रन्य देवो की तरह कर-पल्लव त्रिशूल, धनुष एव चक्र ग्रादि शस्त्रों से चिन्हित नहीं हुए है, तथा ग्रापकी उत्सग (गोद) स्त्रियों के मनोहर ग्रग का ग्रालिगन करने में तत्पर नहीं हुई है। (३)

> न गर्हगायचरित -प्रकम्पितमहाजनः । न प्रकोपप्रसादादि -विडम्बितनरामरः ॥४॥

हे नाथ ! भ्रन्य देवो की तरह निन्दनीय चरित्र से भ्रापने महाजनो (उत्ताम पुरुषो) को प्रकम्पित नही किया, तथा प्रकोप एव प्रसाद (कृपा) के द्वारा भ्रापने देवताभ्रो भ्रौर मनुष्यो को विडम्बना मे नही डाला। (४)

> न जगज्जननस्थेम –विनाशविहितादरः । न लास्यहास्यगीतादि –विप्लोवप्लुतस्थितिः ॥५॥

हे नाथ ! अन्य देवो की तरह जगत् को उत्पन्न करने मे, स्थिर करने मे अथवा विनाश करने मे आपने आदर नही बताया तथा नटो के उचित नृत्य, हास्य और गीत आदि चेष्टाओं के द्वारा आपने अपनी स्थिति को उपद्रवयुक्त नही किया। (५) तदेव सर्वदेवेभ्य, सर्वथा त्व विलक्षणः। देवत्वेन प्रतिष्ठाप्य, कथ नाम परीक्षकैः?।।६।।

इस कारएा भगवन् । ग्राप समस्त देवो मे समस्त प्रकार से विलक्षण है, ग्रत परोक्षकगरण ग्रापको देव के रूप में कैसे प्रतिष्ठित करें (६)

श्रनुस्रोतः सरत्पर्ण -तृणकाष्ठादियुक्तिमत् । प्रतिस्रोत श्रयद्वस्तु, कया युक्त्या प्रतीयताम् ॥७॥

हे नाथ । पत्ते, तृगा (घास) ग्रौर काष्ठ ग्रादि वस्तु पानी के प्रवाह के ग्रनुकूल चले यह बात युक्ति-सगत है, परन्तु वे प्रवाह के प्रतिकूल चलें यह बात किस युक्ति से निश्चित की जाये ? (७)

श्रथवाऽल मन्दवृद्धि -परीक्षकपरीक्षर्गे । ममापि कृतमेतेन, वैयत्येन जगतप्रभो ? ।। ।।

ग्रथवा हे जगत्-प्रभु । मन्द बुद्धि-युक्त परीक्षको की परीक्षाग्रो से मुक्ति हुई तथा मुभे इस प्रकार की परीक्षा करने के हठाग्रह से मुक्ति हुई। (८)

> यदेव सर्वससारि -जन्तुरूपविलक्षराम्। परीक्षन्ता कृतिवियस्तदेव तव लक्षराम् ॥६॥

हे स्वामिन् । समस्त ससारी जीवो के स्वरूप से जो कोई विलक्षरा स्वरूप इस विश्व मे प्रतीत हो, वही ग्रापका लक्षरण है। इस प्रकार बुद्धिमान पुरुष परीक्षा करें। (६)

क्रोघलोभभयाक्रान्त, जगदस्माद्विलक्षराः ।

न गोचरो मृदुधिया, वीतराग! कथञ्चन ॥१०॥ हे वीतराग! यह जगत् कोघ श्रीर भय से श्राक्रान्त है, व्याप्त है, जविक श्राप कोध श्रादि से रहित होने के कारण विलक्षण हैं। श्रत मृदु (मन्द) वृद्धि वाले वहिर्मु ख पुरुषो को श्राप किसी भी प्रकार से गोचर (प्रत्यक्ष) नहीं हो सकते। (१०)

उन्नोसवाँ प्रकाश

सव चेतिस वर्तेऽह -मिति वार्त्तापि दुर्लभा । मिच्चित्ते वर्त्तसे चेत्त्व -मलमन्येन केनिचत् ।।१॥

हे नाथ । लोकोत्तर चरित्रवाले आपके चित्त मे मैं रहूँ यह तो असम्भव है परन्तु आपका मेरे चित्त मे रहना सम्भव है, और यदि ऐसा हो जाये तो मुभ्ने कोई अन्य मनोरथ करने की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। (१)

> निगृह्य कोपतः कांश्चित्, कांश्चित्तुष्ट्याऽनुग्रह्य च। प्रतार्यन्ते मुद्धियः, प्रलम्भनपरे परेः ॥२॥

हे नाथ । ठगने मे तत्पर अन्य देव कुछ मन्द बुद्धिवालो को कोप से— शाप आदि देकर और कुछ को प्रसाद से–वरदान आदि देकर ठगते है, परन्तु आप जिनके चित्त में हो वे मनुष्य ऐसे कुदेवों के द्वारा ठगे नही जाते। अत आप मेरे चित्त में रहे तो मैं कृतकृत्य ही हूँ। (२)

> श्रप्रसन्नात्कथ प्राप्यं, फलमेतदसङ्गतम्? । चिन्तामण्यादयः कि न, फलन्त्यपि विचेतनाः ? ॥३॥

हे नाथ । कदापि प्रसन्न नही होने वाले ग्रापसे फल कैसे प्राप्त किया जाये यह कहना ग्रसगत है, क्योंकि चिन्तामिए। रत्न ग्रादि विशिष्ट चेतना रहित हैं फिर भी क्या वे फल प्रदान नहीं करते ? ग्रवश्य करते हैं।

(विशिष्ट चेतना रहित चिन्तामिए। श्रादि स्वय किसी पर प्रसन्न नहीं होते, फिर भी विधिपूर्वक उनकी श्राराधना करने वाले को फल प्राप्त होता है। उसी तरह से वीतराग परमात्मा की विधिपूर्वक श्राराधना करने वाले को फल श्रवश्य प्राप्त होता है। (३)

वीतराग ! सपर्यातस्तवाज्ञापालनं परम्। श्राज्ञाऽऽराद्धा विराद्धा च, शिवाय च भवाय च ॥४॥

हे वीतराग । श्रापकी पूजा की श्रपेक्षा भी श्रापकी श्राज्ञा का पालन श्रेष्ठ है, क्यों कि श्राराधक श्राज्ञा मोक्ष के लिए होती है श्रीर विराधक श्राज्ञा ससार के लिए होती है। (४)

श्राकालमियमाज्ञा ते, हेयोपादेयगोचराः । श्रास्रवः सर्वथा हेय, उपादेयश्च संवरः ॥५॥

¹ सपर्यायास्तवाज्ञापालन

ग्रापकी यह ग्राज्ञा सदा हेय-उपादेय के विषय मे है, ग्रीर वह यह है कि ग्रास्त्रव समस्त प्रकार से हेय (त्याग करने योग्य) है ग्रीर सवर समस्त प्रकार से उपादेय (ग्रगीकार करने) योग्य करने है। (४)

> श्रास्त्रवो भवहेतु स्यात्, सवरो मोक्षकारणम् । इतीयमार्हती मुब्हि – रन्यदस्याः प्रपञ्चनम् ॥६॥

ग्रास्नव भय का कारण है ग्रीर सवर मोक्ष का कारण है। श्री ग्रिरहन्त देवो के उपदेश का यह सिक्षप्त रहस्य है। ग्रन्य समस्त उसका विस्तार है। (६)

इत्याज्ञाराधनपरा, ग्रनन्ता परिनिर्वृत्ताः। निर्वान्ति चान्ये स्वचन, निर्वास्यन्ति तथा परे ॥७॥

इस प्रकार की आज्ञा के आराधक अनन्त आत्माओं ने निर्वाण प्राप्त किया है, अन्य कुछ कही प्राप्त करते हैं और अन्य अनन्त भविष्य मे निर्वाण पद प्राप्त करेंगे। (७)

> हित्वा प्रसादनाद्दैन्य - मेकयैव त्वदाज्ञया । सर्वथैव विमुच्यन्ते, जिन्मन कर्मपञ्जरात् ॥ ॥ ॥

हे विश्वेश । जगत् मे ऐसा कहा जाता है कि यदि स्वामी की प्रसन्नता हो तो फल की प्राप्ति होती है परन्तु यह वात चिन्तामणि के दृष्टान्त से भ्रसगत है—इसी प्रकाश के द्वितीय श्लोक मे यह सिद्ध करके वताया गया है। भ्रत दीनता का त्याग करके निष्कपट भाव से भ्रापकी भ्राज्ञा की भ्राराधना करके भव्य प्राणी कर्म रूपी पिंजरे से सर्वथा मुक्त होते हैं। इस कारण श्रापकी भ्राज्ञा की भ्राराधना करना ही मुक्ति का एक श्रेष्ठ जपाय है। (८)

वीसवां प्रकाश

पादपोठलुठन्मूघ्नि, मिय पादरजस्तव । चिर निवसतां पुण्य – परमाखुकग्गोपमम् ॥१॥

[1

श्रापके पादपीठ में शीश नमाते समय मेरे ललाट पर पुण्य-परमाणु-कर्णों के समान श्रापकी चररण-रज चिरकाल रहें। (१)

जिन मक्ति]

मद्दृशौ त्वन्मुखासक्ते, हर्षवाष्पजलोमिभि । श्रप्रेक्ष्यप्रेक्षणोद्भूत, क्षगात्क्षालयतां मलम् ॥२॥

ग्रापके मुख के प्रति ग्रासक्त मेरे नेत्र पहले ग्रप्रेक्ष्य वस्तुग्रो को देखने से उत्पन्न पाप-मल को पल भर में हर्षाश्रुग्रो के जल की तरगो से धो डाले। (२)

त्वत्पुरो लुठनैर्भू यान्, मद्भालस्य तपस्विन । कृतासेव्यप्रणामस्य, प्रायश्चित्त किंगाविल ॥३॥

हे प्रभु । उपासना के लिए अयोग्य अन्य देवो को प्रणाम करने वाली और तीनो लोको द्वारा सेव्य आपकी उपासना से विचत रहने से करुणा-स्पद बनी मेरी इस ललाट को आपके समक्ष नमाने से उस पर लगी हुई क्षत की श्रेणी ही प्रायश्चित्त स्वरूप हो। (३)

मम त्वद्दर्शनोद्भूताश्चिर रोमाञ्चकण्टकाः। नुदन्तां चिरकालोत्था -मसद्दर्शनवासनाम्।।४॥

हे निर्मम-शिरोमिण ! आपके दर्शन से मुभ में चिरकाल तक उत्पन्न रोमाच रूपी कण्टक दीर्घ काल से उत्पन्न कुशासन की दुर्वासना का अत्यन्त नाश करे। (४)

त्वद्वक्त्रकान्तिज्योत्स्नासु, निपीतासु सुधास्विव । मदीयैलेंचिनाम्भोजैः. प्राप्यता निर्निमेषता ॥५॥

हे नाथ ! अमृत तुल्य आपके मुँह की कान्ति रूपी ज्योत्स्ना का पान करते हुए मेरे नेत्र रूपी कमल निर्निमेष रहे। (५)

त्वदास्यलासिनो नेत्रे, त्वदुपास्तिकरौ करौ। त्वद्गुराश्रोतृणी श्रोत्रे, सूयास्तां सर्वदा मम।।६।।

हे नाथ ! मेरे दोनो नेत्र ग्रापका मुँह देखने मे सदा लालायित रहे, मेरे दोनो हाथ ग्रापकी पूजा करने मे सदा तत्पर रहे ग्रीर मेरे दोनो कान ग्रापके गुगाो का श्रवण करने के लिये सदा उद्यत रहे। (६)

> कुण्ठापि यदि सोरकण्ठा, त्वद्गुणग्रहणं प्रति । ममैपा भारती तर्हि, स्वस्त्ये तस्यै किमन्यया ॥७॥

हे प्रभु ¹ मेरी यह कुण्ठित वाणी श्रापके गुण ग्रहण करने के लिये उत्कठित हो तो उसका कल्याण हो। इसके श्रतिरिक्त श्रन्य वाणी से क्या होगा ^२ (७)

> तव प्रेष्योऽस्मि दासोऽस्मि, सेवकोऽस्म्यस्मि किञ्करः । श्रोमिति प्रतिपद्यस्व, नाथ । नात पर ब्रुवे ॥ ॥ ॥

हे नाथ [।] मैं श्रापका प्रेष्य हूँ, दास हूँ, सेवक हूँ श्रौर किकर हूँ। श्रत "यह मेरा है" इस भाव से श्राप मुक्ते स्वीकार करे। इससे श्रधिक मैं कुछ भी नहीं कहता। (८)

> श्री हेमचन्द्रप्रभवाद् – वीतरागस्तवादितः । कुमारपाल – भूपालः, प्राप्नोतु फलमीप्सितम् ॥६॥

श्री हेमचन्द्र सूरीश्वर द्वारा रिचत इस श्री वीतराग स्तोत्र से श्री कुमारपाल भूपाल मुक्ति (कर्मक्षय) रूपी श्रभीप्सित फल प्राप्त करें। (१)

श्री जिनगुण स्तवन की महिमा

गगन तणु जेम निह मान । तेम अनन्त फल जिन गुण गान ।।

-श्री सकलचंद्रजी उपाध्याय

(8)

वदतृत्व एव कवित्व शक्ति—

स्तुति, स्तवन, प्रशसा, वर्णवाद ग्रादि एक ही ग्रर्थ व्यक्त करने वाले शब्द है। स्तुति ग्रथवा स्तवन, प्रशसा ग्रथवा वर्णवाद, व्यक्त-शब्दोच्चार के द्वारा हो सकता है। ससार मे ऐसे ग्रनन्त प्राणी है कि जिनमे व्यक्त-शब्दोच्चारएं को शक्ति ही नहीं है। समस्त एकेन्द्रिय प्राणी इस शक्ति से रहित है तथा जीभ वाले दो इन्द्रिय ग्रादि समस्त प्राणी भी वर्णवाद के योग्य व्यक्त-शब्दोच्चार करने की शक्तियुक्त नहीं होते। सज्ञी पचेन्द्रिय प्राप्त देवो तथा मनुष्यो को ही ग्रनादि ससार मे परिभ्रमण करने से व्यक्ति यह शक्ति प्राप्त होती है। इनके ग्रतिरिक्त प्राणी तो स्वकर्म परिणाम से ग्रावृत्त है।

प्रवल ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से विशिष्ट चित् शक्ति-चैतन्य से शून्य होते है। ग्रत. उनमे कवित्व ग्रथवा वक्तृत्व सुलभ वाचा नही होती ग्रीर जब तक वह वाचा (वाणो) प्राप्त न हो तब तक किसी योग्य का गुण-गान नही हो सकता। इस प्रकार की वाणी प्राप्त होने पर भी ग्रधिकतर देव एव मनुष्य ग्रपनी भवाभिनन्दिता के योग से ग्रन्यो का ग्रथीत् गुण-गान करने के लिये ग्रयोग्य देव एव मनुष्यो ग्रादि के ग्रवगुणो का कीर्तन करने के लिये ही प्रयत्नशील होते है ग्रीर इस प्रकार से विशिष्ट शक्ति प्राप्त करके भी स्व ग्रात्मा को मिलन करने मे ही प्रवृत्त होते हैं। कुछ ही भव-भीरू महापुरुप इस प्रकार की वक्तृत्व एव कित्वत्व शक्ति प्राप्त करने के पञ्चात् स्तुति एव स्तवन करने योग्य गुणवान देव-गुरु ग्रादि की स्तुति

करने मे प्रयत्नशील होते हैं श्रीर उस कार्य के द्वारा वे श्रपनी श्रात्मा को कर्म-मल से मुक्त करते हैं।

गुरा-वर्णन की आवश्यकता—

गुरावान अथवा अधिक गुराो वाली आत्माओं के अद्भूत गुराो का समुत्कीर्तेन करना ही वारगी (सरस्वती) प्राप्ति करने का सच्चा फल है। जो स्तुति करने योग्य होते हैं उनकी स्तुति करने का अवसर जीव को इस भव-वन मे किसी समय ही प्राप्त होता है। शक्ति के ग्रभाव मे ग्रधिकतर समय तो योग्य पुरुष की स्तुति किये बिना ही व्यतीत होता है ग्रौर शक्ति प्राप्त होने पर ग्रयोग्य की स्तुति करने मे वह शक्ति नष्ट हो जाती है। ऐसी दशा मे योग्य की स्तुति करने का ग्रवसर प्राप्त होना ग्रत्यन्त ही कठिन होता है। यह तत्त्व समभने वाले तत्त्वज्ञ महापुरुषो को इस प्रकार की गक्ति प्राप्त हो जाये तब वे स्तवन करने योग्य महापुरुषो की स्तवना करने मे तनिक भी कमी नही रखते । इस बात का परिचय ग्राज पूर्वाचार्यों द्वारा रिचत ग्रसक्य स्तोत्र, स्तवन एव स्तुति हमे प्रत्यक्ष रूप से कराती हैं। महा-पुरुषो को प्राप्त वक्तृत्व शक्ति एव कवित्व शक्ति का उपयोग श्री जिनेश्वर भगवान के गुरा-गान करने के लिए मुक्त रूप से हुग्रा है। यद्यपि वे इस प्रकार से भी जिनेश्वर देव के एक भी गुरा का पूर्णत उत्कीर्तन करने मे समय नही हुए है --यह बात वे स्वय स्वीकार करते है श्रीर उसका कारएा भी स्पष्ट ही है, परन्तु सच्चे गुरा का वाराी से पूर्णत वर्णन करना श्रसभव है। वाराो तो केवल दिशा-निर्देश कर सकती है। श्रत पहचान तो उक्त दिशा निर्देश से होने वाले स्रात्मानुभव पर स्राधार रखती है ।

विशुद्ध श्रद्धा एव भक्ति—

किसी भी गुरा की सच्ची महिमा वाराी के द्वारा व्यक्त नहीं की जा मकती, किन्तु मन के द्वारा प्रकट की जा सकती है। अत एक महापुरुष का कथन है कि— "सत्यगुरा के कथन में कदापि अतिशयोक्ति हो ही नहीं सकती, सदा अल्पोक्ति ही रहती है।" इस सत्य को परमार्थदर्शी पूर्व आचार्य प्रवर यथार्थ रूप से समभते थे। इस काररा श्री जिन गुरा स्तवन में उन्होंने वाराी की अविरल वृष्टि की तदिप यह अविरल प्रवाह उनके एक भी मद्भूत गुरा का तिनक भी वर्रान नहीं कर सका, इस सत्य को उन्होंने स्वीकार किया है। किसी ने वाल-चपलता करने की वात कही है तो किसी ने दोनो भुजाएँ फैला कर समुद्र की विशालता का वर्णन करने जैसी चेष्टा करने की वात कही है।

इस प्रकार समस्त स्तुतिकारों ने अपनी उस विषय की असमर्थता को नि सकोच भाव से प्रदिश्ति करते हुए कहा है कि—"हममें सामर्थ्य नहीं होते हुए भी हम श्री जिन-गुण गाने के लिए उद्यत हुए है, उसका कारण केवल हमारी श्रद्धा एव श्री जिन-गुणों के प्रति हमारी भिक्त ही है। परमात्म-गुणों की भिक्त हमें सभव-श्रसभव के विचार-चातुर्य से रहित करती है, क्योंकि हम जानते है कि श्रद्धा एव भिक्त से बोले हुए उल्टे-सीधे अथवा असम्बद्ध वचन भी बालालाप की तरह श्रोताओं में अरुचि नहीं परन्तु विस्मय एवं कौतुक उत्पन्न किये बिना नहीं रहते।" निर्मल बुद्धि वाले सज्जन पुरुष ऐसी श्रसमजस पूर्ण चेण्टा की हँसी नहीं उडाते, परन्तु वंसा करने के लिए प्रोत्साहित करते हैं, क्योंकि वे निर्मल मितवाले महापुरुष समभते है कि स्तुति कोई गुणों की यथार्थ प्रदर्शक नहीं है, परन्तु स्तुति करने वाली आत्मा में उक्त गुण के प्रति जो विशुद्ध श्रद्धा एवं भिक्त निहित है, उसकी ही केवल प्रदर्शक है।

समस्त स्तवन योग्य यहापुरुषों के स्तवन का अन्तर्भाव--

जिसके गुणो के प्रति जिसे श्रद्धा एव भक्ति है, उसके गुणो का कीर्तन करने के लिये जगत् में कौन प्रवृत्त नहीं होता ? ग्रवाग् एव ग्रव्भ प्राणी भी ग्रपने पालको ग्रीर पोपको के गुण-गान करने के लिए ग्रपने ग्रगो-पागो के द्वारा विविध प्रकार की चेष्टा करते दृष्टिगोचर होते है, तो फिर विशुद्ध वाणी एव विशुद्ध चेतन्य युक्त ग्रात्मा ग्रपने उपकारियों के गुणों का वर्णन करने के लिए ग्रपनी देह एव वाणी के द्वारा समस्त सभव प्रयत्न करे तो उसमें ग्राक्चर्य ही क्या है ?

श्री जिन-गुण-स्तवन के प्रति श्रद्धा रखने वाले व्यक्ति भी स्वरुचि के अनुमार भिन्न-भिन्न मनुष्यो ग्रीर पशुग्रो तक का गुण-गान करने मे क्या कमी रखते हैं? यदि सोचा जाय तो इस जगत् मे सर्वत्र प्रश्नसा का साम्राज्य छाया हुग्रा है। ग्रपने स्वय के प्रशसक की प्रशसा करना वर्तमान समय में शिष्टाचार का एक प्रमुख ग्रग माना जाता है तथा यदि प्रशसक की प्रशसा की जाये तो उसे शिष्टाचार भग करने वाला घोषित किया जाता है। इमी प्रकार से जिस व्यक्ति की प्रशमा जन-समुदाय का ग्रधिकतर वर्ग करता हो ग्रथवा जो व्यक्ति ग्रपने पुष्य-वल से विशाल जन-समुदाय पर सत्ता जमाया हुग्रा हो, उमकी भी प्रशसा करनी चाहिये, यह जगत द्वारा स्वीकृत है। यदि ऐना नहीं किया जाये तो उसे लोगों का ग्रथवा सत्ता का ग्रपराधी

भिष्यी महा तेज का विस्तार करने के लिये तथा मन्मय रूपी अधकार का िरेनथन करने के लिये ग्राप एक प्रचण्ड सूर्य हैं। हे नाथ । पृथिवी ग्रादि समस्त परिग्रह का एक साथ पलाल-पुञ्ज 77 िनो तरह परित्याग करने वाले ग्राप त्याग-मूर्ति हैं। पच महाव्रत रूपी व्रत रिका बोक्ता वहन करने के लिये वृषम तुल्य एवं भव-सिन्धु को पार करने के मिने अपे जहाज तुल्य भ्रापको हमारा पुन -पुन नमस्कार हो, पाँच महावतो की क होदरवहनो के समान पाँच समितियों के धारक ग्रापको पुन -पुन नम-ा कार हो श्रीर श्रात्मारामैकमन से युक्त, वचन गुप्ति के धारक एवं समस्त हिन्द प्टाग्रो से निवृत्त श्रापको पुन पुन नमस्कार हो। तेहर हे श्रिखिल विश्व के नाथ । श्रिखिल विश्व को श्रभय प्रदान करने ज्ञाले । ससार-सागर-समुत्तारण । प्रात काल मे श्रापके दर्शन से हमारे कि मस्त पाप नष्ट होते हैं। हे नाथ । भव्य जीवो के मन रूपी जल को कारे नर्मल करने के लिये कतक चूर्ण के समान ग्रापकी वाएि। का जय जयकार _{झांं})नता है। हे करुणा-धुरीय-सागर [।] ग्रापके शासन रूपी महारथ पर ग्रारोहण रने वालो को ट्र' काग्र भी समीप प्रतीत होता है। हे देव । ग्राप ंगक्षात् दर्शन करता हूँ, वह लोक लोकाग्र की 1

तीनो लोको को सनाथ करने वाले एव क्रपारस-सिन्धु है तीर्थपित ! जिस प्रकार सम-भूतला भूमि से पाच सौ योजन से दूर नन्दन-वन ग्रादि तीन वनो से मेरु पर्वत सुशोभित है, उसी प्रकार से जन्म से ही ग्राप मित ग्रादि तीन ज्ञानो से सुशोभित है। हे विश्व-भूषएा ! ग्राप जिस क्षेत्र मे जन्म धारण करते हैं, वह क्षेत्र तीन भवनो के मुकुट तुल्य ग्रापके द्वारा ग्रलकृत होने से देव-भूमि से भी उत्तम बन जाता है। ग्रापके जन्म-कल्याएक के महोत्सव से पावन बना दिन भी सदा ग्राप ही के समान वन्दनीय हो जाता है। ग्रापके जन्म ग्रादि के दिनो मे नितान्त दु खी नरक के जीव भी सुख की ग्रनुभूति करते है। भला ग्रिरहन्तो का उदय किसका सन्ताप-नाशक नही होता ? ग्रापके चरएो का ग्रवलम्बन पाकर ग्रनेक ग्रात्मा इस भयानक भव-सागर को पार कर लेते है। क्या जहाज का ग्राधार पाया हुग्रा लोहा भी सागर को पार नही कर पाता है भगवन् ! ग्राप मनुष्य लोक में लोगो के पुण्य से ग्रवतीर्ण होते है। वृक्ष विहीन वन मे कल्पवृक्ष की तरह ग्रीर जल विहीन मरुस्थल मे नदी के प्रवाह (धारा) के समान ग्रापका जन्म लोगो को ग्रत्यन्त इष्ट होता है।

त्रिलोक रूपी कमल को विकसित करने के लिये भास्कर तुल्य एव ससार रूपी मरुस्थल में कल्पतरु तुल्य हे जगन्नाथ । वह मुहूर्त भी धन्य हैं जिस मुहूर्त में पुनर्जन्म धारण नहीं करने वाले ग्रापका विश्व के प्राणियों के दु खोच्छेदनार्थ जन्म होता है। उन मनुष्यों को भी धन्य है कि जो ग्रहिन्श ग्रापके दर्जन करते हैं। हे भव-तारणहार । ग्रापकी उपमा देने के लिये ग्रन्य कोई वस्तु ही नहीं है। ग्रापके समान ग्राप हो हैं, इतना ही कह कर हम रुक जाते हैं। ग्रापके सद्भूत गुणों के विषय में कुछ कहने में भी हम समर्थ नहीं है, इसमें तिनक भी ग्राश्चर्य नहीं है। स्वयभूरमण समुद्र के ग्रगाध जल की थाह लेने में भला कौन समर्थ है ?

हे भगवन् । ग्रापके यथास्थित गुर्गो का वर्गन करने मे हम ग्रसमर्थ है तो भी ग्रापके प्रभाव से हमारी बुद्धि का ग्रवश्य विस्तार होगा। है स्वामी । त्रम तथा स्थावर दोनो प्रकार के जन्तुग्रो की हिंसा के परिहार से ग्राप ग्रभयदान की एक दानशाला के समान है। ग्राप मृपाचाद के सर्वथा परित्यान से प्रिय, पथ्य एव तथ्य वचन रूपी ग्रमृत-रस के सागर हैं। हे जगत्-पति । निरुद्ध मोक्ष मार्ग के द्वार को ग्रदत्तादान के प्रत्याख्यान से खोलने वाले ग्राप एक समर्थ द्वारपाल है। हे भगवन् । ग्रखण्ड ब्रह्मचर्य रूपी महा तेज का विस्तार करने के लिये तथा मन्मथ रूपी अधकार का मथन करने के लिये श्राप एक प्रचण्ड सूर्य हैं।

हे नाथ । पृथिवी ग्रादि समस्त परिग्रह का एक साथ पलाल-पुञ्ज को तरह परित्याग करने वाले ग्राप त्याग-मूर्ति है। पच महाव्रत रूपी व्रत का वोक्षा वहन करने के लिये वृषभ तुल्य एव भव-सिन्धु को पार करने के लिये जहाज तुल्य ग्रापको हमारा पुन -पुन नमस्कार हो, पाँच महाव्रतो की सहोदरवहनो के समान पाँच समितियो के धारक ग्रापको पुन -पुन नम-स्कार हो श्रीर ग्रात्मारामैकमन से युक्त, वचन गुप्ति के धारक एव समस्त चेष्टाग्रो से निवृत्त ग्रापको पुन पुन नमस्कार हो।

हे श्रिखल विश्व के नाथ । श्रिखल विश्व को श्रभय प्रदान करने वाले । ससार-सागर-समुत्तारण । प्रात काल मे श्रापके दर्शन से हमारे समस्त पाप नष्ट होते हैं। हे नाथ ! भव्य जीवों के मन रूपी जल को निर्मल करने के लिये कतक चूर्ण के समान श्रापकी वाणी का जय जयकार होता है। हे करुणा-क्षीर-सागर । श्रापके शासन रूपी महारथ पर श्रारोहण करने वालों को दूरस्थ लोकाग्र भी समीप प्रतीत होता है। हे देव । श्राप निष्कारण जगवधु का मैं साक्षात् दर्शन करता हूँ, वह लोक लोकाग्र की श्रोक्षा भी मेरे मन मे उत्तम है।

हे स्वामी । श्रापके दर्शन रूपी महानद के रस से परिपूर्ण नेत्रों के द्वारा ससार में भी मैं मोक्ष-सुख के श्रास्वादन का श्रनुभव करता हूँ। राग-द्वेष एव कपाय रूपो भयानक शत्रुश्रों से पीडित जगत् भी हे नाथ ! श्राप श्रभय देने वाले की कृपा से ही निर्भय है। तत्त्व को श्राप स्वय ही बताते हैं, श्राप ही मार्ग भी वताते हैं तथा विश्व की श्राप ही रक्षा करते हैं, तो फिर मेरे लिये मागने का कुछ रहता ही नहीं है। हे भगवन् ! श्रापकी पर्षदा मे पर-स्पर युद्ध करने वाले शत्रुराज भी मित्र बन कर रहते हैं। हे देव ! श्रापकी पर्पदा मे शाश्वत वैर रखने वाले श्रन्य जीव भी श्रापके श्रसीम प्रभाव से श्रपनी स्वाभाविक शत्रुता को भुला कर मैत्री धारए। करते हैं।

(?)

वारगो का सच्चा फल--

गुरावान के गुराों का उत्कीर्तन करना प्राप्त वासी का सच्चा फल है। वासी प्राप्त होने पर उसका कुछ न कुछ उपयोग होता ही रहता है। मानव-देह में प्राप्त, बोलने एव सोचने की शक्ति का प्रवाह नित्य होता ही रहता है। जिस प्रकार मन को नियत्रण में रखना कठिन है, उसी प्रकार से प्राप्त वाणी को भी सर्वथा रोक देना, अमुक अवस्था तक नहीं पहुँचे मनुष्यों के लिये असभव है। वाणी का कुछ न कुछ उपयोग तो होता ही है, तो फिर उसका सर्वोत्तम उपयोग क्या हो सकता है, उसे खोजना अनिवार्य हो जाता है।

क्या नाम लेने से अथवा गुरा गाने से कार्य-सिद्धि सभव है ? —

कुछ मनुष्य कहते हैं कि श्री जिन का नाम लेने से अथवा गुण-गाने से कार्य-सिद्धि हो जाती हो तो अन्न अथवा धन का नाम लेने से अथवा गुण गाने से अन्न अथवा धन की प्राप्ति हो जानी चाहिए। नाम लेना अथवा गुण गाना तो केवल औपचारिक भक्ति है। सच्ची भक्ति तो उम नाम और गुण वाले के गुणो को प्राप्त करने का उद्यम ही है। जो व्यक्ति धन अथवा अन्न प्राप्त करने के लिये उद्यम नहीं करते, उन्हें उनके नाम का जाप अथवा गुणो का स्तवन क्या लाभ करता है नाम-स्मरण नहीं करने वाला अथवा वाणी के द्वारा गुणो का लम्बा उत्कीर्तन नहीं करने वाला व्यक्ति भी यदि उनकी प्राप्ति के लिये उचित उद्यम करें तो उसे उस वस्तु की प्राप्ति होगी ही। इस प्रकार नाम-स्मरण अथवा गुणोत्कीर्तन का कोई विशेष फल नहीं है, यह निश्चय करके जो लोग उसकी उपेक्षा करते हैं, वे वस्तु का एक पक्ष ही ग्रहण करते हैं और कार्य-सिद्धि करने वाले अन्य उपयोगी पक्षों का एकान्तवादी बन कर त्याग करते हैं।

उद्यम एवं श्राज्ञा-पालन के लिये प्रेरक तत्त्व-

उद्यम ग्रथवा ग्राज्ञा-पालन के बिना कार्य-सिद्धि ग्रसभव है, तो भी उक्त उद्यम की ग्रोर ग्रात्मा को प्रेरित करने वाली प्रथम वस्तु कौनसी है, इस पर चिन्तन करना शेष रहता है। जिसका नाम किसी को ज्ञात नहीं है ग्रीर जिसके गुणों के प्रति जिसे ग्रनुराग नहीं है, उस वस्तु की प्राप्ति के लिये कभी उद्यम हुग्ना हो यह किसी ने कभी नहीं देखा। जहाँ जिस वस्तु की प्राप्ति के लिये उद्यम होता है वहाँ उस वस्तु के नाम का ग्रीर गुणों का परिचय होता है।

श्री जिन की ग्राज्ञा के पालन के लिये उद्यमशील होने की ग्रिभलापा उनके गुणो के ज्ञान एव गान के विना वन्ध्या रहने के लिये ही सर्जित है। श्री जिन के गुगा-गान मे यकान प्रदिश्ति करने वाले पुरुष उनकी आज्ञा-पालन का दावा करते हो तो वह प्राय दम्भ स्वरूप ही सिद्ध होगा। प्राय कहने का तात्पर्य यह है कि सयोग के अभाव मे गुगोत्कीर्तन के विना भी क्वचित् ग्राज्ञा-पालन हो सकता है, परन्तु ग्राज्ञा-पालक एव ग्राज्ञा-पालन ग्रिभलापी व्यक्ति, सयोग एव गिक्त होते हुए भी श्री जिन का गुगोत्कीर्तन करने वाला न हो, यह ग्रसभव है।

जाप एव कीतंन की श्रावश्यकता---

श्री जिन के श्रपार एवं श्रमन्त गुए। उनके करिया प्रस्त है होने वाला श्रात्मा को श्रपूर्व लाभ, उनमें होने कर्यों निवेक्य कर है ही श्रीत श्राव्यावाध सुख की प्राप्ति श्रावि की श्रोर ही कर कर है नहीं है। चित्त उनकी श्रोर लगाने के लिये, कर की की किया कर के लिये श्रीर उन गुएगों की स्मृति नहीं कर के किया का वार वार जाप एवं की तिन करने की प्रकार की है। उन कर एवं गुएगों के सतत् जाप, करना की करना की ही जिल हो उनके गुएगों वा परिचय किया जा मक्छ है

वे दोनों से भ्रष्ट हो जाते हैं—

श्री जिन-गृग् का क्रनु को इसमें हैं कि इस क्रमुक है है उत्पन्न होने वाली जिन-गर प्रोत है कि इसम्बद्धित उनके हैं लिए उनके जाप और स्वतन के प्रोतकों के इसमा है है इसमा करें की नहीं है कि जाप तथा स्वतन है कि इसमा है है है कि है पार्षिति के लिए तो लाए हह स्वतन है इस्ता के इसमा के इसमा श्राज्ञा-पालन श्रादि श्रन्य साधनों की भी श्रावश्यकता होती ही है, तो भी इन सब मे प्राथमिक उपाय के रूप मे जाप एव स्तवन का प्रमुख भाग रहता है। जाप के बिना ध्यान नहीं होता श्रीर स्तवन के बिना श्राज्ञारा-धना का उतना उल्लास जागृत नहीं होता।

श्री जिन की यथास्थित ग्राज्ञा की ग्राराधना यथाख्यात् चारित्र का पालन है। यह दशा प्राप्त करने के लिए श्री जिन-गुएग-स्तवन भी एक परम ग्रावश्यक साधन है। यथाख्यात् चारित्र तक पहुँचे हुए पुरुष श्री जिन-गुण का स्तवन न करे तो चल सकता है, परन्तु उस स्थिति तक पहुँचने से पूर्व ही ग्राज्ञाराधना के नाम पर श्री जिन-गुएग-स्तवन ग्रादि का ग्रवलम्बन त्याग देने का वाद करे वे दोनो से भ्रष्ट हो जाते है।

आत्म-गुरा-प्राप्ति में प्रधान निमित्त-

श्रथवा श्री जिन-गुण की स्तुति करना भी एक प्रकार से श्री जिनाज्ञा का पालन श्रीर श्राराधन है। ''जिस प्रकार श्रन्न एव धन की स्तुति करने से श्रन्न एव धन प्राप्त नहीं होता, उसी प्रकार से श्री जिन-गुण का स्तवन करने मात्र से उनकी प्राप्ति नहीं होती''—यह कहने में दृष्टान्त-वैषम्य है। श्रन्न एव धन श्रात्म-बाह्य पदार्थ है। श्रात्म-बाह्य पदार्थों की प्राप्ति केवल स्मरण, स्तवन श्रथवा ध्यान से नहीं हो सकती, परन्तु उसके लिए बाह्य प्रयत्नों की भी श्रावश्यकता होती है, जबिक श्रात्म-गुणों की प्राप्ति के लिए बाह्य प्रयत्नों की प्रधानता नहीं होती, किन्तु स्तवन श्रादि श्रान्तरिक प्रयत्नों की ही प्रधानता होती है। इसके लिए जिन-गुण स्तवन श्रात्म-गुणों की प्राप्ति में प्रधान कारण है। इस कारण पूर्व महर्षियों ने इस श्रग को भी श्रन्य श्रगों की तरह विशेष रूप से श्रपनाया है।

श्री जिनेश्वरों की स्तुति ---

श्री जिन-गुरा-महिमा प्रदिशत करने के लिये ग्रीर श्री जिनेश्वर देवों के जगत् के जीवों पर ग्रसीम उपकार करने के लिये ग्रसाधाररा वाक्-शक्ति का प्रवाह बहाने वाले पूर्व महिषयों का कथन है कि—"जिस प्रकार घड़ों के द्वारा समुद्र के जल का माप निकालना ग्रसम्भव है, उसी प्रकार हम जैसे जड बुद्धि वाले लाखों पुरुषों के द्वारा गुराों के सागर भगवान् श्री जिनेश्वर देवों के गुराों की थाह लेना भी ग्रसम्भव है, फिर भी हम भक्ति से निरकुश बने हुए ग्रपनी शक्ति ग्रथवा योग्यता का तिनक भी विचार किये दिना ही त्रिलोकीनाय श्री तीर्थं कर देवों के गुणों का उत्कीर्तन करने के लिये उत्साहित होते हैं।"

उन महर्षियो का कथन है कि-"भगवान के गुणो के प्रभाव से हमारी मन्द बुद्धि भी प्रभावशाली हो जाती है। गुणो रूपी पर्वत के दर्शन से भक्ति के वशीभूत यने एव बुद्धिहीन हम नवीन-नवीन वाणी को प्राप्त करते है।"

योगी-पुज़्नवों के द्वारा भी अमूल्य श्री जिनेश्वर देवों का गुण-गान करने के लिये तत्पर वने महिंप अपनी वाल चेण्टा वता कर प्रभु के गुण-गान में अग्रसर होकर कहते हैं कि — "हें भगवन् । आपको नमस्कार करने वाले तपस्या करने वालों से भी आगे वढ जाते हैं और आपकी सेवा करने वाले योगियों से भी अधिक हैं। धन्य पुरुषों को ही, नमस्कार करते समय आपके चरणों के नाखूनों की कान्ति मस्तक के मुकुट की शोभा धारण करती है। किसी से भी साम, दाम, दण्ड अथवा भेद कुछ भी ग्रहण किये विना ही आप त्रेलोक्य-चक्रवर्त्ती वने हैं, यह सचमुच आश्चर्य है। जिस प्रकार चन्द्रमा समस्त जलाणयों के जल में समान व्यवहार करता है, उसी प्रकार से हें स्वामी । आप भी जगत् के समस्त जीवों के चित्त में समान रूप से निवास करते हैं। हे देव । आपको स्तुति करने वाले सबके लिये स्तुत्य वन जाते हैं, श्रापकी श्रचना करने वाले सवके द्वारा अर्चना किये जाने के योग्य हो जाते हैं तथा आपको नमस्कार करने वाले सबके द्वारा नमस्कार किये जाने के पात्र वन जाते हैं। सचमुच आपकी भक्ति श्रचन्त्र फल-दायक है।

हे देव । दुख रूपी दावानल के ताप से दग्ध आत्माओं को आपकी भक्ति श्रापाढ़ों मेघों की वृष्टि की तरह परम शान्ति प्रदान करने वाली है। हे भगवन् । मोहान्धकार से मूढ बनी आत्माओं के लिये आपकी भक्ति विवेक रूपी दीपक प्रज्ज्वलित करने वाली है। आकाश के वादलों की तरह, चन्द्रमा की चादनी की तरह अथवा मार्ग के छाया—वृक्षों की छाया की तरह श्रापकी छुपा निर्धन अथवा धनी, मूर्ख अथवा गुर्गी सवको समान रूप से जपकारी है। हे भगवन् । आपके चर्गों के नाजूनों की कान्ति भव- ध्रुशों से तस्त आत्माओं को वज्ज-पजर की तरह सुरक्षा प्रदान करती है।

हे देव । उन पुरुषों को घन्य है जो ग्रापके चरणारविन्द के दशनार्थ दूर-दूर से भी सदा राजहमों की तरह दौडकर ग्रात है। सनार के घोर दुःखो से पीडित विवेकी व्यक्ति, जिस प्रकार ससार के जीव जीत से बचने के लिये सूर्य का ग्राश्रय लेते हैं, उस प्रकार हे देव ! वे ससार के दु खो से वचने के लिये ग्रापका ही ग्राश्रय लेते हैं। हे भगवन् । जो ग्रापको ग्रानिमेष स्थिर नेत्रों से निरन्तर देखते हैं, वे परलोक में निश्चित ही देवत्व (ग्रानिमेष भाव) प्राप्त करते हैं, इसमें कोई ग्राश्चर्य की बात नहीं। जिस प्रकार वस्त्रों का मेल स्वच्छ पानी से साफ हो जाता है, उसी प्रकार हे देव । ग्रापकी देशना रूपी निर्मल जल से धुली हुई ग्रात्मा कर्म-मल-रहित हो जाती है। हे स्वामी । ग्रापके नाम-मत्र का जाप करने वाले व्यक्ति को सर्व-सिद्ध-समाकर्षण-मत्रत्व को प्राप्त कराता है।

श्रापकी भिक्त में तल्लीन बनी श्रात्माश्रों को भेदन के लिये वज्र श्रयंवा छेदन के लिये शूल भी समर्थ नहीं है। हे देव। श्रापके श्राश्रय को ग्रहण करने वाली गुरुकर्मी श्रात्मा भी लघुकर्मी हो जाती है। क्या सिद्धरस के स्पर्श से लोहा स्वणं नहीं होता? हे स्वामी। श्रापका घ्यान, स्तवन श्रौर पूजा करने वाली श्रात्मा ही श्रपने मन, वचन श्रौर काया को सफल बनाती है। हे स्वामी। पृथ्वी पर विहरने वाले श्रापके चरणों की रज मनुष्यों के पाप रूपी कृता कर रही है। हे नाथ! नैसींगक मोह से जन्म से ही मोहान्ध श्रात्माश्रों को केवल श्राप ही विवेक-चक्षु सम्पित करने के लिये समर्थ है। जिस प्रकार मन के लिये मेर दूर नहीं है, उसी प्रकार से श्रापके चरण-कमलों में भौरों का श्राचरण करने वाले सेवकों के लिये लोकाग्र भी दूर नहीं है। जिस प्रकार वर्षा के जल से जामुन के वृक्ष से फल गिर जाते हैं, उसी प्रकार से श्रापकी देशना रूपी जल के सिचन से प्राणियों के कर्म-पाश शीझ ही गल जाते हैं। हे जगन्नाथ। श्रापको बार-बार नमस्कार करके मै श्रापसे केवल एक ही याचना करता हूँ कि श्रापकी कृपा से समुद्र के जल की तरह मुंक श्रापकी श्रक्षय भक्ति प्राप्त हो।

हे स्वामी । केवलज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् कृतार्थ होने पर भी ग्राप केवल लोगों के लिये ही पृथ्वी पर विहार करते हैं। क्या गगन-मण्डल में सूर्य ग्रपने स्वार्थ के लिये घूमता है ? नहीं, यह वात नहीं है। मध्याह्न में जिम प्रकार प्राणियों की देह की छाया सकुचित हो जाती है, उसी प्रकार से हे प्रभु । ग्रापके प्रभाव रूपी मध्याह्मकाल का ग्रादित्य प्राणियों की कर्मों को मकुचित कर देता है। नित्य ग्रापके दर्जन करने वाले तिर्यचों को भी धन्य है, जविक ग्रापके दर्जन में विचित स्वर्गवासी भी धन्य नहीं है। जिन व्यक्तियों के हृदय रूपी चैतन्य के श्राप श्रिघण्ठाता वने हें, उन भव्यात्माश्रो से महान् जगत में श्रन्य कोई है ही नहीं।

हे भगवन् । श्राप कही भी हो, परन्तु हमारे हृदय का ग्राप कदापि त्याग मत करना, यही हमारी ग्रापसे याचना है। ग्रापके ग्राधित ग्रापके समान वने, इसमे तिनक भी ग्रघटित नहीं है। दीपक के सम्पर्क से क्या वित्तयाँ दीपकत्व प्राप्त नहीं करती ? इन्द्रिय रूपी मदोन्मत्त गजेन्द्र को सदहोन करने के लिये हे स्वामी । भैपज तुल्य ग्रापका शासन जयवत होता है। हे निभुवनेश्वर । ग्राप घाती कर्मों का क्षय करके शेप ग्रघाती कर्मों की जो उपेक्षा करते हैं उसमे लोकोपकार के ग्रतिरिक्त ग्रन्य क्या कारण है ? ग्रन्य कोई कारण नहीं है। जिस प्रकार चद्र-दर्गन से मद-दृष्टि व्यक्ति भी पटु हो जाता है, उस प्रकार से ग्रापका प्रभाव देखने से वृद्धिहीन व्यक्ति भी स्तवन करने के लिये वृद्धिमान हो जाता है।

हे स्वामी । मोहान्धकार मे दूवे जगत् के लिय आलोक के समान आकाश की तरह आपका अनन्त केवलज्ञान विजयी हो रहा है। नालों जन्मों से उपाजित कर्म भी आपके दर्शन से विलीन हो जाता है। कोई काल से पत्थर के समान जमा हुआ घी भी क्या विल्ल से नहीं निकल्या है है स्वामी । पिता, माता, गुरु अथवा स्वामी समस्त क्लिक्ट को को हैन नहीं कर मकते, वह आप अकेले अनेक के समान वन कर काल का हिन करते हैं। जिस प्रकार रात्रि चद्रमा से सुशोभित होती है किन ककर नरेकर हभी से सुशोभित होता है और मुख-कमल किन ककर किन के हुनोहिन्त होता है, उमी प्रकार है त्रिलोकीनाय ! जीनों लोक केवल का के हुनोहिन्त सुशोभित हो रहे हैं।"

{ **E** ,

श्री जिन-स्तुति का फल-

श्री उत्तराव्यवन सूत्र बळाडून वह में इन्हार है कि— प्रथम—"बर्ग्यूटमर्थिनों इने हैं केंक्ट्रिक कार्यक है"

उत्तर— वरपुरमानेत <u>जेंके मार्क्त्याकिमके हिल्</u>यो क्राइक नास्त्रमप्तकिमके किन्याके जाने केंके क्राक्तिके कार्यक्रम सिम्बार्ग मार्केड प्रश्न—हे भगवन् । स्तोत्र-स्तुति रूपी मगल के द्वारा जीव क्या उपार्जन करता है ?

उत्तर—स्तोत्र-स्तुति रूपी मगल के द्वारा जीव ज्ञान, दर्शन, चारित्र ग्रौर बोधि का लाभ प्राप्त करता है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र ग्रौर बोधि-लाभ को प्राप्त किया हुग्रा जीव ग्रतिकया करके उसी भव मे मोक्ष प्राप्त करता है।

श्री जिन-गुएग-स्तवन की महिमा ग्रद्भुत है। श्री जिनेश्वर देवो के अद्भुत गुएगों का वर्णन करने वाले शब्द मत्राक्षर स्वरूप हो जाते हैं। उनसे महान भय भी नष्ट हो जाते हैं। शब्द शास्त्र के ग्रन्तक नियमानुसार प्रयुक्त शब्दों के द्वारा रिचत श्री जिन-गुण-महिमा-गिमत स्तोत्रों से चमत्कारपूर्ण वृत्तान्त वनने के ग्रनेक उदाहरएग शास्त्रों में विणत दृष्टिगोचर होते हैं। उस प्रकार के ग्रनेक स्तोत्र ग्राज भी विद्यमान है कि जिनके द्वारा प्राचीन काल में ग्रपूर्व शासन-प्रभावना एवं चमत्कार हो चुके है। स्थिर ग्रत करएग वाले व्यक्ति उन स्तोत्रों का ग्राज भी जाप करते हैं, जिससे पाप का प्रएगश होने के साथ इष्ट कार्यों की ग्रविलम्ब सिद्धि होती है।

श्री जिन-गुरा-स्तवन की महिमा प्रदिशत करते हुए श्री सिद्धसेन-दिवाकरसूरीश्वरजी ने एक स्थान पर कहा है कि --

"श्री जिन-गुएग का स्तवन, जाप श्रथवा पाठ श्रथवा श्रवएग, मनन श्रथवा निदिध्यासन श्रष्ट महासिद्धियों को प्रदान करने वाला है, समस्त पापों को रोकने वाला है, समस्त पुण्य का कारण है, समस्त दोषों का नागक है, समस्त गुएगों का दाता है, महा प्रभावशाली है, भवान्तर-कृत श्रपार पुण्य से प्राप्त है तथा श्रनेक सम्यग्-दृष्टि, भद्रिक भाव वालों, उत्तम कोटि के देवो एव मनुष्यों ग्रादि से सेवित है। चराचर जीव लोक में ऐसी कोई उत्तम वस्तु नहीं है जो श्री जिन-गुएग-स्तवन ग्रादि के प्रभाव से भव्य जीवों के हाथ में नहीं ग्राये।"

"श्री जिन-गुए स्तवन के प्रताप से चारो निकायों के देवता प्रसन्न होते हैं, पृथ्वी, अप्, तेज, वायु और श्राकाण ग्रादि भूत (तत्त्व) श्रनुकूल होते हैं, साधु पुरुष उत्तम मन से श्रनुग्रह करने में तत्पर होते हैं, खल पुरुषों का क्षय होता है, जलचर, थलचर एव गगन-चर कूर जन्तु में त्रीमय हो जाते ह और श्रधम वस्तुश्रों का स्वभाव उत्तम हो जाता है। इससे मनो-हर धर्म, श्रथं श्रांर काम गुए। प्राप्त होते हैं, समस्त ऐहिक सम्पत्ति—शुद्ध, गोत्र, कलत्र, पुत्र, मित्र, घन, घान, जीवन, योवन, रूप त्रारोग्य एव यज श्रादि प्रमुख सम्पदा सम्मुख होती है, ग्रामुष्मिक स्वर्ग-ग्रपवर्ग की लक्ष्मी मानो श्रालिगन करने के लिये दौड़ी हुई ग्राती है तथा सिद्धि एव समस्त श्रेयस्कर वस्तुग्रो का समुदाय स्वत ही ग्राकर प्राप्त होता है। सक्षेप मे श्री जिन-गुए। का ग्रनुराग समस्त सम्पदाग्रो का मूल है।"

ध्रो जिन-नाम-स्तवन-महिमा--

श्री जिनेश्वर देवो का स्वरूप ग्रगम है, ग्रगोचर है, फिर भी उनके गुणो से ग्राकिपत सत्पुरुप उन्हे वृद्धि-गोचर करने के लिये ग्रनेक विशेषणों के द्वारा उनकी स्तवना करते हैं। उनमें से कुछ (श्री मिद्धसेनिदवाकरसूरि रिचत श्री जिनसहस्रनाममत्र में से) यहाँ दिये जाते है—

''परात्मा, परमज्योति, परम-परमेष्ठी, परमवेधम्, परमयोगी, परमेश्वर, सकलपुरुपार्थयोनि, ग्रवद्यविद्याप्रवर्तनेकवीर, एकान्त कान्त-शान्तमूर्ति, भवद्-भावि-भूत-भावावभासी, कालपाशनाशी, मत्वरजस्तमी-गुणातीत, श्रनन्तगुणी, वाद्मनोगोचरातीतचरित्र, पवित्र, कारणकरण, तारण-तरण, सात्त्विकदैवत, तात्त्विकजीवित, निर्ग्रन्थ, परमब्रह्महृदय, योगीन्द्र-प्रारानाथ, त्रिभुवनभव्यकुलनित्योत्सव, विज्ञानानन्दपरब्रह्में का-तम्यसमाधि, हरिहरिहरण्यगर्भादिदेवापरिकलितस्वरूप, सम्यग्घ्येय, सम्यक्-श्रद्धेय, सम्यक्शरण्य. मुसमाहित-सम्यक्-स्पृह्णीय, श्रर्हन्, भगवन्, श्रादि-कर, तीर्थकर, स्वयसम्बुद्ध पुरुषोत्तम पुरुपिसह, पुरुपवरपुण्डरीक, पुरुष-वरगन्धहस्ती, नोकोत्तम, लोकनाय, लोकहित, लोकप्रद्योतकारी, लोकप्रदीप, श्रभयद, दृष्टिद, मुक्तिद, वोधिद, धर्मद, जीवद, शरणद धर्मदेशक, धर्म-मारिष, धर्मवर-चातुरन्त चक्रवर्ती, व्यावृत्तछद्म, श्रप्रतिहत-सम्यग्ज्ञान-दर्शनमद्म, जिन जापक, तीर्श-तारक, बुद्ध-बोधक, मुक्त-मोचक, त्रिकाल-वित्, पारगत, कर्माप्टक-निपूदक, ग्रधीब्वर, शम्भुँ स्वयम्भू, जगतप्रभु, जिनेस्वर, स्याद्वादवादी, मोर्व, नर्वज्ञ, मर्वदर्गी, सर्वतीर्थोपनिपद्, सर्व-पा पड-मोची, सर्वयज्ञ-कुलात्म, सर्वज्ञकलात्म, सर्वयोगरहस्य केवली, देवा-धिदेव, बीतराग, परमात्मा, परम-कारुस्मिक, सुगत, तथागत, महाहम, हनराज, महासत्व, महाशिष, महाबौद्ध, महामैत्र, मुनिश्चित, विगतद्वन्द्व, गुणाब्धि, लोकनाथ, जित-मार-बल ननातन, उत्तमञ्लोक, मुकुन्द, गोविन्द, विष्णु, जिष्णु, अनन्त, अच्युत, श्रीपति, विश्वरूप, हृपिकेश, जगन्नाय,

भूर्भुव स्व -समुत्तार, मानजर, कालजर, ध्रुव, स्रजेय, स्रज, प्रचल, स्रव्यय, विभु, म्रचिन्त्य, स्रसख्य, स्रादिसख्येय, स्रादिसाख्य, स्रादिकेशव, स्रादिशिव, महाब्रह्म, परमशिव, एकानेकान्तस्वरूप, भावाभावविवर्जित, ग्रस्ति-नास्तिद्वयातीत, पुण्यपापविरहित, सुखदु खिविक्त, ग्रव्यक्त, व्यक्त-स्वरूप, ग्रनादिमध्यनियन, मुक्तिस्वरूप, नि सग, निरातक, नि शक, निर्भय, निर्द्धन्द्व, निस्तरग, निर्र्हाम, निरामय, निष्कलक, परमदैवत, सदाशिव, महादेव, शकर, महेश्वर, महाव्रती, महापचमुख, मृत्यु जय, ग्रष्टमूर्ति, भूतनाथ, जग-दानन्द, जगितपतामह, जगदेवाधिदेव, जगदीश्वर, जगदादिकन्द, जगद्भा-स्वत्, जगत्कर्मसाक्षी, जगच्चक्ष्ष, जयीतनु, श्रमृतकर, शीतकर, ज्योतिश्चक-चकी, महाज्योति, महातमः पार, सुप्रतिष्ठित, स्वयंकर्ता, स्वयहर्ता, स्वयंपालक, श्रात्मेश्वर, विश्वात्मा, सर्व-देवमय, सर्वध्यानमय, सर्वमत्रमय, सर्वरहस्यमय, सर्व ज्ञानमय, सर्व तेजोमय, सर्वभावाभावजीवजीवेश्वर, अरहस्यरहस्य, ग्रस्पृहस्पृहणीय, ग्रचिन्त्य-चिन्तनीय, ग्रकामकामधेनु, ग्रसकल्पित-कल्पद्रुम, म्रचिन्त्यचिन्तामिएा, चतुर्दशरज्ज्वात्मकलोकचूडामिएँ, चतुरशीतिजीवयोनि-लक्षप्रारानायक, पुरुषार्थनाथ, परमार्थनाथ, ग्रनाथनाथ, जीवनाथ, देवदान-वमानवसिद्धसेनाधिनाथ, निरजन, अनन्तकल्यारा, निकेतनकीर्ति, सुगृहीत-नामबेय, धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरणान्त, धीरललित, पुरुषोत्तम, पुण्य-क्लोक, शतसहस्र-लक्षकोटिवन्दित-पादारविन्द, सर्वगत, सर्वप्राप्त, सर्वज्ञान, सर्वसमर्थ, सर्वप्रद, सर्वहित, सर्वाधिनाथ, क्षेत्र, पात्र, तीर्थ, पावन, पवित्र, त्रन्तर, उत्तर, योगाचार्य, सुप्रक्षालन, प्रवर, श्रग्न, वाचस्पति, मागल्य, सर्वोत्मनाथ, सर्वार्थ, अमृत, सदोदित, ब्रह्मचारी, तायी, दाक्षिग्गीय, निर्वि-कार, वज्तर्षभ-नाराचमूर्ति, तत्त्वदृश्वा, पारदर्शी, निरुपमज्ञानवलवीर्यतेजो-ऽनन्तैश्वर्यमय स्रादि-पुरुष, स्रादिपरमेष्ठी, स्रादिमहेश, महाज्योति सत्व, महाचिधनेश्वर, महामोहसहारी, महासत्त्व, महाज्ञानमहेन्द्र, महालय, महा-शान्त, महायोगीन्द्र, ग्रयोगी, महामहोयान्, महासिद्ध, महोयान्, शिव-अचल-ग्रम्ज - ग्रनन्त - ग्रक्षय - ग्रन्याबाध - ग्रेपुनरावृत्ति - महानन्द - महोदय -सर्वेदु खक्षय - केवल्य - ग्रमृत - निर्वाग - ग्रक्षर - परव्रह्म - नि श्रेयस् -ग्रपुनर्भव, सिद्विगतिनामधेयस्थान - सप्राप्त, चरमाचरमवान् - ग्रादिनाथ, त्रिजगन्नाथ, त्रिजगत्स्वामी, विशाल-शासन, निर्विकल्प, सर्व लिब्धसपन्न, कल्पनातीत, कलाकलापकलित, केवलज्ञानी, परमयोगी, विस्फुरदुरुशुक्ल-ध्यानाग्नि-निर्देग्धकर्मवीज, प्राप्तानन्तचतुष्टय, सौम्य, शात, मगलवरद्, ग्रप्टादशदोपरहित, समस्त - विश्वसमीहित ।

श्री जिन-नाम-स्तवन-

ॐ होँ श्रोँ श्रहं नम ॥

श्री जिनेश्वर देव की स्तवना करते हुए श्री जिन-सहस्रनाम मत्र के श्रन्त मे श्राचार्य - पुरन्दर श्री सिद्धसेनदिवाकर सूरीश्वरजी महाराज ने बताया है कि—

> "लोकोत्तमो निष्प्रतिमस्त्वमेव, त्व शाश्वत मङ्गलमध्यघीश । त्वामेकमहंन् । शरण प्रपद्ये, सिद्धपिसद्धर्ममयस्त्वमेव ॥१॥"

हे अधीय । श्राप लोकोत्तम हैं, निष्प्रतिम हैं, शाश्वत हैं श्रीर मगल हैं। हे श्रह्नं । मैं श्रापका शरएा श्रगीकार करता हूँ, श्राप ही सिर्द्धि एव सद्दर्भमय है। (१)

> "त्व मे माता पिता नेता, देवो धर्मो गुरु परः । प्राणा स्वर्गोऽपवर्गश्च, सत्त्व तत्त्व गतिर्मति ॥२॥"

श्राप मेरी माता हैं, पिता हैं, नेता है, देव हैं, धर्म हैं, परम गुरु है, प्राण हैं, स्वर्ग एव श्रपवर्ग हैं, सत्त्व हैं, तत्त्व हैं, गित हैं श्रीर मित है। (२)

"जिनो दाता जिनो भोक्ता, जिन सर्वमिद जगत्। जिनो जगति सर्वत्र, यो जिनः सोऽहमेव च ॥३॥"

जिन दाता है, जिन भोक्ता है श्रीर समस्त जगत् जिन है, जगत मे सर्व त्र जिन है, जो जिन है वह मैं स्वय ही हूँ। (३)

''यत् किञ्चित् कुर्महे देव !, सदा सुकृतदुष्कृतम् । तन्मे निजपदस्यस्य, दु.ख क्षपय त्वं जिन ! ॥४॥'' हे देव ! हम जो सुकृत - दुष्कृत करते हैं, ग्रापके चरणो मे स्थित हमारे उन दु खो का हे जिनेश्वर ! ग्राप क्षय करें। (४)

> ''गुह्यातिगुह्यगोप्ता त्व, गृहाणास्मत्कृत जपम् । सिद्धिः श्रयति मां येन, त्वत्त्रसादात् त्विय स्थितम् ॥५॥''

धाप प्रत्यन्त गृह्य से भी गृह्य रक्षक हैं। हमारे द्वारा किये गये इस जाप को घाप ग्रह्ण करें, जिससे भ्रापकी कृपा (प्रसाद) से श्राप में रियत हमें सिद्धि प्राप्त हो। (५)

Ī

प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर

सन् १६८८ एवं १६८६ के नये प्रकाशन

प्राभा पुस्तक	लेखक	मूल्य
<u>g</u>		
44 वज्जालग्गमे जीवन मूल्य (प्राहि)	डा के सी. सीगासी	10 00
45 गीताचयनिका(स हि)	डा. के. सी सोगाणी	16 00
46 ऋषिभाषित सूत्र (प्रा हि अ)	स म विनय सागर	100 00
47 नाडि विज्ञानम्		
48 तथानाडि प्रकाशम् (स अ)	डा. जे सी सिकदर	30 00
49. ऋषिभाषित एक अध्ययन (हि)	डा सागरमल जैन	30 00
50 उववाइय सुत्त (प्रा हि अ)	स गणेश ललवानी	
	सजिल्द	100.00
	भ्रजिल्द	80 00
51 उत्तराध्ययन चयनिका (प्रा. हि)	डा. के. सी सोगाएगी	10 00
52. समयसार चयनिका (प्राहि.)	डा के सी सोगाणी	16 00
53 परमात्मप्रकाश व योगसार		
चयनिका (प्राहि)	हा. के सी सोगाणी	10 00
54. ऋषिभाषित ए स्टडी (अ)	हा सागरमल जैन	30 00
55 श्रहेंत् - वदना (हि)	म चन्द्र प्रभ सागर	3 00
56 राजस्थान मे स्वामी विवेकानन्द	प भावरमल्ल शर्मा	75 00
57 श्री ग्रानन्दघन चौबीसी (रा हि.)	स भवरलाल नाहटा	30 00
58 देवचन्द्र घौबीसी सानुवाद (रा हि)	प्र. सज्जन श्री जी	60 00
59 सर्वज्ञ कथित परम सामायिक धर्म (हि.)	विजयकला पूर्ण सूरि	30 00
60 दुख मुक्तिः सुख प्राप्ति (हि)	कन्हैयालाल लोढा	30 00
61 गाथा सप्तशती (प्रा. स हि)	स. हरिराम श्राचार्य	100 00
62 त्रिषष्टि मलाका पुरुष चरित्र (हि)	गणेश ललवानी	100 00
63 योगशास्त्र भ्रॉफ हेमचन्द्राचार्य (स अ)	स सुरेन्द्र बोथरा	100.00
64. जिन-भक्ति (प्रांस हि)	श्र भद्र कर विजयं गिए।	25 00
65 सहजानन्द घन चरिय (भ्रप)	भंवरलाल नाहटा	20 00
66. श्रागम युग का जैन दर्शन	दलसुख भाई मालवरिएय	ī
	सजिल्द	80 00
	ग्रजिल्द	60 00



श्री सिद्धसेन दिवाकर-सिद्धिषगिशा-हेमचन्द्राचार्यादि पूर्वाचार्यो द्वारा रचित ज्ञान, वैराग्य एवं भक्ति रस से परिपूर्ण नव स्तोत्रो का सकलन

जिन-भक्ति

[हिन्दी श्रनुवाद एव महिमा सहित]

भग्राहा एवं ग्रनुवादव प्रशानतमूर्ति प प्र. श्री भद्रकरविजयजी गणि

प्रसामि

प्राकृत भारती ग्रकादमी, जयपुर जैन श्वे. नाकोडा पार्श्वनाथ तीर्थ, मेवानगर मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली प्रकाशक
 देवेन्द्रराज मेहता
 सचिव
 प्राकृत भारती श्रकादमी,
 3826, मोतीसिंह भोमियो का रास्ता,
 जयपुर-302003

• पारसमल भंसाली

श्रध्यक्ष श्री जैन एवे नाकोडा पार्श्वनाथ तीर्थ, मेवानगर, स्टे वालोतरा-344025 जि वाडमेर

नरेन्द्र प्रकाश जैन
पार्टनर

मोतीलाल वनारसीदास,
वगलो रोड, जवाहर नगर,
दिल्ली-110007

- हिन्दी अनुवादक : नैनमल विनयचन्द्र सुरागा
- प्रथम संस्करण : अक्टूबर 1989
- मूल्य : रु. 30 00
- मुद्रक : एम. एल. प्रिण्टर्स, जोघपुर

प्रकाशकीय

प्रशान्त मूर्ति पन्यासप्रवर श्री भद्र करविजयजी गिएवर्य द्वारा सकालित एव श्रनुदित ज्ञान-वैराग्य एव भिवतरस से श्रोत प्रोत ''जिन-भिवत'' नामक पुस्तक प्राकृत भारती के 64वे पुष्प के रूप मे प्रकाशित करते हुए हमे हार्दिक प्रसन्नता है।

शास्त्रकार महर्पियों का कथन है कि उपधान तप करने वाले व्यक्ति को उपधान पूर्ण करने के चिन्ह स्वरूप माल्यार्पण से पूर्व यावज्जीवन गुरु के समक्ष त्रिकाल चैत्यवन्दन श्रीर जिन-पूजा करने का श्रिभग्रह श्रवश्य अगीकार करना नाहिये, श्रर्थात् प्रात काल जब तक श्री जिन-प्रासाद में जाकर श्री जिनमूर्ति का वन्दन नहीं करे तब तक मुह में पानी भी नहीं टालना चाहिये, मध्याह्न काल में जब तक जिन-प्रासाद में जाकर श्री जिनमूर्ति की पूजा नहीं करे तब तक भोजन नहीं करना चाहिए श्रीर सायं-काल में श्री जिन-प्रासाद में जाकर श्री जिनमूर्ति के समक्ष धूप-दीप यादि से पूजा न लरले तब तक नींद नहीं लेनी चाहिये।

जो व्यक्ति तिकाल चैत्यवन्दन का ग्रभिग्रह न ले सकता हो उसे भी निन्य नियमित रूप मे एव वार चैत्यवन्दन करने का ग्रभिग्रह नो नेना ही चाहिये। उपधान मे से निकलने के पण्चात् जो व्यक्ति इतना भी नहीं करे वह उपधान मे ग्रनेक दिनो नक किये गये तप-जप ग्रादि की उत्तम ग्रामधना को चमका नहीं सकता।

उपधान तप पूर्ण करके वाहर निकलने वाले व्यक्ति को जिन भक्ति को निया नियमित एव ग्रनिवार्य रूप मे करनी चाहिए श्रोर जिन-भक्ति के लिए प्रधान यावरप्रकता श्री जिन-स्वरूप को पहचानने की है। श्री जिनेस्वर भगवान का स्वरूप इतना उच्च कोटि का है कि ज्यो-ज्यो उसकी हमे पहचान होती जाती है त्यो-त्यो हमारे हृदय मे जनके प्रति भिवत के स्त्य में प्रकाशित करवाया था। इस पुस्तक की वर्तमान समय में हिन्दी नापियों के लिए ग्रत्युपयोगिता देखकर ग्रध्यात्मरिसक पूज्य ग्राचार्य देव श्री विजयकलापूर्णसूरिजी म ने श्री नैनमल विनयचन्द्र सुरागा से गुजराती का हिन्दी ग्रनुवाद करवाकर, "जिनभिक्त की महिमा" रूप उपोद्घान के साथ प्रकाशनार्य हमें प्रदान की, एतदर्थ हम पूज्य ग्राचार्य श्री की कृपा के ग्रत्यन्त ग्रामारी ह।

नरेन्द्र प्रकाश जैन पारसमल भसाली देवेन्द्रराज मेह्ता पार्टनर ग्रध्यक्ष सचिव मोतीलाल बनारसीदास जैन एवे नाकोडा प्राकृत भारती ग्रकादमी दिल्ली पार्श्वनाथ तीर्थ जयपुर मेवानगर

भगवान के सम्मुख स्तुति करते समय उन्होंने स्वय ने इसका उपयोग किया है।

तत्पश्चात् कितकाल मर्वज्ञ श्री हेमचन्द्रसूरीश्वरजी द्वारा रचित 'श्रयोग-व्यवच्छेदिका'' एव ''श्रन्ययोगन्यवच्छेदिका'' नामक दो स्तुतियाँ दी गई ह। श्री सिद्धमेन दिवाकर सूरि द्वारा रचित गम्भीर एव गहन म्नुतियों के श्रनुकरण स्वरूप होने पर भी इन दोनों म्नुतियों को परमोप-कारी श्राचार्य भगवान ने श्रपनी प्रतिभा से श्रत्यन्त सरल एव समक्त में श्राने योग्य स्पष्ट भाषा में रची हैं। सम्यवत्व की परम विशुद्धि एव शासन के प्रति इड श्रनुराग उत्पन्न करने के लिये ये दोनों स्नुतिया श्रत्यन्त लाभ-दायक है, ये श्रत्यन्त प्रवल मिथ्यात्व के विष को उतारने में समर्थ है तथा फलिकाल के मोहाधकार में ज्योति भरने के लिये रत्न की दो लघु दीविलयों का कार्य करती ह।

तत्पण्चात् कितकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्रसूरीण्वरजी के उपदेश से प्रितिशोधित एव श्री ग्रिन्हित भगवात के शासन के परम भक्त महाराजा- विराज श्री कुमारपाल भूपाल द्वारा रिचत श्री जिनेण्वर भगवात की हृदयदावक स्तुति वी गई है। यह स्तुति प्रत्येक भावुक व्यक्ति को श्री जिनेण्वर देव के साथ तन्मय करके भिवत रस में सरावोर करने वाली है। इस स्तुति क 33 पद्य है। इसके द्वारा परमात्मा की स्तवना करने वाले भव्यात्मा को ग्राज भी रोमाच होने लगता है। वह समार का भान भूल कर श्री जिनेण्यर भगवात के साथ एकात्मता ग्रनुभव करता प्रतीत होता है। इस स्तुति का उस किलयुग में मुक्ति-दूती का उपनाम दिया जाये तो वह सर्वथा सार्थक होगा।

तरपण्चात् त्यायाचार्यः, त्याय-विद्यारदः, महोपाध्याय श्री यशोविजय त्या उत्तर रचित "परमज्योति" तथा "परमात्म पचित्रिशतिका" नामक दो स्तुतिया दो गई है । परमात्म-स्वरूप का प्रतिपादन करने वाले समस्त गयो का सक्षिप्त सार इन दो स्तुतियो में समाविष्ट हैं—ऐसा कहने में कोई प्रतिश्योगित नहीं होगी। ये दो स्तुतियाँ पाठको में अपूर्व तन्वज्ञान की ज्याति जगमाने के नाथ श्री वीतराग परमात्मा के अद्भुत गुणों का परिचय हराती ह। तत्पश्चात् कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्रसूरीश्वर जी की सुप्रसिद्ध रचना 'श्री वीतराग स्तोत्र'' दी गई है। इसकी रचना परमार्हत् श्री कुमारपाल भूपाल के दैनिक स्वाध्याय के लिये की गई थी। श्री जिन भक्ति के रसिक प्रत्येक व्यक्ति के लिये यह कण्ठस्थ करने योग्य है श्रींग नित्य श्री जिनेश्वर भगवान के सम्मुख स्तुति करने के लिये उपयोगी है। श्री वीतराग स्तोत्र का ग्राजीवन रटन करने वाले व्यक्ति के हृदय में से मिथ्यात्व का भूत सदा के लिये भाग जाता है श्रौर सम्यक्त्व का सूर्य ग्रपनी सहस्र किरणों के द्वारा चित्त रूपी भवन में सदा के लिये ज्योति फैलाता है, इसमे तिनक भी ग्राश्चर्य नहीं है। उसके प्रत्येक प्रकाश में रचियता ने भक्ति रस की गगा, वैराग्य रस का निर्भर एव ज्ञानामृत की धारा प्रवाहित की हैं। उक्त धारा के प्रवाह में भव्य ग्रात्माग्रो का मिथ्यात्व-मल धुल जाता है ग्रीर सम्यक्त्व का प्रकाश जगमगाने लगता है। ग्रन्त में परिशिष्ट में श्री जिन स्तवन की महिमा पूर्वपृष्ठपों के वचनानुसार गुजराती भाषा में विस्तार पूर्वक वताई गई है। पाठकों को उस पर भी चिन्तन-मनन करने का परामर्श दिया जाता है।

श्री जिनभक्ति ग्रत्यन्त कल्याणकारी श्रपूर्व वस्तु है। श्री जिनगुण-स्तुति उसका एक परम साधन है। इस वात की ग्रोर भव्यात्माग्रो का ध्यान ग्राकिपत करने के लिये पूर्व महापुरुषों ने श्रथक परिश्रम किया है, जिसका समुचित ग्राभास कराने के लिये परिशिष्ट का ममावेश किया गया है।

परिशिष्ट का लेखाकन करने मे शास्त्रकार महिंपयो के ग्रागय से विरुद्ध जो कुछ भी लिखा गया हो तथा स्तुतियो के ग्रर्थ लिखने मे न्याय, व्याकरण ग्रौर सिद्धान्त शास्त्र से विपरीत जो कुछ भी लिखा गया हो उस सबके लिये मिच्छामि दुक्कड देते हुए सज्जनो को हस-चचुवत् मार ग्रहण करने के लिये सूचित करता हू।

श्री करमचद जैन पौपधशाला, अधेरी पोप शुक्ला द्वितीया बोर मवत् 2468, वि सवत् 1998 दिनाक 20-12-1941 मुनि भद्रकरविजय

उपोद्घात

जिन भक्ति की महिमा

जिन-मिक्त मुक्ति का प्रवान सावन है। मिक्त की शक्ति स्रकल्पनीय एव स्रमीम है। मिक्त की स्रपूर्व शक्ति के द्वारा समस्त प्रकार की स्राब्या-त्मिक सावना का विकास होता है। मिक्त को शक्ति के द्वारा हो भक्तात्मा को ऐसी युक्ति सुक्त जाती है जो उसे मुक्ति का साक्षात्कार कराती है।

प्रनादि काल से बहिरात्म भाव में रहा हुन्ना जीव श्री जिनेश्वर परमात्मा की मक्ति के प्रभाव में अन्तरात्म-भाव प्राप्त करके क्रमश परमात्म भाव की ग्रोर उन्मुख होता है।

जिन-मक्ति ग्रथीत् "श्री जिनेण्यर परमात्मा ही केवल मेरे ग्रीर समस्त जीयो के परम हित-चिन्तक, परम हित-कारक, सब चिन्ता-चूरक, सब-रायं-पूरक, मत्र-सागर-तारक तथा मोक्ष-पद-दायक है" इन प्रकार की ग्रटल श्रदा ग्रार विश्वास के साथ प्रभु के प्रति हृदय मे ग्रनन्त सम्मान एव ग्रादर प्रकट करना।

परमात्म-भक्ति ही ग्रात्मा को परमात्मा वनाने वाली ह—इस सत्य री पास्तिवक श्रद्धा जिस व्यक्ति के हृदय में स्थिर हो जाती ह, ग्रोतप्रोत हो जाती ह, उसे परमात्मा को प्राप्त करने के ग्रितिरिक्त ग्रन्य कोई श्रीनलाण ग्रथवा कामना होती ही नहीं है। भिवत की तन्मयता की पानन्दानुभूनि करने वाले भक्त को ग्रन्य वस्तुग्रों की ग्रपेक्षा प्रभु-भिक्त ही प्रवाधित श्रिय एवं श्रेष्ट प्रतीत होती है।

प्रतोक व्यक्ति में परमान्म-स्वरूप विश्वमान है, छिपा हुआ है। वह प्रकट तब टी होता है, जब ब्रात्मा परमान्मा की शरण में जाती है, वह उनकी निक्त में एकरूप, एकात्म हो जाती है, उनकी ब्राज्ञा को रोम-रोम में व्याप्त कर नेती है।

शास्त्रत सुर्यमा अनन्त अनन्दमय चिन्मय शुद्र आन्म-स्वरूप को

प्राप्त करने का अनन्य एव अद्वितीय उपाय परमात्मा की प्रीति, भक्ति और शरणागित ही है।

परमात्म-भक्ति के अनेक साधन है, उपाय है। अपनी पात्रता, भूमिका के अनुरूप उपाय का सम्मान करने से जीवन मे भक्ति का विकास होता है।

प्रस्तुत पुस्तक ''जिन-भक्ति'' मे श्री ग्ररिहन्त परमात्मा के गुणो के स्वरूप, उनका ग्रचिन्त्य प्रभाव, समस्त विश्व पर उनके ग्रसख्य उपकार, उनके साथ हमारे सम्बन्ध तथा उनकी स्तुति, वन्दना, ग्रचना स्वरूप भक्ति फल ग्रादि पर उत्तम प्रकार से प्रकाश ड।लने वाले ग्रनेक सस्कृत स्तोत्रो ग्रादि का सग्रह है, तथा साथ ही साथ इसे सुगम बनाने के लिये उनका हिन्दी ग्रनुवाद भी दिया गया है। इसका एकाग्रता से गान, ग्रथं-चिन्तन ग्रादि करने से हमारे हृदय मे श्री ग्ररिहन्त परमात्मा के प्रति प्रेम का प्रवाह तीव्रता से प्रवाहित होने लगता है ग्रौर हमारी चित्त-वृत्तियाँ निर्मल, शान्त एव स्थिर वनती है।

सासारिक पदार्थों को हृदय में स्थान, मान एव भाव देने में हमारी ही ग्रात्मा का ग्रपमान एवं ग्रध पतन होता है। हमारी ग्रात्मा का वास्त-विक सम्मान एवं उत्थान तो श्री जिनेश्वर परमात्मा की निष्काम ग्रारा-धना एवं उपासना करने से होता है ग्रीर उस ग्राराधना एवं उपासना का प्रारम्भ परमात्मा की ग्रीति एवं भक्ति से होता है। इस सत्य को स्वीकार करके जो व्यक्ति परम कत्याग्यकारी परमात्मा की उपासना में लीन होता है, वह व्यक्ति ग्रवश्यमेव दिव्य ग्रानन्द की ग्रनुभूति करता है।

ग्रध्यात्म योगी तत्वदृष्टा पूज्यपाद पन्यास प्रवर श्री भद्र करविजयजी महाराज ने भक्ति-रसिक पुण्यात्माग्रो के भक्ति-रस में वृद्धि हो, उसकी पुष्टि हो, इस गुभ उद्देश्य से भक्ति-वर्धक प्राचीन स्तोत्रो का गुजराती अनुवाद सहित सुन्दर सकलन प्रकाशित किया था, जिसका ग्राज हिन्दी प्रनुवाद सहित प्रकाशन हो रहा है। ग्राशा हे हिन्दी भाषी जनता इससे ग्रत्यन्त ही लाभान्वित होगी।

सकलनकर्ता उन महापुरुप के चरगों में कृतज्ञ भाव से वन्दन हो।
—विजयकलापूर्णसूरि

अनुक्रमणिका

	स्तुति	रचियता	पृष्ठाक
1	यी वर्ड मान द्वात्रिशिका	श्री सिद्धसेनदिवाकरसूरि	1-10
2	थी जिन स्तवन	श्री सिर्द्धीप गिए।	11–16
3	श्री ऋप भपचाशिका	श्री धनपाल महाकवि	17–31
4	ग्रयोगव्यवच्छेद द्वात्रिशिका	श्री हेमचन्द्रस्रि	32-40
5	ग्रन्ययोगव्यवच्छेद द्वात्रिशिका	श्री हेमचन्द्रसूरि	41–50
6	माधारगा जिन स्नवन	श्री कुमारपाल भूपाल	51-59
7	परम-ज्योति-पञ्चिविंगतिका	श्री यशोविजय उपाध्याय	60–64
8	परमान्म-पञ्चविद्यतिका	श्री यशोविजय उपाध्याय	6569
9	श्री वीतराग स्तोत्र	श्री हेमचन्द्रसूरि	70-107
10	परिशिष्ट 1, 2, 3	- •,	108-123

जिन-भक्तित

श्राचार्य-पुरन्दर महावादी श्री मिद्धमेन दिवाकर-रचित

अश्री वर्द्धमानद्वात्रिंशिका *

सदा योगसारम्यारसमुदमूतसाम्य ,
प्रभोत्पादितप्राणिपुण्यप्रकाश ।
प्रिलोकोशवन्छस्त्रिकालज्ञनेता,
स एक परारमा गतिमें जिनेन्द्र ।।१।।

श्रयं—भाषिक भाव मे उत्पत्न ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप योग की तादाहम्यता के श्रनुभव मे जिनमे नदा समर्पण भाव विद्यमान है, जिन्होंने केवन-ज्ञान श्रीर केवल-दर्शन की प्रभा से श्रपने शामन के श्रन्तगंत प्राणियों में धम का उद्योत प्रमारित विया है, जो तिलोक के स्वामी देवेन्द्र, भूमीन्द्र एवं चमरेन्द्रों के लिये भी वन्दनीय है श्रीर जो मित, धृत, श्रवधि तथा मन प्यंव ज्ञान-युक्त पुरुषों के स्वामी है, ऐसे सामान्य केवलियों के लिये एन्द्र तुल्य परमात्मा श्री वर्द्ध मान स्वामी ही मेरी गांच स्वरूप हो—मुक शरण हो। (१)

शिवोऽधाविसरयोऽच बुद्ध पुराण , पुमानत्यलक्ष्योऽत्यनेकोऽत्यर्थक । प्रमुख्याऽऽत्मवृत्त्यात्युपाधिस्यभाव , स एक परात्मा गतिमें जिनेन्द्र ॥२॥ जुगुण्साभयाज्ञाननिद्राविरत्यं—
गभृहास्यशुग्द्वेषमिण्यात्वरागैः ।
न यो रत्यरत्यन्तरायैः सिषवे.

स एकः परात्मा गतिमें जिनेन्द्रः ॥३॥

श्चर्य निन्दा, भय, श्रज्ञान, नीद, श्चिवरित, काम-लिप्सा, हास्य, शोक, द्वेष, मिथ्यात्व, राग, रित, श्चरित, तथा दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय एव वीर्यान्तराय ये पाच श्चन्तराय इस प्रकार श्रठारह दोष जिनमे नहीं हैं वे एक ही परमात्मा जिनेन्द्र मेरी गित रूप हो। (३)

न यो बाह्यसत्त्वेन मैत्रीं प्रपन्नस्तमोभिर्न नो वा रजोभि प्रगुन्नः ।
त्रिलोकोपरित्राणनिस्तन्द्रमुद्रः,

स एकः परात्मा गतिमें जिनेन्द्रः ॥४॥

श्चर्य—जो प्रभु बाह्य सत्त्व अर्थात् लौकिक सत्त्व गुए से मित्रता नहीं रखते, जो श्रज्ञान रूपी अधकार तथा रजोगुए। से भी प्रेरित नहीं हैं श्रौर तीनों लोकों की रक्षा करने में जिनकी मूर्ति श्रालस रहित है, वे एक ही श्री जिनेन्द्र मेरी गति रूप हो। (४)

हृषिकेश ! विष्णो ! जगन्नाय ! जिष्णो !,
मुकुन्दाच्युत ! श्रीपते ! विश्वरूप !
ग्रमन्तेति सबोधितो यो निराशैः,
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥५॥

श्चर्थ—हे इन्द्रियों के नियता । हे लोकालोक मे व्याप्त ज्ञान से युक्त । हे विश्व मे विद्यमान भव्य प्राणियों के नाथ । हे राग-द्वेष के विजेता । हे पाप से मुक्त कराने वाले । हे स्खलन से रहित । हे केवलज्ञान रूप लक्ष्मी के पित । हे असल्य प्रदेशों मे अनावृत स्वरूप से युक्त । हे अनन्त । आदि सम्बोधनों से निष्काम पुरुषों ने जिन्हें सम्बोधन किया है, ऐसे श्री जिनेन्द्र अमु ही मेरी गित हो। (४)

पुराऽनंगकालारिराकाशकेशः,

कपाली महेशो महाव्रत्युमेशः।

मतो योऽष्टमूर्तिः शिवो सूतनाथः,

स एकः परात्मा गतिमें जिनेन्द्रः ॥६॥

प्रय—पूर्व मे धपक श्रेणी मे ग्रामट हुए तब से जो कामदेव स्पी मिलन पत्र के वैरी है, जो लोकाकाश स्पी पुरुषावार के मस्तक पर विद्यमान सिद्ध णिला पर न्नान करने वाते हैं, जो ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले हैं, जो महान् एंड्वयं के भोक्ता हैं, जो महाब्रतधारी हैं, जो केवलज्ञान केवल-दर्शन रपी पायंती के पित हैं, जो श्रष्टकर्मों के ध्य से श्रष्ट गुर्णो स्पी मिलयों में युक्त हैं, जो करयारा स्वस्प हैं तथा जो समस्त प्रार्णियों के नाथ है, ये परमात्मा जिनेन्द्र एक ही मेरी गित हो। (६)

> विधि-प्रह्म-लोवेश- शभु-स्वयभू-, चतुर्ववत्रमुरयाभिधानां विधानाम् । प्रुवोऽधो य ऊचे जगत्सगृहेतुः, स एक परात्मा गतिमें जिनेन्द्र ।।७।।

म्रर्थ-विदव के भव्य प्राणियों को मोक्ष मार्ग प्रदान करने में जो प्रभु निश्चल हेतु रूप है श्रीर जो विधि, ब्रह्मा, लोकेश, शभु, स्वयभू एवं चतुर्मुख धादि नामों के कारण रूप है, वे जिनेन्द्र ही एक मेरी गति रूप हो। (७)

न भूल न चाप न चक्रादि हस्ते,
न हास्य न लास्य न गीतादि यस्य ।
न नेम्ने न गाम्ने न वषन्ने विकार,
स एक परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥ ॥ ॥

ष्यर्थ — जिनके हायों में त्रिशूल, धनुष एवं चक्र श्रादि णस्त्र नहीं है, जो हास्य, नृत्य एवं गीत श्रादि से दूर है श्रीर जिनके नेत्र, देह श्रयवा मुँह में विकार नहीं है. ये श्री जिने द्व परमातमा एवं ही मेरी गति हो। (८)

न पक्षी न सिर्गे चुषो नावि चाव,

न रोषप्रसादादिजन्मा विष्टम्ब । न निर्णंश्चरित्रजेने यस्य यम्प , स एक परातमा गतिमें जिनेन्द्र ।।१।।

धरं—िशन प्रभ में पक्षी, जिह तथा वृषभ ता वाहन नहीं है, जिनके प्रांचे पा पन्य नहीं है, जिनके प्रांचे पा पन्य नहीं है, जिनके प्रांचे पा पन्य नहीं है, वे श्री जिनेन्द्र भण्या करते पोरंग चित्र हो। (ह)

न गौरी न गंगा न लक्ष्मी यदीयं, वपुर्वा शिरो वाऽप्युरो वा जगाहे। यमिच्छाविमुक्तं शिवश्रीस्तु भेजे, स एकः परात्मा गतिमें जिनेन्द्रः ॥१०॥

श्चर्य — जिनकी देह पर गौरी (पार्वती) बैठी हुई नही है, जिनके सिर पर गगा स्थित नहीं है श्चौर जिनके वक्षस्थल में लक्ष्मी का निवास नहीं है, किन्तु इच्छाश्चों से मुक्त जिन प्रभु का मोक्षलक्ष्मी जाप करती है, वे श्ची जिनेन्द्र प्रभु एक ही मेरी गित हो। (१०)

जगत्संभवस्थेमविध्वसरूपै-,
रसत्येन्द्रजालेर्न्यो जीवलोकम् ।
महामोहकूपै निचिक्षेप नाथः,
स एकः परात्मा गतिमें जिनेन्द्रः ॥११॥

श्चर्य — जिन प्रभु ने विश्व की उत्पत्ति, स्थिति एव नाश स्वरूप मिथ्या इन्द्रजालों के द्वारा इस लोक को महा मोह रूपी कुँए में नहीं डाला, वे एक ही परमात्मा श्री जिनेन्द्र भगवान मेरी गति हो। (११)

समुत्पत्तिविध्वसित्यस्वरूपा,
यदुत्था त्रिपद्येव लोके विधित्वम् ।
हरत्वं हरित्व प्रपेदे स्वभावेः,
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ।।१२।।

श्चर्य—जिन तीर्थंकर प्रभु से प्रकट उत्पत्ति, विनाश एव नित्यता (ध्रुवत्व) रूप त्रिपदी ही इस लोक मे स्वभाव से ब्रह्मत्व, शिवत्व एव विष्णुत्व को प्राप्त है, वे श्री जिनेन्द्र प्रभु मेरी गति रूप हो। (१२)

त्रिकालत्रिलोकत्रिशिवतित्रसन्ध्य-, त्रिवर्ग-त्रिदेव-त्रिरत्नादिभावैः । यदुक्ता त्रिपद्येव विश्वानि बन्ने, स एक. परात्मा गतिमें जिनेद्रः ॥१३॥

भ्रर्थ-जिन भगवान के द्वारा प्रतिपादित त्रिपदी त्रिकाल, त्रिलोक, त्रिशक्ति, त्रिसच्या, त्रिवर्ग तथा त्रिरत्न ग्रादि भावो के द्वारा समस्त विश्व को वरण की हुई है, वे श्री जिनेन्द्र प्रभु ही मेरो गति हो। (१३)

यदाता त्रिपद्येच मान्या ततोऽमी, तदम्स्येच नो चम्तु यत्राधितिष्ठी। ग्रतो सूमहे चम्तु यत्तद्यदीय, म एक पगरमा गतिमें जितेन्द्र ॥१४॥

प्रयं—जिन भगवान की ग्राज्ञा तिपदी ही है, जिसमें उक्त त्रिपदी मानन याग्य है। जो पस्तु तिपदी से व्याप्त है वह वस्तु है, ग्रीर जो वस्तु विषयों में ग्रीघिटिटन नहीं है वह वस्तु भी नहीं है। ग्रत हम कहते हैं कि जो पस्तु है पर त्रिपदीमय है, ऐसे श्री जिनेन्द्र भगवान एक ही मेरी गिन हो। (१४)

न शब्दो न रूप रसो नापि गन्धो, नवा स्पशनेशो न वर्णो न लिगम् । न पूर्वापरत्व न यस्यास्ति सज्ञा, स एक परात्मा गतिमें जिनेन्द्र ॥१४॥

श्रथं - जिन श्री जिनेन्द्र भगवान के शब्द, मप, रस, गन्ध, स्पर्श ये पाच जिपस नहीं है, जिन प्रभु का दवेत श्रादि वर्ग श्रथवा श्राकार नहीं है, जिनका क्षीलिय, पुतिन श्रथवा नपुसकित्म कोई जिंग नहीं है, जिन्हें यह प्रभम श्रावा यह दिवीय एंनी पूर्वापरता नहीं है तथा जिनके सज्ञा नहीं है, व श्री जिनेन्द्र भगवान एक ही मेरी गित हो। (१४)

> छिदा नो भिदा नो न यतेदों न खेदो, न शायों न दाहों न तापादिरावत् । न सौएय न दु.ख न यस्यास्ति वाज्छा, स एक परात्मा गतिमें जिनेन्द्र ॥१६॥

धय—ित भगवान या पम्य प्रादि से छेद नहीं है, करवत ग्रादि से भेद नहीं है जिया मादि से बोद तहीं है पेद नहीं है, बोद नहीं है, दाह नहीं है, प्राप्त पादि धापित तहीं है नुप नहीं है, दुख नहीं है, दूच्छा नहीं है, पे एक ही भी जिनेन्द्र भगवात मेरी पति हों। (१६)

न योगा न रोगा न चोहंगवेगा,
हिपतिनों गितनों न मृत्युन जन्म।
न पुष्य न पाप न यहयाहित वन्य,
स एक परारमा गितमें जिनेन्द्र ॥ १७॥

श्रथं — जिन प्रभु को मन, वचन ग्रीर काया के योग नहीं हैं, ज्वर ग्रादि रोग नहीं है ग्रीर जिनके चित्त में उद्देग का वेग नहीं है तथा जिन भगवान के ग्रायु की सीमा नहीं है, पर-भव में जिनका गमन नहीं है, जिनकी मृत्यु नहीं है, जिनका चौरासी लाख जीवयोनि में जन्म/ग्रवतार नहीं है, जिनको पुण्य, पाप ग्रथवा बंध नहीं है, वे एक ही श्री जिनेन्द्र मेरी गति हो। (१७)

तपः संयमः सूनृतं ब्रह्म शौचं,
मृदुत्वार्जवाकिचनत्वानि मुक्तिः ।
क्षमैवं यदुक्तो जयत्येव धर्मः,
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ।।१८।।

श्चर्य—जिनके द्वारा कथित तप, सयम, सत्य वचन, ब्रह्मचर्य, ग्रचौर्य, निरिभमान, ग्रार्जव (सरलता), ग्रपरिग्रह, मुक्ति (निर्लोभ) ग्रौर क्षमा—यह दस प्रकार का धर्म ज्वलन्त है, वे श्री जिनेन्द्र प्रभु एक ही मेरी गित हो। (१८)

श्रहो विष्टपाधारभूता धरित्रो, निरालम्बनाधारमुक्ता यदास्ते । अचिन्त्येव यद्धमंशक्तिः परा सा, स एकः परात्मा गतिमें जिनेन्द्रः ॥१६॥

भ्रथं—ग्रहो ! जिन भगवान् के धर्म की शक्ति ग्रचिन्त्य एव उत्कृष्ट है, जिससे भुवन की ग्राधार रूप यह पृथ्वी श्रालम्बन श्रौर बिना ग्राधार के स्थित है, वे श्री जिनेन्द्र परमात्मा ही मेरी गित हो। (१६)

न चाम्भोधिराप्लावयेद् भूतघात्री, समाश्वासयत्येव कालेम्बुवाहः । यदुद्भूत-सद्धर्मसाम्राज्यवश्यः, स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥२०॥

भ्रथं — जिन भगवान् से प्रकट सद्धर्म के साम्राज्य के वशीभूत बना समुद्र इस पृथ्वी को डुबोता नही है और उचित समय पर मेघ (बादल) ग्राते रहते हैं, वे ही श्री जिनेन्द्र भगवान् मेरी गति हो। (२०) न तिर्यग् ज्वलत्येव यत् ज्वालजिह्वो, यदूष्वं न वाति प्रचण्डो नभस्वान् । न जागति यद्धर्मराजप्रतापः, स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्र ॥२१॥

श्चर्य — जिन भगवान् के धर्मराज का प्रताप ऐसा जागृत है कि जिससे श्रिग्नि तिरछी प्रज्वलित नहीं होती श्रीर प्रचड हवा ऊर्घ्व गित से नहीं चलती वे एक ही श्री जिनेन्द्र भगवान् मेरी गित हो। (२१)

इमी पुष्पदन्तौ जगत्यत्र विश्वोपकाराय दिष्ट्योदयेते वहन्तौ ।
उरोक्रत्य यत्तुर्यलोकोत्तमाज्ञा,
स एकः परात्मा गतिमें जिनेन्द्रः ॥२२॥

ग्रथं — जिन लोकोत्तम प्रभु की ग्राज्ञा को ग्रगीकार करके चलने वाले सूर्य एव चन्द्रमा इस विश्व के उपकारार्थ सद्भाग्य से उदय होते हैं, वे एक ही परमात्मा मेरी गति हो। (२२)

श्रवत्येव पातालजम्बालपातात्, विधायापि सर्वज्ञलक्ष्मीनिवासान् । यदाज्ञाविधित्साश्रितानगभाज ,

स एक परात्मा गतिमें जिनेन्द्र ।।२३।।

स्रथं—पालन की जाने की इच्छुक जिन भगवान् की स्राज्ञा भव्य प्राणियों को सर्वज्ञ लक्ष्मी के निवास रूप देहहीन बना कर स्रथवा जिन भगवान् की स्राज्ञा उसे पालन करने के इच्छुक प्राणियों को सर्वज्ञ लक्ष्मी का निवास रूप बना कर नरक-निगोद म्रादि के कीचड मे गिरने से बचाती है, वे एक ही जिनेन्द्र भगवान् मेरी गति हो। (२३)

सुपर्वद्रुचिन्तामिएकामघेनु-

प्रभावा नृएा नैव दूरे भवन्ति । चतुर्थे यदुरथे शिवे भक्तिभाजा,

स एकः परात्मा गतिमें जिनेद्रः ॥२४॥

श्रयं — जिन भगवान् से प्रकट चौथे लोकोत्तर (मुक्ति रूपी भाव) कल्याण के सम्बन्ध मे भक्ति-युक्त भव्य प्राणियों के लिये कल्पवृक्ष, चिन्ता-मणि श्रौर कामधेनु प्रभाव भी दूर नहीं है, वे एक ही जिनेन्द्र भगवान् मेरी गति हो। (२४)

किलव्यालविह्नग्रहव्याधिचौर-व्यथावारणव्याघ्रवीश्यादिविष्टनाः । यदाज्ञाजुषां युग्मिनां जातु न स्युः, स एकः परात्मा गतिमें जिनेन्द्रः ॥२५॥

श्चर्य—जिन भगवान् के ग्राज्ञा-पालक स्त्री-पुरुषो रूपी युग्मो को क्लेश, सर्प-भय, श्चरिन-भय, ग्रह-पीडा, रोग, चोर का उपद्रव, गज-भय श्चीर व्याघ्न की श्रेगो श्रथवा व्याघ्न एव मार्ग का भय श्चादि विघ्न कदापि नही होते, वे श्ची जिनेन्द्र प्रभु एक ही मेरी गित हो। (२५)

श्रबन्धस्तथैकः स्थितो वा क्षयी वा-,
ऽष्यसद्वा मतो येर्जडै सर्वथाऽऽतमा ।
न तेषां विमूढात्मनां गोचरो यः,
स एकः परातमा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥२६॥

भ्रथं — जो जड मनुष्य आत्मा को सर्वथा कर्म-बध रहित, एक, स्थिर, विनाशी अथवा असत् मानते है, उन मूढ मनुष्यो को जो भगवान् गोचर नही होते, वे एक ही श्री जिनेन्द्र भगवान् मेरी गित हो। (२६)

न वा दुःखगर्भे न वा मोहगर्भे,
स्थिता ज्ञानगर्भे तु वैराग्यतत्त्वे ।
यदाज्ञानिलीना ययुर्जन्मपारं,
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥२७॥

भ्रर्थ — जिन भगवान् की आज्ञा दु खर्गिमत वैराग्य भ्रथवा मोह-गिमत वैराग्य मे नही रही है, किन्तु ज्ञानगिमत वैराग्य तत्त्व मे रही है तथा जिनकी आज्ञा मे लीन हुए मनुष्यो ने जन्म-मरण रूप ससार-सागर का पार पा लिया है, वे एक ही श्री जिनेन्द्र भगवान् मेरी गित हो। (२७)

विहायास्रवं सवर सश्रयेव,
यदाज्ञा पराऽभाजि यैनिविशेषेः।
स्वकस्तरकार्येव मोक्षो भवो वा,
स एक परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः।।२८।।

ग्रर्थ — जिन निर्विशेष (सामान्य) पुरुषो ने ''हे जीव । तू स्रास्नव को छोड कर सवर का स्राश्रय ले'' इस प्रकार की जिन भगवान् की उत्कृष्ट स्राज्ञा का पालन किया है उन्होने स्रपना भव/जन्म मोक्ष स्वरूप कर दिया है, जीवन-मुक्त दशा प्राप्त की है, ऐसे श्री जिनेन्द्र भगवान् एक ही मेरी गित हो। (२८)

शुभव्याननीरेक्रीकृत्य शौचं, सदाचारदिव्यांशुकं भूषितागाः। बुधा केचिदहीन्ति य देहगेहे, स एक. परात्मा गतिमें जिनेन्द्र ॥२६॥

श्चर्य—कोई पण्डित पुरुष शुभ घ्यान रूप जल से पिवत्र हो श्चीर सदाचार रूपी दिव्य वस्त्रों से श्चगों को श्रलकृत करके श्चपनी देह रूपी मन्दिर में जिन भगवान् के स्वरूप की पूजा करते हैं, वे एक ही जिनेन्द्र भगवान् मेरी गित हो। (२६)

दयासुनृतास्तेयनि.सगमुद्रा-, तपोज्ञानशीलैर्गु रूपास्तिमुख्यैः । शुभैरष्टभिर्योऽरुर्यते घाम्नि घन्यैः, स एक परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥३०॥

श्चर्य—जो धन्य पुरुष दया, सत्य, श्चनौर्य, नि सग मुद्रा, तप, ज्ञान, शील एव गुरु की उपासना इन प्रमुख ब्राठ पुष्पो से जिन भगवान् की ज्ञान-ज्योति मे पूजा करते है, वे श्री जिनेन्द्र भगवान् एक ही मेरी गति हो। (३०)

> महार्च्चिंनेशो महाज्ञा महेन्द्रो, महाशान्तिभर्ता महासिद्धसेन । महाज्ञानवान् पावनीमूर्त्तिरहंन्, स एक परात्मा गतिमें जिनेन्द्र ॥३१॥

श्रथं—हे ग्रहंन् । श्राप परम ज्योतिर्मय हैं, कुवेर के समान श्रात्म-ऋद्धि के स्वामी है, महान् श्राज्ञायुक्त हैं, महेन्द्र रूप परम ऐश्वर्य के भोक्ता हैं, महा शान्त रस के नायक है, महान् सिद्धों के पर्यायों की सन्तित युक्त हैं, केवलज्ञानी हैं श्रीर सवको-पावन करने वाली मूर्ति से युक्त हैं, वे श्राप श्री जिनेन्द्र प्रभु ही मेरी गित रूप हो। (३१)

महाब्रह्मयोनिर्महासत्त्वमूर्त्त-,
र्महाहसराजो महादेवदेवः ।
महामोहजेता महावीरनेता,
स एक परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ।।३२।।

श्चर्य—जो भगवान परब्रह्म के उत्पत्ति-स्थान है, जो महान् धैर्य की मूर्ति है, जो महान् चैतन्य के राजा है, जो चार निकायो के कर्मोपाधि से युक्त महान् देवो के भी देव है, जो महा मोहविजेता है ग्रौर जो महावीर अर्थात् कर्मक्षय करने मे महान् योद्धा के भी स्वामी है, वे श्री जिनेन्द्र प्रभु ही एक मेरी गित हो। (३२)

(उपसहार काव्यम्) शार्द्ग लिवकीडितम

इत्थं ये परमात्मरूपमिनशं श्रीवर्द्धमानं जिनम्, वन्दन्ते परमार्हतास्त्रिभुवने शान्तं परं दैवतम् । तेषां सप्तभियः क्व सन्ति दलित दुःखं चतुर्घाऽपि ते-र्मुक्तैर्यत् सुगुणानुपेत्य वृणुते ताश्चक्रिशक्रश्रियः ।।३३।।

इस प्रकार जो परम श्रावक सदा तीन भुवन में शान्त परमात्म-स्वरूप एव परम देवत श्री वर्धमान प्रभु की वन्दना करते हैं, उन श्रावको को सात प्रकार के भय तो भला कैसे हो सकते हैं ? परन्तु वे मुक्त होकर चार प्रकार के दु खो का भी दलन कर देते हैं श्रौर ग्रान्त चतुष्ट्य ग्रादि उत्तम गुणो को प्राप्त करके चक्रवर्ती की एव मोक्ष पर्यन्त की लिक्ष्मयो का वरण करते है। (३३)

श्रो उपिमितिभवप्रपञ्चामहाकथा-रचियता श्री सिर्द्धीषगिणिविरचितम्

* श्री जिनरतवनम् *

श्रपारघोरससार - निमग्नजनतारक ! किमेव घोरससारे, नाथ ! तेविस्मृतो जनः ? ॥१॥

श्रपार महा भयकर ससार-सागर मे डूबे हुए प्राणियो के तारणहार हे नाथ ! इस भयानक ससार-सागर मे क्या श्राप मुक्ते भूल गये ? (१)

सद्भावप्रतिपन्नस्य, तारणे लोकबन्धव ! त्वयाऽस्य भुवनानन्द !, येनाद्यापि विलम्ब्यते ? ॥२॥

हे लोकवधु । तीनो भुवन को ग्रानन्द देने वाले । इस कारण मैंने सच्चे भाव से ग्रापको स्वीकार किया है, फिर भी ग्राप ससार से मेरा उद्धार करने मे ग्रव भी विलम्ब कर रहे है ? (२)

श्रापन्नशरणे दीने, करुणाऽमृतसागर ! न युक्तमीदृश कर्तुं, जने नाथ । भवादृशाम् ॥३॥

ग्रहो करुणामृत सागर । शरुणागत दीन जन के साथ ग्रापके जैसे को इस प्रकार व्यवहार करना किसी भी तरह उचित नही है। (३)

भोमेऽह भवकान्तारे, मृगशावकसन्निभः । विमुक्तो भवता नाथ !, किमेकाकी दयालुना ? ॥४॥

हे नाथ । ग्रापके समान दयालु स्वामी ने, इस भयकर भव-वन मे हिरन के बच्चे नी तरह मुके ग्रकेला क्यो छोड दिया है ? (४)

> इतश्चेतश्च निक्षिप्त - चक्षुस्तरलतारकः । निरालम्बो भयेनेव, विनश्येऽह त्वया विना ॥ १॥

इधर-उधर दृष्टि डालता हुग्रा चचल पुतली वाला निराधार एव भयभीत बना हुग्रा मैं श्रापके बिना ग्रवश्य नष्ट हो जाऊँगा। (५)

> श्रनन्तवीर्यसम्भार!, जगदालम्बदायक! विधेहि निर्भयं नाथ! मामुत्तार्य भवाटवीम् ॥६॥

हे अनन्त वीर्य के स्वामी । विश्व के आलम्बन । नाथ । आप मुभे भव-वन से बाहर निकाल कर भय-मुक्त करे। (६)

> न भास्करादृते नाथ! कमलाकरबोधनम् । यथा तथा जगन्नेत्र!, त्वदृते नास्ति निवृतिः ॥७॥

है नाथ । जिस प्रकार कमल - वन को विकसित करने वाला सूर्य के म्रातिरिक्त ग्रन्य कोई नहीं है, उसी प्रकार हे विश्व-चक्षु ! ग्रापके ग्रतिरिक्त किसी से भी मेरी मुक्ति होने वाली नहीं है। (೨)

किमेष कर्मगां दोषः ?, कि ममैव दुरात्मनः ? कि वाऽस्य हतकालस्य ?, कि वा मे नास्ति भव्यता ? ॥ । ॥ । ।

हे त्रिलोक-भूषरा प्रभु! क्या यह मेरे कर्मो का दोष है ? ग्रथवा मुभ दुरात्मा का स्वय का दोष है ? ग्रथवा क्या इस ग्रधम काल का दोष है ? ग्रथवा क्या मेरे मे भव्यत्व-भाव नहीं है ? (८)

> कि वा सद्भक्तिनिग्रीह्य!, मद्भक्तिस्त्विय तादृशी। निश्चलाऽद्यापि सम्पन्ना, न मे भुवनभूषण्!।।६।।

श्रथवा हे सद्भक्ति से प्राप्त होने वाले भुवन-भूषरा ! क्या श्रभी तक श्रापके प्रति मेरी ऐसी निश्चल भक्ति ही नहीं हुई है ? (६)

लीलादिलतितःशेषकर्मजाल ! कृपापर ! मुक्तिमर्थयते नाथ !, येनाद्यापि न दीयते ? ॥१०॥

लीला मात्र मे समस्त कर्म-जाल को काट डालने वाले हे कृपालु भगवान्! क्या उस कारण से मुक्ति माँगने पर भी ग्राप श्रभी तक मुक्ते मुक्ति प्रदान नहीं करते ? (१०)

> स्फुट च जगदालम्ब !, नाथेद ते निवेद्यते । नास्तीह शरणं लोके, भगवन्तं विमुच्य मे ।।११॥

विश्व के स्रालम्बन हे प्रभु । मैं स्पष्ट कह रहा हूँ कि इस लोक में स्रापके स्रतिरिक्त स्रन्य कोई भी मुक्ते शरणदाता नहीं है। (११)

स्व माता त्व पिता वन्धु-, स्तव स्वामी त्व च मे गुरु । त्वमेव जगदानन्द ।, जीवित जीवितेश्वर ! ॥१२॥

हे जगदानन्द । हे जीवितेश्वर । ग्राप मेरी माता हैं, ग्राप मेरे पिता है, ग्राप मेरे वधु है, ग्राप मेरे स्वामी हैं, ग्राप मेरे गुरु हैं ग्रौर ग्राप ही मेरे जीवन हैं। (१२)

> त्वयाऽवधीरितो नाय ।, मीनवज्जलवर्जिते । निराशो दैन्यमालम्ब्य, स्त्रियेऽह जगतीतले ।।१३॥

हे नाथ । श्रापसे तिरस्कृत वना मैं हताश होकर जल-विहीन मछली की तरह निराधार होकर पृथ्वी पर मृत्यु का ग्रास हो जाऊँगा। (१३)

> स्वसवेदनसिद्ध मे, निश्चले त्विय मानसम् । साक्षाद्भूतान्यभावस्य, यद्दा कि ते निवेद्यताम् ? ॥१४॥

हे भगवान्। श्रापको निश्चल पाकर मेरा मन श्राप में लीन हो गया है, इसका मुक्ते व्यक्तिगत श्रनुभव है श्रथवा श्रन्य प्राणियो के भावो के साक्षात् ज्ञाता श्रापको क्या कुछ भी कहने की ग्रावश्यकता है ? (१४)

मिच्चित्त पद्मवन्नाय !, दृष्टे भुवनभास्करे । त्वयीह विकसत्येव, विदलत्कर्मकोशकम् ॥१४॥

हे नाथ । तीन भुवन में सूर्य के समान आपको देख कर कमल की तरह मेरा चित्त यहा कर्म-कोश को भेद कर अवश्य विकसित होता है।(१५)

श्रनन्तजन्तुसन्तान - व्यापाराक्षणिकस्य ते । समोपरि जगन्नाथ ।, न जाने कीद्शो दया । ॥१६॥

हे जगन्नाथ । अनन्त प्राणियो के ममूह के व्यापार के सम्बन्ध मे आप व्यापृत प्रभु की मुभ पर कैमी दया है, यह मैं नही जानता । (१६)

> समुन्नते जगन्नाथ ।, त्विय सद्धर्मनीरदे । नृत्यत्येष मयूरा भो, मद्दोर्दण्डशिखण्डिक ।।१७।।

हे जगन्नाथ । सद्धर्म रूपी वादलो के घिर ग्राने से मेरे भुज-दण्ड रूपी मयूर नृत्य वरने लगते हैं। (१७)

तदस्य किमिय भक्ति ? किमुन्मादोऽयमीदृश ? दोयता वचने नाथ ।, कृपया मे निवेद्यताम् ॥१८॥ हे नाथ । यह क्या उनकी भक्ति है अथवा पागलपन है ? आप अपने वचनो के द्वारा मुभे बतायें, कृपा करके मुभे कहे। (१८)

मञ्जरीराजिते नाथ । , सच्चूते कलकोकिल । यथा दृष्टे भवत्येव, लसत्कलकलाकुलः ॥१६॥

हे नाथ! मजरी से सुशोभित ग्राम के वृक्ष को देखकर जिस प्रकार मनोहर कोयल कल-कल की घ्वनि करने लगती है, (१६)

तथैष सरसानन्द-बिन्दुसन्दोहदायके । त्विष दृष्टे भवत्येव, मूर्खोऽपि मुखरो जनः ।।२०।। युग्मम्

उसी प्रकार से सरस ग्रानन्द-बिन्दु के समूह को प्रदान करने वाले ग्रापको देख कर यह मूर्ख व्यक्ति भी वाचाल हो जाता है। (२०)

> तदेनं माऽवमन्येथा, नाथासंबद्धभाषिराम् । मत्वा जन जगज्ज्येष्ठ ।, सन्तो हि नतवत्सलाः ।।२१।।

इस कारएा जगत् के हे श्रेष्ठ पुरुष । हे नाथ । मुक्ते ग्रसम्बद्ध भाषएा करने वाला मान कर मेरा तिरस्कार न करे, क्यों कि सन्त पुरुष नमन करने वाले प्रािएयों के प्रति वत्सलता भाव वाले होते हैं। (२१)

कि बालोऽलोकवाचाल, श्रालजाल लपन्निप । न जायते जगन्नाथ [।], पितुरानन्दवर्धकः ? ।।२२।।

हे जगन्नाथ । बालक अस्त-व्यस्त, सच्चा-मिथ्या अथवा पागल सा बोलता है तो भी क्या वह पिता के आनन्द मे वृद्धि करने वाला नही होता ? (२२)

> तथाऽश्लोलाक्षरोल्लापजल्पाकोऽय जनस्तव । कि विवर्धयते नाथ !, तोष कि नेति कथ्यताम् ? ।।२३।।

हे नाथ । मैं अश्लील अक्षरों के उल्लाप स्वरूप जैसी तैसी भाषा में बोलता हूँ, जिससे आपके आनन्द में वृद्धि होती है अथवा नहीं, यह आप मुभे बतायें। (२३)

> श्रनाद्यभ्यासयोगेन, विषयाशुचिकर्दमे । गर्ते सूकरसंकाश, याति मे चटुल मनः ॥२४॥

हे नाथ । श्रनादिकालीन श्रम्यास से मेरा चचल मन विषय रूप श्रपवित्र कीचड मे जूकर की तरह चला जाता है। (२४)

> न चाह नाथ ! शक्नोमि, तन्निवारियतु चलम् । श्रतः प्रसोद तद्देवदेव [।] वारय वारय ॥२४॥

हे नाथ । मेरे इस चचल मन को रोकने में मैं समर्थ नहीं हूँ। श्रत हे देवाधिदेव ! मुक्त पर कृपा करके उसे विषय रूपी श्रशुचि में जाने से रोको, रोको। (२५)

> कि ममापि विकल्पोऽस्ति, नाथ । तावकशासने । येनैव लपतोऽघोश । नोत्तर मम दीयते ? ॥२६॥

हे नाथ । क्या मुफ्ते श्रापकी श्राशा के सम्बन्ध मे कोई सन्देह है ? जिसके परिएगम से मैं इतना कहता हूँ तो भी श्राप मुफ्ते उत्तर नहीं दे रहे है ? (२६)

श्रारूढमीयतीं कोटीं, तव किञ्करता गतम्। मामप्येतेऽनुघावन्ति, किमद्यापि परीषहाः?।।२७।।

हे नाथ ! में ग्रापका सेवक-पद पा गया—इतने स्तर तक मैं भ्रागे वढा, तो भी श्रभी तक ये परीषह मेरा पीछा कर रहे हैं, उसका क्या कारण है ? (२७)

कि चामी प्रणताशेष — जनवीर्यविधायक !। उपसर्गा ममाद्यापि, पृष्ठ मुञ्चन्ति नो खलाः ?।।२६।।

समस्त जनो के वीर्य को उत्पन्न करने वाले हे नाथ । ये दुष्ट उपसर्ग ग्रभी तक मेरा पीछा क्यो नहीं छोडते ? (२८)

> पश्यन्नपि जगत्सर्वं, नाथ । पुरत संस्थितम् । कषायारातिवर्गेरा, कि न पश्यसि पोडितम् ? ॥२६॥

हे नाय । श्रिखल विश्व को आप देख रहे हैं, फिर भी आपके सम्मुख खडे हुए तथा कथाय रूपी शत्रुओं से पीडित इस सेवक को आप क्यो नहीं देखते ? (२६)

कवायाभिद्रुत वीक्ष्य, मा हि कारुशिकस्य ते। विमोचने समर्थस्य, नोपेक्षा नाथ । युज्यते॥३०॥ हे नाथ । मुभे कषायों से पीडित देख कर भी ग्रीर उनसे छुडाने में समर्थ होते हुए भी ग्राप जैसे दयालु को मेरी उपेक्षा करना उचित नहीं है। (३०)

विलोकिते महाभाग ।, त्विय ससारपारगे। श्रासितुं क्षरणमप्येकं, ससारे नास्ति मे रितः ॥३१॥

है महाभाग ! ससार से मुक्त हुए आपको देखने के पश्चात् इस ससार मे एक क्षरा भर के लिए भी रहने की मेरी रुचि नहीं है। (३१)

किं तु किं करवारगीह? नाथ । मामेष दारुण । श्रान्तरो रिपुसघातः, प्रतिबध्नाति सत्वरम् ॥३२॥

किन्तु हे नाथ! मैं क्या करू ? इन अन्तरग शत्रुओ का समूह मुभे कठोरता से सत्वर बाध लेता है। (३२)

विधाय मिय कारुण्यं, तदेन विनिवारय। उद्दामलीलया नाथ । येनागच्छामि तेऽन्तिके ॥३३॥

हे नाथ ¹ मुभ पर कृपा करके उस शत्रु-समूह को प्रचड लीला से दूर करो, जिससे मैं ग्रापके समीप पहुँच सकू । (३३)

> तवायत्तो भवो घीर¹, भवोत्तारोऽपि ते वशः। एव व्यवस्थिते किं वा, स्थीयते परमेश्वरः?।।३४॥

हे धीर । यह ससार आपके आधार पर है और इस ससार से उद्धार होना भी आपके अधीन है। तो फिर हे परमेश्वर । आप शान्त क्यो बैठे है ? (३४)

तद्दीयतां भवोत्तारो, मा विलम्बो विधोयताम्। नाथ । निर्गतिकोल्लाप, न शृण्वन्ति भवादृशाः ॥३४॥

श्रत श्रव मुक्ते ससार से पार करो, विलम्ब मत करो। हे नाथ । जिसका श्रन्य कोई ग्राधार नहीं है, ऐसे मेरे जैसे व्यक्ति के उद्गार क्या श्राप जैसे नहीं सुनेगे। (३४)

सिद्धसारस्वतमहाकविश्वीधनपालविरचिता

श्रीऋषभपंचाशिका

जयजतुकप्पपायव । चदायव । रागपकयवग्रास्स । सयलमुणिगामगामिग् । तिलोश्चचूडामिग् । नमो ते ।।१॥ (जगज्जन्तुकल्पपादप ! चन्द्रातप ! रागण्ड्कजवनस्य । सकलमुनिग्राम-ग्रामणी-स्त्रिलोकचूडामग्रे ! नमस्ते ।।)

विश्व के जीवों को वाछित फल प्रदान करने वाले होने के कारण हें कल्पवृक्ष के समान योगीश्वर , राग रूपी सूर्य से विकसित होने वालें (कमलों के वन को) उन्मीलित करने वाले होने से (चन्द्रप्रभा) तुल्य परमेश्वर , हे, सकल कला युक्त मुनिगण के नायक , हे स्वर्ग, मत्यं एव पाताल (ग्रथवा श्रधोलोक, मध्यलोक एव ऊर्ध्वलोक) रूपी त्रिभुवन की (सिद्ध शिला रूपी) चूडा के लिये (उसके शाश्वत मण्डन रूप होने के कारण) मिण तुल्य ऋषभदेव स्वामिन् । ग्रापकों मेरा त्रिकरण शुद्ध पूर्वक नमस्कार हो। (१)

जयरोसजलगाजलहर !, कुलहर ! वरणाणदसगासिरीणं । मोहितिमिरोहिदिगायर !, नयर ! गुगागणाण पउराण ॥२॥ (जय रोषज्वलनजलधर । कुलगृह । वरज्ञानदर्शनिश्रयो. । मोहितिमिरोघिदिनकर । नगर । गुणगणाना पौराणाम् ॥)

हे कोध रूपी अग्नि को ज्ञान्त करने मे मेघ के समान 1, हे उत्तम (अप्रतिवाति) ज्ञान एव दर्शन रूपी लिक्ष्मयो के आनन्दार्थ कुलगृह तुल्य !, हे अज्ञान रूपी अधकार के समूह का अन्त करने मे सूर्य के समान 1, हे (तप, प्रशम आदि) गुणो के समुदाय स्वरूप नागरिको के नगर तुल्य 1 आपकी जय हो, आप सर्वोत्कृष्ट हो। (२)

विद्वो कहिव विहडिए, गंठिम्मि कवाडसंपुडघरांमि।
मोहधयारचारयगएण जिरा ! दिणयरुव्व तुम ।।३।।
(दृष्टः कथ्मिप विघटिते ग्रन्थौ कपाटसम्पुटघने।
मोहान्घकारचारकगतेन जिन! दिनकर इव त्वम्।।)

ग्रनेक भवो से एकत्रित होने से द्वार के युगल जैसी गाढ राग-द्वेष के परिणाम स्वरूप गाठ का जब ग्रत्यधिक परिश्रम से नाश हुग्रा, तब हे जिनेश्वर । २८ प्रकार के मोह रूपी ग्रधकार से व्याप्त कारागृह मे मुभे सूर्य के समान ग्रापका दर्शन हुग्रा। (३)

भविश्रकमलाए जिणरवि । दंसरापहरिसूससताणं । दढबद्धा इव विहडति, मोहतम-भमरविदाइ ।।४।। (भन्यकमलेभ्यो जिनरवे । त्वदृर्शनप्रहर्षोच्छ्वसद्भ्यः । दृढबद्धानीव विघटन्ते मोहतमोभ्रमरवृन्दानि ।।)

मिथ्यात्वरूपी रात्रि का नाश करने वाले एव सुमार्ग की ज्योति फेलाने वाले हे जिन-सूर्य । ग्रापके दर्शन रूपी प्रकृष्ट ग्रानन्द से विकसित भव्य कमलो से दृढता पूर्वक वाँ हुए मोह ग्रधकार रूपी भोरो के समूह मुक्त हो जाते है। (४)

> लहुत्तगाहिमाणो, सब्बो सब्बहुसुरविमाग्गस्स । पदं नाह । नाहिकुलगर-, घरावयारुम्मुहे नहो ॥ ॥ ॥ (शोभनत्वाभिमानः सर्वः सर्वार्थसुरविमानस्य । त्विय नाथ । नाभिकुलकर,-गृहावतारोन्मुखे नष्टः ॥)

हे नाथ । जब ग्रापने नाभि कुलकर के घर मे ग्रवतार लिया, तब सर्वार्थसिद्ध नामक देव विमान का सौन्दर्य सम्बन्धी समस्त गर्व चूर चूर हो गया। (५)

पइ चितादुल्लहमुवलसुवलकलए ग्रउच्वकष्पदुमे । ग्रवइन्ने कष्पतक् जयगुरु ! हित्था इव पग्रोत्या ॥६॥ (त्विय चिन्तादुर्लभमोक्षसुलकलदेऽपूर्वकल्पद्रुमे । ग्रवतीर्णे कल्पतर बो जगद्गुरो ! ह्लीस्था इव प्रोपिता ॥) सकल्प से दुर्नभ मोक्ष-सुख रूपी फल प्रदान करने वाले श्राप श्रपूर्व कल्पवृक्ष श्रवतीर्ण हुए, जिससे हे जगद्गुरु । कल्पवृक्ष मानो लिज्जित हो गये हो उस प्रकार श्रदृश्य हो गये। (६)

श्ररएण तइएण, इमाइ श्रोसिष्पगोइ तुह जम्मे।
फुरिश्रं कग्गगमएण, व कालचिकक्कपासिम ॥७॥
(श्ररकेगा तृतीयेनास्यामवसिष्पण्या तव जन्मनि।
स्फुरित कनकमयेनेव कालचक्रकपाश्वें॥)

कालचक के एक श्रोर इस ग्रवसर्पिणी काल मे श्रापके जन्म से तीसरा श्रारा स्वर्णमय जैसे सुशोभित रहा। (७)

जिम्म तुम श्रिहिसित्तो, जत्थ य सिवसुवखसपय पत्तो ।
ते श्रद्वावयसेला, सीसामेला गिरिकुलस्स ॥०॥
(यत्र त्वमभिषिक्तो यत्र च शिवसुखसपद प्राप्तः ।
तवाष्टापदशैली, शीर्षापीडी गिरिकुलस्य ॥)

जिस स्वर्ण गिरि पर श्रापका जन्माभिषेक हुन्ना वह एक श्रष्टापद (मेरु) पर्वत तथा जहाँ श्रापने णिव-सुख की सम्पत्ति प्राप्त की श्रर्थात् जहाँ श्रापका निर्वाण हुन्ना वह विनीता नगरी के समीपस्थ ब्राठ सीढियो वाला दूसरा श्रष्टापद पर्वत—ये दोनो पर्वत समस्त पर्वतो के समूह के मस्तक पर मुक्ट स्वरूप हो गये। (८)

घन्ना सविम्हय जेहि, भत्ति कयरज्जमज्जणो हरिए।। चिरघरिश्रनलिए।पत्ताऽभिसेश्रसलिलेहि दिट्ठो सि ॥६॥ (घन्या सविस्मय यैभेटिति कृतराज्यमज्जनो हरिएा। चिरघृतनलिनपत्राभिषेकसलिलेद् घ्टोऽसि ॥)

हे जगन्नाथ । इन्द्र के द्वारा शीघ्र राज्याभिषेक किये गये आपको दीर्घ काल तक कमल के पत्तो के द्वारा अभिषेक (जलधारएा) किये हुए जिन युगलिको ने देखा वे धन्य है। (६)

दाविश्रविज्जासिष्पो, वज्जिरिश्रासेसलोश्रववहारो । जाम्रो सि जारा सामिद्य, पयात्रो ताग्रो कयत्याश्रो ॥१०॥ (दित्तितिवद्याशित्पो व्याकृतशेपलोकव्यवहार । जातोऽसि यासा स्वामो प्रजास्ता कृतार्या ॥) जिन्होने (शब्द, लेखन, गिएत, गीत भ्रादि) विद्याएँ एव (कुम्भकार भ्रादि) शिल्प बताये है, तथा जिन्होने (कृषि, पशु-पालन, वािराज्य, विवाह भ्रादि) समस्त प्रकार का लोक-व्यवहार भी समुचित प्रकार से समभाया है, ऐसे भ्राप जिन प्रजा-जनो के स्वामी हुए हैं, वे प्रजाजन भी कृतार्थ है। (१०)

बंधुविहत्तवसुमई, वच्छरमिच्छन्नदिन्नधरानिवहो । जह तंतह को भ्रन्तो, निश्रमधुरं घीर ! पिडवन्तो ॥११॥ (बन्धुविभक्तवसुमितः वत्सरमिच्छन्नदत्तधनिवह । यथा त्वं तथा कोऽन्यो नियमधुरां धीर ! प्रतिपन्नः॥)

जिन्होने (भरत ग्रादि पुत्रो एव सामन्तो रूपी) बन्धुग्रो मे पृथ्वी का विभाजन कर दिया श्रौर जिन्होने निरन्तर एक वर्ष तक धन का दान किया है, ऐसे ग्रापने जिस प्रकार (दीक्षा के समय समस्त पापपूर्ण ग्राचरण के त्याग की) नियमधुरा को धारण किया, उस प्रकार हे धीर ! ग्रन्य कौन धारण कर सकता है ? (११)

सोहिस पसाहित्रंसो, कज्जलकिसणाहि जयगुरु जडाहि।
जवगूढिविसिज्जिश्ररायलिच्छबाहच्छडाहिं व ।।१२।।
(शोभसे प्रसाधितांस कज्जलकृष्णाभिर्जगद्गुरो जटाभिः।
उपगूढिविसिज्जतराजलक्ष्मीबाष्पच्छटाभिरिव।।)

हे जगद्गुरु ! राज्यकाल मे स्रालिंगन की हुई स्रौर दीक्षा-काल मे त्याग की गई राज्य-लक्ष्मी की मानो स्रश्नुधारा ही हो उस प्रकार की काजल के समान स्थाम जटा से स्रलकृत स्कध्युक्त स्राप सुशोभित हो रहे हैं। (१२)

> उवसामिम्रा म्राग्जा, देसेसु तए पवन्नमोणेण । म्रभणंत च्चिम्र कज्जं, परस्स साहंति सप्पृरिसा ॥१३॥ (उपशमिता म्रनार्या देशेषु त्वया प्रपन्नमौनेन । म्रभणन्त एव कार्यं परस्य साधयन्ति सत्पुरुषाः ॥)

हे नाथ । ग्रापने (वहली, ग्रडम्व, इल्लायोनक ग्रादि ग्रनार्य देशो मे) ग्रनार्यो को मौन घारएा करके शान्त किये वह सचमुच एक ग्राश्चर्य है, (क्योंकि किसी को भी शान्त करने का उपाय वाक्-चातुर्य है, ग्रथवा यह हे भुवन-प्रदीप ! केवलज्ञान की पूजा के समय भरत ने आपको भी चक्र रत्न के समान देखा, क्यों कि विषय-तृष्णा पूज्य जनो को भी मित विभ्रम कराती है। (१७)

पढमसमोसरणमुहे, तुह केवलसुरवहूकश्रोज्जोग्रा। जाया श्रग्गेई दिसा, सेवासयमागयसिहि व्व॥ १८॥ (प्रथमसमवसरणमुखे तव केवल सुरवधू कृतोद्योता। जाता श्राग्नेयी दिशा सेवास्वयमागतशिखीव॥)

आपके प्रथम समवसरण के महोत्सव मे केवल सुर-सुन्दरियो (की द्युति से) प्रकाशित अग्नि दिशा भिवत से आकर्षित हो कर स्वत ही आये हुए अग्नि देव के समान हो गई। (१८)

गिहम्रवयभगमिलणो, नूणं दूरोणएहि मुहराम्रो । ठिव(ई) म्रो पढिमिल्लुम्रतावसेहि तुह देसगो पढमे ।। १६ ।। (गृहीतव्रतभङ्गमिलनो नूनं दुरावनतैर्मु खरागः । स्थिगतः प्रथमोत्पन्नतापसैस्तव दर्शने प्रथमे ॥)

केवलज्ञान उत्पन्न होने के पश्चात् समवसरण मे ग्रापके प्रथम दर्शन होने पर, प्रथम उत्पन्न हुए ग्रत्यन्त विनम्र तापसो ने ग्रापके साथ दीक्षा के समय ग्रहण किये हुए सयम व्यत के भग से मलिन बना ग्रपना चेहरा (नमस्कार के वहाने) सचमुच ढक दिया। (१९)

तेहि परिवेढिएगा य. वूढा तुमए खगा कुलवइस्स ।
सोहा विग्रडसत्थल — घोलतजडाकलावेगा ॥ २०॥
(तैः परिवेष्टितेन च व्यूढा त्वया क्षगा कुलपतेः ।
शोभा विकटासस्थलप्रेंखज्जटाकलापेन ॥)

तथा (वदनार्थ ग्राये) उन तापसो से घिरे हुए ग्रौर विशाल स्कघ-प्रदेश को स्पर्श करती जटा-समूह युक्त ग्राप क्षगा भर के लिए कुलपित के रूप में सुशोभित हुए। (२०)

तुह रूव पिच्छता, न हुंति जे नाह ! हरिसपिडहत्था । समणा वि गयमण च्चिय, ते केवलिगो जइ न हुति ।। २१ ।। (तव रूप पश्यन्तो न भवन्ति ये नाथ । हर्षपरिपूर्गाः । समनस्का ग्रिप गतमनस्का एव ते केविलनो यदि न भवन्ति ॥) हे नाय । ग्रापका (सर्वोत्तम) रूप ग्रवलोकन करने वाले (जीव) यदि हर्षित नहीं होते तो, यदि वे सर्वज्ञ न हो तो फिर वे सज्ञी होते हुए भी सचमुच ग्रसज्ञी है। (२१)

पत्ता णिस्सामन्न, समुन्नइ जेहि देवया श्रन्ते ।
ते दिति तुम्ह गुग्गसकहासु हास गुग्गा मज्भः ॥ २२ ॥
(प्राप्ता नि सामान्या समुन्नित यैदेवका श्रन्ये ।
ते ददते तव गुग्गसकथासु हास गुग्गा मम ॥)

जिन गुणो के द्वारा अन्य देवो ने असाधारण प्रभुता प्राप्त की वे (किल्पत) गुण आपके (सद्भूत) गुणो के सकीर्तन के समक्ष मुक्ते हास्य उत्पन्न करते है। (हरि, हर आदि की प्रभुता किल्पत है, जब कि आपकी प्रभुता का आधार वास्तविक गुण है।) (२२)

> दोसरिहश्रस्त तुह जिए। निदावसरिम भग्गपसराए । वायाइ वयराकुसलावि, वालिसायित मच्छरिराो ॥ २३॥ (दोपरिहतस्य तव जिन। निन्दावसरे भग्नप्रसरया । वाचा वचनकुशला श्रिप वालिशायन्ते मत्सरिराः ॥)

हे जिनेश्वर । वचन कहने मे कुशल मत्मरी लोग भी सर्वथा दोप हीन ग्रापकी निन्दा करने के समय भग्न प्रसार वाली वाग्गी से चाहे जैसा वोल कर वालक की तरह चेप्टा करते है। (२३)

> ग्रणुरायपल्लविल्ले, रइविल्क्जिरतहासकुसुमिम । तवताविग्रा वि न मगो, सिंगारवणे तुहल्लीगो ॥ २४॥ (ग्रनुरागपल्लववित रितविल्लस्जुरद्धासकुसुमे । तपस्तापितमिष न मन श्रु गारवने तव लोनम् ॥)

अनुराग रूपी पल्लवों से युक्त और रित रूपी लता पर खिलने वाले हास्य रूपी पुष्पों से युक्त शुगार रूपी वन में अनगन आदि तपस्या रूपी ताप से तप्त आपका मन यहां लगा नहीं। (यह आश्चर्य है क्योंकि ग्रोप्म एतु के ताप से तप्त जन तो वन का आश्रय नेते हैं।) (२४) श्राणा जस्स विलइश्रा, सीसे सेस व्व हरिहरेहि पि । सो वि तुह भागाजलणे, मयगो मयणं विश्र विलीगो।। २५।। (श्राज्ञा यस्य विलगिता शोर्षे शेषेव हरिहराम्यामपि। सोऽपि तव ध्यानज्वलने मदनो मदनमिव विलीनः।।)

जिसकी आज्ञा को हिर एव हर ने भी शेषनाग की तरह शिरोधार्य की है, वह (अप्रतिहत सामर्थ्य वाला) मदन भी आपके शुक्ल ध्यान रूपी अग्नि में मोम की तरह पिघल गया। (२५)

पइ नवरि निरिभमागा, जाया जयदप्पभंजगातागा । वम्महर्नारदजोहा, दिट्ठच्छोहा मयच्छीगा ।। २६ ।। (त्विय केवल निरिभमाना जाता जगददर्पभञ्जोत्तानाः । मन्मथनरेन्द्रयोद्धा दृष्टिक्षोभा मृगाक्षीगाम् ।।)

विश्व के दर्प को चूर करने में समर्थ कदर्प राजा के योद्धा स्वरूप मृगाक्षियों के कटाक्ष केवल ग्रापके सम्बन्ध में ही निरिभमानी रहे है, ग्रर्थात् सफल नहीं हुए। (२६)

विसमा रागद्दोसा, निता तुरय व्व उप्पहेगा मगा। ठायति धम्मसारहि । दिट्ठे तुह पवयगो नवर ।।२७।। (विषमौ रागद्वेषौ नयन्तौ तुरगाविवीत्पथेन मनः। तिष्ठतो धर्मसारथे । दृष्टे तव प्रवचने केवलम् ।।)

जिस प्रकार मिथ्या मार्ग पर (रथ को) लेजाने वाले अश्व, सारथी की चावुक देख कर सीधे मार्ग पर जाने लगते है, उसी प्रकार से धर्म रूपी रथ के हे सारथी । जब आपके प्रवचन, सिद्धान्त के दर्शन होते है तब चित्त को कुमार्ग की ओर ले जाने वाले विपम राग एव द्वेष रूक जाते है अर्थात् उनका कोई जोर नहीं चलता। (२७)

पच्चलकसायचोरे, सइस निहिम्रासिचनकथणुरेहा।
हुति तुह चिचम्र चलगा, सरगा भीम्रागा भवरन्ने ।।२८।।
(प्रत्यलकषायचौरेः सदासन्निहितासिचक्रधनूरेखौ।
भवतस्तवैव चरगो शरगा भीताना भवारण्ये।।)

हे भगवन् । जिसमे प्रवल कपाय रूप चोर वसते हे ऐसे भव-वन में भयभीत जीवों को तलवार, चक्र एवं धनुप रूपी रेखाग्रों से सदा लाछित ग्रापके ही चरण शरण स्वरूप है। (२८)

तुह समयसरव्भट्ठा, भमित सयलासु रुवलजाईसु।
सारिणजल व जीवा, ठाराट्ठारोसु वज्भता।।२६।।
(तव समयसरोभ्रष्टा भ्राम्यन्ति सफलासु रूक्षजातिषु।
सारिणजलिमव जीवा: स्थानस्थानेषु वष्यमाना।।)

जिस प्रकार सारणी (नीक) का जल समस्त वृक्ष जातियों में स्थान-स्थान पर वधा हुग्रा फिरता है उसी प्रकार से हे नाथ । ग्रापके सिद्धान्त रूप सरोवर से भ्रष्ट जीव चौरासी लाख जीव योनि रूप सकल रुक्ष जाति/ कठोर उत्पत्ति स्थानों में कमीं के द्वारा स्थान-स्थान पर वधे हुए भ्रमण करते है। (२६)

> सिलल (लि) व्व पवयर्गे तुह, गिहए उड्ढ ग्रहो विमुक्किम्म । वच्चित नाह । कूवय - रहट्टघिडसिनहा जीवा ।।३०।। (सिलल इव प्रवचने तव गृहोते अर्ध्वमधो विमुक्ते । यजन्ति नाथ । कूपकारघट्टघटोसिन्नभा जीवा ।।)

हे नाथ । कुँए के ग्ररघट्ट की घटी के समान जीव ग्रापके प्रवचन को जय जल के समान ग्रहएा करते हैं तब वे ऊपर (स्वर्ग ग्रथवा मोक्ष मे) जाते हैं श्रीर जब उन्हें छोड देते हैं तब नीचे (तिर्यंच ग्रथवा नरक मे) जाते हैं। (३०)

लोलाइ निति मुक्ख, ग्रन्ने जह तित्थिश्रा तहा न तुम । तहिव तुह मग्गलगा, मग्गित वुहा सिवसुहाइ ॥३१॥ (लोलया नयन्ति मोक्षमन्ये यथा तीथिकाः तथा न त्वम् । तथापि तव मार्गलग्ना, मृगयन्ते वुधन्नः शिवसुखानि ॥)

जिस प्रकार यन्य बाद्ध ग्रादि दार्शनिक लीला पूर्वक जीवो को मोक्ष में ले जाते हे उस प्रकार ग्राप नहीं करते हैं, तो भी विचक्षण जन यथार्थ दर्शन, ज्ञान एव चारित्र रूप ग्रापके मार्ग में लगे हुए मोक्ष-सुखों को स्रोजते हैं। (३१) सारिन्व बंधवहमरएाभाइगो जिए । न हुंति पइ दिट्ठे। ग्रक्खेहि वि हीरता, जीवा ससारफलयिमम ।।३२॥ (शारय इव बन्धवधमरएाभागिनो जिन ! भवन्ति त्विय दृष्टे। ग्रक्षेरिप हि यमाएा जीवाः ससारफलके ।।)

जिस प्रकार पाशों से खिचे हुए मोहरे वध, वध, एव मृत्यु के भाजन वनते है उसी प्रकार से हे जिनेश्वर । इस ससार रूपी फलक में इन्द्रिय रूपी मोहरों से गतियों में भ्रमण करते जीव जब ग्रापकों (यथार्थ बुद्धि के द्वारा) देखते है तब वे (तिर्यंच ग्रीर नरक गित से सम्बन्धित) बध, वध, एव मृत्यु के भागी नहीं होते। (३२)

श्रवहोरिश्रा तए पहु! निति निश्रोगिवकसंखलाबद्धा । कालमणत सत्ता, सम कयाहारनीहारा ।।३३।। (श्रवधोरितास्त्वया प्रभो । नयन्ति निगोदैकशृड्खलाबद्धाः । कालमनन्त सत्त्वाः सम कृताहारनीहारा ।।)

(जिस प्रकार कुछ राजपुरुप राजा की अवहेलना होने पर कारागृह में लोहे की जजीरों में बँध कर अन्य कैंदियों के साथ सम काल में आहार एवं नीहार की कियाएँ करने में अत्यन्त समय खोते हैं उसी प्रकार से) हे नाथ । (अव्यवहार राशि के कारण साधन के अभाव में धर्मीपदेश से विचत रहने के कारण) आप द्वारा तिरस्कृत जीव निगोद रूपी एक ही जजीर से बँध कर एक साथ आहार-नीहार करने में अनन्त काल खोते हैं। (३३)

जेहि तित्रश्राण तव-निहि! जासइ परमा तुमिम पिडवत्ती।
दुक्खाइ ताइ मन्ने, न हु ति कम्म श्रहम्मस्स ॥३४॥
(यंस्तापिताना तपोनिधे! जायते परमा त्विय प्रतिपत्ति ।
दुःखानि तानि मन्ये न भवन्ति कर्माधर्मस्य ॥)

हे तपोनिधि । जिन दु खो से पीडित जीवो को श्रापके प्रति श्रान्तरिक प्रेम उत्पन्न होता है, वे दु ख श्रधर्म के कार्य नहीं है, (परन्तु वे पुण्यानुबधी होने से उल्टे प्रशसनीय है) यह मैं मानता हूँ। (३४) होही मोहुच्छेग्रो, तुह सेवाए घुव त्ति नंदामि । ज पुरा न विद्यव्वो, तत्य तुम तेरा भिज्जामि ।।३५।। (भविष्यति मोहोच्छेदस्तव सेवया ध्रुव इति नन्दामि । यत् पुननं वन्दितव्यस्तत्र त्व तेन क्षीये ।।)

श्रावकी सेवा मे मेरा मोह श्रवश्य नष्ट होगा, इस वात का मुक्ते हर्प है, परन्तु (मोहोच्छेद होने पर मुक्ते केवलज्ञान प्राप्त होगा श्रीर केवलज्ञानी केवलज्ञानी को नमन नहीं करता यह नियम होने से मुक्त पर श्रनुपम उपकार करने वाले) श्रापको भी मैं वन्दन नहीं कर सकूँगा, श्रत मैं क्षीण हो रहा हूँ, शोकाकुल हो रहा हूँ। (३५)

जा तुह सेवाविमुहस्स, हु तु मा ताउ मह सिमद्धीश्रो।
श्रिहिश्रारसपया इव, पेरतिविडवणफलाश्रो।।३६।।
(यास्तव सेवाविमुखस्य भवन्तु मा ता मम समृद्धय।
ग्रिधिकारसपद इव पर्यन्तिविडम्बनफला।।)

ग्रन्त मे विडम्बना स्वरूप फलदायक राज्याधिकार की सम्पत्तियों के समान सम्पत्ति ग्रापकी सेवा से विमुख (सर्वथा जिन-धर्म से रहित प्रथम गुण स्थान पर रहने वाले मनुष्य ग्रादि) को होती हैं, वे सम्पत्ति मुभे प्राप्त न हो। (३६)

भित्तूण तम दीवो, देन । पयत्ये जरास्स पयछेइ । तुह पुरा विवरीयमिण, जईक्कदीवस्स निव्विडिम्र ।।३७।। (भित्वा तमो दीपो देव ! पदार्थान् जनस्य प्रकटयित । तव पुनविपरोतमिद जगदेकदीपस्य निष्पन्तम् ।।)

हे देव । दीपक ग्रधकार को भेद कर मनुष्य को पदार्थ देखने में सहायता करता है, परन्तु विश्व के ग्रद्धितीय दीपक स्वरूप ग्रापका यह (दीपक कार्य) तो विगरीत है, (क्योंकि ग्राप तो प्रथम उपदेश रूपी किरण के द्वारा भव्य जीवों को जीव-ग्रजीव ग्रादि पदार्थों का वोध कराते हैं, ग्रीर तत्पश्चात् उस प्रकार उन्हें यथार्थ ज्ञान देकर उनके ग्रज्ञान रूपी धधनार का ग्रन्त करते हैं।) (३७)

मिच्छत्तविसपसुत्ता, सचेयगा जिगा । न हुति कि जीवा ? कण्णिम्म कमइ जइ कित्तिश्र पि तुह वयग्गमन्तस्स ।।३८।। (मि॰यात्वविषप्रसुप्ताः सचेतना जिन ! न भवन्ति कि जीवाः ? कर्णियोः क्रामित यदि कियदिष तव वचनमन्त्रस्य ।।)

यदि मिथ्यात्व रूपी विष से मूछित जीवो के कानो मे हे वीतराग । ग्रापकी वाणी रूपी मन्त्र का ग्रमुक ग्रश भी प्रविष्ट हो तो वे जीव (भी रोहिणोय चोर तथा चिलाती पुत्र की तरह) क्या सचेत नही होते ? (३८)

भ्रायित्रम्रा खगद्ध , पि पइ थिर ते करित भ्रणुराय । परसमया तहिव मगा, तुह समयन्नूगा न हरंति ॥३६॥ (श्राकिंगता क्षिणार्धमिप त्वियि स्थिर ते कुर्वन्त्यनुरागम् । परसमयास्तथापि मनस्त्वत्समयज्ञाना न हरन्ति ॥)

ग्रन्य (वैशेपिक, नैयायिक, जैमिनीय, साख्य, सौगत प्रमुख) दार्श-निको के ग्रागम ग्राधे क्षण तक श्रवण करने पर भी ग्रापके प्रति हमारा ग्रनुराग स्थिर रहता है ग्रौर जिसमे ग्रापके सिद्धातों के ज्ञाताग्रों के चित्त वे हर नहीं पाते। (३६)

वाईिंह परिग्गहिम्रा, करित विमुह खर्गेण पिडविक्ख । तुष्क नया नाह ! महागय व्व म्रन्नुन्नसलग्गा ॥४०॥ (वादिभिः परिगृहोताः कुर्वन्ति विमुख क्षर्गेन प्रतिपक्षम् । तव नया नाथ ! महागजा इवान्योन्यसलग्नाः ॥)

हे नाथ ¹ ग्रद्भवो से घिरे हुए तथा परस्पर मिले हुए महान् गज जिस प्रकार शत्रु-सेना को रए।भूमि मे से पीछे हटाते है उस प्रकार से ग्रत्यन्त चतुर एव वाद-लिब्ध से ग्रलकृत वादियो के द्वारा स्वीकार करते हुए तथा परस्पर सगत से ग्रापके नय क्षण भर मे प्रतिपक्ष को (वाद-विवाद के क्षेत्र से) विमुख करते है। (४०)

पावति जस ग्रसमजसा वि वयगोहि जोहि परसमया।
तुह समयमहो ग्रहिगो, ते मदा बिदुनिस्सदा।।४१।।
(प्राप्नुवन्ति यशोऽसमञ्जसा ग्रिप वचनैयैं: परसमयाः।
तव समयमहोदधेस्ते मन्दा बिदुनिस्यन्दाः ।।)

ग्रन्य दार्गनिको के युक्तिविकल सिद्धात भी (सूर्य-चन्द्र के ग्रहण ग्रादि वता कर) जिन वचनो के द्वारा यश प्राप्त करते हैं, वे वचन सिद्धान्त रूपी महासागर के सामान्य विन्दुग्रो की वूँदे हैं। (४१)

> पइ मुक्के पोग्रम्मिन, जीनेहि भनन्ननिम्म पत्ताम्रो । ग्रणुनेलमानयामुहपडिएहि विडम्बणा निनिहा ।।४२।। (त्विय मुक्ते पोत इव जीनेभेनाणेने प्राप्ता । ग्रनुनेलमापदामुखपतितैनिडम्बना निनिधाः ।।)

(जिस प्रकार सरिता के भीतर पड़े हुए जीव जहाज के ग्रभाव में डूव जाते हैं, दुष्ट जलचर प्राणियों के द्वारा मृत्यु के मुख में समा जाने ग्रादि की विविध विपत्तिया प्राप्त करते हैं उसी प्रकार हे नाथ ।) जिन जीवों ने नौका-तुल्य ग्रापका त्याग किया है वे ग्रापित्तयों में फँसे हुए जीव ससारसागर में विविध विडम्बनाग्रों को वार-वार प्राप्त करते हैं (४२)

वुच्छ स्रपत्यिद्रागय - मच्छभवन्तोमुहुत्तविसएए। । छावद्वो स्रयराइ, निरतर प्रव्यइट्ठाणे ॥४३॥ (उषितमप्राधितागममत्स्यभवान्तमुं हूर्त्तमुषितेन । पट्षिटिः स्रतराणि (सागरोपमानि) निरन्तरमप्रतिष्ठाने ॥)

(हे देव । ग्रन्य भवो को तो क्या वात कहूँ) ग्रचानक ग्राये हुए मत्स्य के भव मे ग्रन्तमुँ हूर्त काल तक रह कर मैं (सातवी नरक के) ग्रप्रतिप्ठान नरकावास मे छासठ मागरोपम तक ग्रविच्छिन्न रूप से रहा। (४३)

> सीउण्हवासघारा - निवायदुवर्खं सुतिवखमणुभूत्र । तिरिधत्तणम्मि नाणा - वरणसमुच्छाइएगावि ॥४४॥ (शीतोष्णवर्षधारानिपातदु ख सुतीक्ष्णमनुभूतम् । तिर्ववत्वे ज्ञानावरणसमुच्छादितेनापि ॥)

शानावरए। कर्म से ग्रत्यन्त ग्राच्छादित होकर भी मैंने तियँच के भव में भीत, ताप एवं वर्षा की धारा गिरने का ग्रत्यन्त नीव दुः व ग्रनुभव किया। (यह ग्रास्चर्य है) (४८) श्रंतो निक्खतेहि, पत्तोहि पिश्रकलत्तपुत्तोहि। सुन्ना मणुस्सभवणाडएसु निञ्भाइश्रा श्रका।।४४॥ (श्रन्तिन्द्रकान्तैः प्राप्तैः (पात्रैः) प्रियकलत्रपुत्रैः। शून्या मनुष्यभवनाटकेषु निध्यता श्रंकाः॥)

(हे नाथ) मनुष्य भव रूपी नाटको मे मुक्ते प्राप्त प्रिय पत्नी एव पुत्र वृद्धावस्था से पूर्व मृत्यु के मुख मे समा जाने से मुक्ते शून्य दिखाई दिया। (४५)

विट्ठा रिजरिद्धीश्रो, श्राणां कया महिं इश्रसुराणं। सिह्या य हीणदेवत्तर्णेसु दोगच्चसंतावा।।४६।। (दृष्टा रिपुऋद्धय श्राज्ञाः कृता महिंद्धकसुराणाम्। सोढौ च हीनदेवत्वेषु दौर्गत्यसन्तापौ।।)

तदुपरान्त (देवलोक मे भी) मैंने शत्रुस्रो की सम्पत्ति देखी, महद्धिक सुरो के शासनो को सिर पर चढाया स्रौर (किल्बिषक जैसे) नीच देव-भव मे दरिद्रता एव सन्ताप सहन किये। (४६)

> सिंचतेण भववणं, पल्लट्टा पिल्लिग्राऽरहट्टु व्व । घडिसठाणोसिप्पिणश्रवसिप्पिपिरिगया बहुसो ।।४७।। (सिञ्चता भववन परिवर्ताः प्रेरिता श्ररघट्ट इव । घटीसस्थानोरसिप्णयवसिप्पिणोपरिगता बहुशः ।।)

(हे नाथ । मिथ्यात्व, ग्रविरित, कषाय, प्रमाद एव योग, कर्मबध के इन पाच कारण रूपी जल मे) भव-वन का सिचन करने वाले मैंने ग्ररघट्ट की तरह घटी-सस्थान रूपी उत्सिप्णी एव ग्रवसिप्णी से युक्त ग्रनेक पुद्गल परावर्त व्यतीत किये। (४७)

भिम्रो कालमणत, भविम्म भीग्रो न नाह ! दुवलारा । सपइ तुमिम्म दिहु, जाय च भयं पलाय च ॥४८॥ (भ्रान्त. कालमनन्तं भवे भीतो न नाथ ! दुःलेभ्यः । सम्प्रति त्विय दृष्टे जात च भय पलायितं च ॥)

हे नाथ ! मैं ससार मे अनन्त काल तक भटकता रहा तो भी दु खो से भयभीत नही हुआ, परन्तु अभी जब मैंने आपको देखा तब (कोध आदि से होने वाली विडबना का बोध होने पर) भय उत्पन्न हुआ और (साथ ही साय शम ग्रादि से दूर कर मकूँगा यह ज्ञान होने पर) वह पलायन भी कर गया। (४८)

जइवि कयत्यो जगगुरु । मज्भत्यो जइवि पत्थेमि । दाविज्जमु श्रप्पाण, पुणो वि कइया वि श्रम्हाण ॥४६॥ (यद्यिष कृतार्थो जगद्गुरो । मध्यस्या यद्यपि तथापि प्रार्थये । दशंयेदात्मान पुनरपि कदाचिदप्यस्माकम् ॥)

हे जगद्गुरु । यद्यपि ग्राप कृतार्थ हैं तथा मध्यस्य है तो भी मैं ग्रापको प्रार्थना करता है कि ग्राप किसी समय ग्रथवा किसी देश में भी भ्रमण कर हमें ग्रपना दर्शन दे। (४६)

इम्र भागिगिपलीवित्रकॉम्मधण । वालवुद्धिगा वि मए । भन्तोइ थुम्रो भवभयसमुद्दवोहित्य । वोहिफलो ॥५०॥ (इति ध्यानाग्निप्रदीपितकर्मेन्धन । वालवुद्धिनाऽपि मया । भषत्या स्तुतो भवभयसमुद्रयानपाव । वोधिफल ॥)

ध्यान रपी ग्रग्नि के द्वारा कर्म रूपी ईंधन को प्रज्वलित करने वाले ग्रार प्रत्यन्त दुस्तर भव-भय रूपी समुद्र को पार करने मे यान के ममान हे नाय । मैंने वाल वृद्धि से सम्यक्त्व फल-दायक ग्रापकी इस प्रकार से भक्तिपूर्वक स्तुति की। (५०)

 \Box - \Box

कलिकालसर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य द्वारा रचित

अयोगव्यवच्छेद-द्वात्रिंशिका

श्रगम्यमध्यात्मविदामवाच्यं । वचस्विनामक्षवतां परोक्षम् ।। श्रीवर्धमानाभिधमात्मरूप-महं स्तुतेर्गोचरमानयामि ॥ १ ।।

ग्रध्यात्मवेत्ताग्रो के लिए ग्रगम्य, पिडतो के लिए ग्रनिर्वचनीय ग्रौर इन्द्रियो के ज्ञानियों के लिये परोक्ष परमात्म स्वरूप श्री वर्धमान स्वामी को मैं ग्रपनी स्तुति का विषय बनाता हु। (१)

स्तुतावशक्तिस्तव योगिनां न कि ।
गुर्गानुरागस्तु ममापि निश्चलः ।।
इद विनिश्चित्य तव स्तव वदन् ।
न बालिशोऽप्येष जनोऽपराध्यति ।। २ ।।

हे भगवान् । ग्रापकी स्तुति करने मे क्या योगी पुरुष भी ग्रसमर्थं नहीं है ? (ग्रसमर्थं होते हुए भी ग्रापके गुणों के प्रति ग्रनुराग से ही योगियों ने ग्रापकी स्तुति की है उस प्रकार से) मेरे हृदय में भी ग्रापके गुणों के प्रति दृढ ग्रनुराग है, ग्रत मेरे समान मूर्खं व्यक्ति भी ग्रापकी स्तुति करने पर भी ग्रपराध का भागीदार नहीं होता। (२)

> वव सिद्धसेनस्तुतयो महार्था । ग्रशिक्षितालापकला वव चैषा ॥ तथापि यूथाधिपतेः पथिस्थः । स्खलद्गतिस्तस्य शिशुर्न शोच्य ॥ ३॥

गम्भीर ग्रर्थ युक्त श्री सिद्धसेन दिवाकर सूरि की स्तुतियाँ कहाँ ग्रौर ग्रम्यास रहित मेरी यह वक्तृत्व-कला कहाँ तो भी बडे-बडे हाथियो के मार्ग पर चलने वाला हाथी का वच्चा स्खलित होने पर भी जिस प्रकार चिन्ता का कारण नहीं वनता, उसी प्रकार से यदि मैं भी स्खलित हो जाऊँ तो चिन्ता का कारण नहीं है। (३)

> जिनेन्द्र! यानेव विवाधसे स्म, दुरन्तदोषान् विविधेरुपायैः । त एक चित्र त्वदसुययेव, कृता. कृतार्थाः परतीर्थनायैः ॥४॥

हे जिनेन्द्र । जिन दुरन्त दोपो का ग्रापने विविध उपायों के द्वारा नाण किया है, श्राक्चर्य है कि उन्हीं दोपों को ग्रन्य मतो के देवों ने मानों ग्रापके प्रति ईपों से ही स्वीकार कर लिया है। (४)

यथास्थित वस्तु दिशन्नधीश ।
न तादृश कौशलमाश्रितोऽसि ।
तुरङ्गशृङ्गाण्युपपादयव्म्यो,
नम परेम्यो नवपण्डितेम्यः ॥ ॥ ॥

हे स्वामिन् । भ्रापने पदार्थों का जैसा है वैसा ही वर्णन किया है, यत स्रापने स्रन्य मतावलिम्बयों की तरह कोई कुशलता प्रदिशत नहीं की। स्रश्य के सिंगों की तरह स्रसभव वस्तुस्रों को उत्पन्न करने वाले स्रन्य मत के न्तन पण्डितों को हम नमस्कार करते हैं। (५)

जगत्यनुष्यानवलेन शश्वत,
कृतार्थयत्मु प्रसभ भवत्मु ।
किमाधितोऽन्ये शरण त्वदन्य ,
स्वमासदानेन वृथा कृपालुः ॥६॥

हे पुरुषोत्तम । ध्यान रूपी उपकार के द्वारा तीनो लोको को सदा फ़्नार्य करने वाले आपको छोड कर अन्य मतावलिम्बयो ने अपना माँस दान करके दयालु कहलाने वालो का दारण क्यो ग्रहण किया है ? यह तिक भी समक मे नहीं आता। । यह कटाक्ष बुद्ध पर किया है।) (६)

स्वय कुमागंग्लिपता नु नाम,
प्रलम्भमन्यानिप लम्भयन्ति।
नुमागंग तद्विदमादिशन्तमत्त्ययान्धा श्रवमन्वते च ॥७॥

ईर्षा से अबे बने मनुष्य स्वय कुमार्ग में लीन होकर दूसरों को कुमार्ग की ओर ले जाते है और सुमार्ग पर चलने वाले, सुमार्ग के ज्ञाताओं तथा सुमार्ग के उपदेशकों का अपमान करते है, यह अत्यन्त खद की वात है। (७)

> प्रादेशिकेभ्यः परशासनेभ्यः, पराजयो यत्तव शासनस्य । खद्योतपोतद्युतिडम्बरेभ्यो विडम्बनेय हरिमण्डलस्य ॥ ॥ ॥

हे प्रभ ! वस्तु के तिनक श्रश को ग्रहण करने वाले ग्रन्य दर्शनों के द्वारा ग्रापके मत का पराभव करना एक छोटे से जुगनू के प्रकाश से सूर्य मण्डल का पराभव करने के समान है। (८)

शरण्य ! पुण्ये तव शासनेऽपि,
सदेग्घि यो वित्रतिपद्यते वा ।
स्वादौ स तथ्ये स्वहिते च पथ्ये,
संदेग्घि वा वित्रतिपद्यते वा ।।६।।

हे शरणागत ग्राश्रयदाता ! जो मनुष्य ग्रापके पिवत्र शासन के प्रति शका एव विवाद करते है, वे सचमुच स्वादिष्ट, ग्रनुकूल एव हितकर भोजन के प्रति शका ग्रौर विवाद करते है। (६)

हिंसाद्यसत्कर्मपथोपदेशादसर्वविन्मूलतया प्रवृत्तेः।
नृशंसदुर्बु द्धिपरिग्रहाच्च,
ब्रूमस्त्वदन्यागममप्रमाणम् ॥१०॥

हे भगवन् ! हिंसा ग्रादि ग्रसत्य कर्मों के उपदेशक होने से, ग्रसर्वज्ञों द्वारा कथित होने से तथा निर्देय एव दुर्बु द्धि मनुष्यो द्वारा ग्रहण किये हुए होने से ग्रापसे ग्रन्य मतो के ग्रागम प्रामाणिक नहीं हैं। (१०)

हितोपदेशात्सकलक्षवलृष्ते—

मुं मुक्ष्सत्साधुपरिग्रहाच्च ।
पूर्वापरार्थेप्यविरोधसिद्धं —

स्त्वदागमा एव सतां प्रमाणम् ॥११॥

हे भगवन् । हितकर उपदेशक होने से, सर्वज्ञ कथित होने से, मुमुक्षु गय उत्तम साधु पृष्पो द्वारा अगीकार किए होने से और पूर्वापर पदार्थों के सम्बन्ध में विरोध रहित होने से आपके आगम ही सत्पुष्पों के लिये प्रमाए हं। (११)

> क्षिप्येत वान्येः सद्शीक्रियेत वा, तवाधिपीठे लुठन सुरेशितुः।

इद यथावस्थितवस्तुदेशन, परेः कथकारमपाकरिष्यते ॥१२॥

हे जिनेश्वर । ग्रन्य वाद वाले ग्रापके चरण कमलो मे इन्द्र के नमस्कार की वात चाहे न मानें ग्रयवा ग्रपने इप्ट देवो मे भी उनकी कल्पना करके चाहे ग्रापको समानता करे, परन्तु वस्तु के यथार्थ स्वरूप का प्रति-पादन रूप ग्रापके गुण का ग्रपलाप वे किस प्रकार करेंगे ? (१२)

तद्दु.पमाकालखलायित वा,
पचेलिम कर्म भवानुकूलम्।
उपेक्षते यत्तव शासनार्थमयं जनो विप्रतिपद्यते वा।।१३।।

हे भगवन् । जो मनुष्य ग्रापके शासन की उपेक्षा करते हैं ग्रथवा उसमें विवाद करते ह वे दम पाचवे ग्रारे के कुप्रभाव से ही ऐसा करते हैं ग्रथवा भय-परिश्रमण के ग्रनुकूल उनके ग्रभुभ कर्मों का उदय समभता चाहिये। (१३)

पर सहस्रा शरवस्तपासि,
युगान्तर योगमुपासता वा।
तथापि ते मार्गमनापतन्तो,
न मोक्ष्यमाणा ग्रपि यान्ति मोक्षम् ॥१४॥

हे भगवन् । चाहे यन्य मतावनम्यी हजारो वर्षो तक तप करें थ्रयवा गुगानर तक योग का श्रम्यान करें, तो भी उनकी मोल की इच्छा होने पर भी धापके मान का श्रम्यन लिये बिना उन्हें मोल प्राप्त नहीं हो सकता। (१०)

श्रनाप्तजाडचादिविनिर्मितित्व-सभावनासभिविविप्रलम्भाः । परोपदेशा परमाप्तवलृष्त-पथोपदेशे किमु संरभन्ते ।।१५।।

हे देवाधिदेव । ग्रनाप्तो की मन्द बुद्धि से रचित एव विसवाद से परिपूर्ण ग्रन्य मतो के उपदेश, परम ग्राप्त ग्रापके द्वारा प्रतिपादित किये गये उपदेशों के समक्ष भला कैसे ठहर सकते हे ? (१५)

यदार्जवादुक्तमयुक्तमन्यैस्तदन्यथाकारमकारि शिष्यैः।
न विष्लवोऽय तव शासनेऽभूदहो श्रधुष्या तव शासनक्षीः।।१६।।

ग्रन्य मतावलिम्बयों के गुरुग्रों ने सरल भाव से जो कुछ भी ग्रयोग्य कथन किया था उसका उनके शिष्यों ने विपरीत ढग से प्रतिपादन किया। हे भगवन् । उस प्रकार का विष्लव ग्रापके शासन में नहीं हुग्रा। ग्रहों। ग्रापके शासन को लक्ष्मी का किसी से भी पराभव नहीं हो सकता। (१६)

> देहाद्ययोगेन सदाशिवत्व, शरीरयोगादुपदेशकर्म । परस्परस्पिध कथ घटेत, परोपक्लुप्तेष्वधिदैवतेषु ॥१७॥

हे वीतराग । देह ग्रादि के ग्रयोग से सदाशिवत्व एव देह ग्रादि के योग से उपदेश-कर्म ये दो परस्पर विरोधी धर्म ग्रन्यो द्वारा कल्पित देवों में किस प्रकार हो सकते है ? कदापि नहीं हो सकते। (१७)

प्रागेव देवान्तरसिथतानि,
रागादिरूपाण्यवमान्तराणि।
न मोहजन्या करुणामपीश!
समाधिमाध्स्थ्ययुगाथितोऽसि।।१८।।

राग ग्रादि दोषो ने प्रथम से ही ग्रन्य देवो का ग्राश्रय लिया है। हे ग्रधीश ! समाधि एव मध्यस्थता को जपने वाले ग्रापने मोहजनित करुणा का भी ग्राश्रय नहीं लिया। (१८) जगन्ति भिन्दन्तु सृजन्तु वा पुन~
र्यथा तथा वा पतय प्रवादिनाम्।
त्वदेकनिष्ठे भगवन् भवक्षयक्षमोपदेशे तु पर तपस्विन ॥१६॥

हे भगवन् । ग्रन्य मत वाले देव चाहे जिस प्रकार से जगत् का प्रलय करें ग्रयवा जगत् की उत्पत्ति करें, परन्तु भव-भ्रमण का नाण करने मे समर्थ उपदेश देने में, ग्रापकी तुलना में वे विचारे रक ह । (१६)

> वपुश्च पर्यद्भशय श्लय च, दृशौ च नासानियते स्थिरे च । न शिक्षितेय परतीर्थनाथै-जिनेन्द्र । मुद्रापि तवान्यदास्ताम् ॥२०॥

हे जिनेन्द्र । ग्रापके ग्रन्य गुर्णो को घारए करना तो दूर रहा, परन्तु ग्रन्य देव पर्यक ग्रामन वाली ,ग्रनकडता रहित देह वाली ग्रीर नासिका पर स्थिर दृष्टि वाली ग्रापकी मुद्रा तक नहीं सीख पाए। (२०)

यदीयसम्यवत्ववलात् व्रतीमो,
भवादृशाना परमस्वभावम् ।
कुवासनापाशविनाशनाय,
नमोऽस्तु तस्मं तव शासनाय ॥२१॥

हे पीतराग । जिसके नम्यक्षने के वल से आप जैनों के युद्ध स्वरूप का दम यथायं दर्शन कर सके ह, उन कुवासना रूपी वन्धन के नाजक आपके शासन को हमारा नमस्कार हो। (२१)

> ष्रपक्षपातेन परोक्षमाणा, इय इयस्यात्रतिम प्रतोमः । ययास्थितार्यप्रयम तर्यत-दस्याननिर्वन्यस्त परेवाम् ॥२२॥

हे भगवन् । जब हम निष्यक्ष बन कर परीक्षा करते है तब स्नापका विभाग रूप से वस्तु का प्रतिभादन त्रार सम्य मताबनिम्बिया का पदायों को विभरीत उन के रचन करने का सायह दोनों वस्तु स्नप्रतिम प्रतीत होती ह। (२२) श्रनाद्यविद्योपनिषन्निषण्णै— विश्वःं खलैश्चापलमाचरद्भिः । श्रमूढलक्ष्योऽपि पराक्रिये य— त्त्वत्किङ्करः कि करवाणि देव! ।।२३।।

हे देव ! अनादि अविद्या मे रमे हुए, उच्छृ खल, चपल एव अमूढ लक्ष्य से युक्त पुरुष भी इस तेरे सेवक के द्वारा उचित मार्ग पर नहीं लाये जा सकते तो अब मैं क्या करूँ ? (२३)

विमुक्तवैरव्यसनानुबन्धाः,
श्रयन्ति यां शाश्वतवैरिणोऽपि ।
परंरगम्यां तव योगिनाथ !
तां देशना भूमिमुपाश्रयेऽहम् ।।२४।।

हे योगियो के नाथ ! स्वभाव से ही वैरी प्राणी भी शत्रुता छोड कर दूसरो के द्वारा अगम्य आपके जिस समवसरण का आश्रय छेते है, उस समवसरण (देशना) भूमि का मैं भी आश्रय ग्रहण करता हूँ। (२४)

मदेन मानेन मनोभवेन,
क्रोधेन लोभेन च सम्मदेन।
पराजितानां प्रसभ सुराणां,
वृथैव साम्राज्यक्जा परेषाम् ॥२४॥

हे प्रभु! मद, मान, काम, क्रोध, लोभ एव राग से अत्यन्त पराजित अन्य देवो का साम्राज्य - रोग (प्रभुता की व्यथा) सर्वथा व्यर्थ है। (२५)

> स्वकण्ठपीठे कठिनं कुठारं, परे किरन्तः प्रलपन्तु किंचित् । मनीषिणां तु त्विय वीतराग ! न रागमात्रेण मनोऽनुरक्तम् ॥२६॥

वादी लोग अपने गले में तीक्ष्ण कुल्हाडी का प्रहार करते हुए कुछ भी कहे, परन्तु हे वीतराग ! बुद्धिमानो का चित्त आपके प्रति केवल राग से ही अनुरक्त हो, ऐसी बात नहीं हैं। (२६) मुनिश्चित मत्सिरिएो जनस्य,
न नाथ । मुद्रामितशेरते ते ।
माध्यस्थ्यमास्याय परीक्षका ये,
मणी च काचे च समानुबन्धाः ॥२७॥

हे नाय । जा परोक्षक मध्यस्थता धारण करके काच ग्रीर मिए में गमान नाय रणते हैं ये भी, मत्मरी-मनुष्यों की मुद्रा का ग्रतिक्रमण नहीं गरते, यह मुनिश्चित है। (२७)

इमा समक्ष प्रतिपक्षसाक्षिणा—

मुदारघोषामवघोषणा बुवे ।

न वीतरागात्परमस्ति देवत,

न चाष्यनेकान्तमृते नयस्थित ।।२८।।

में प्रतिपक्षी व्यक्तियों के समक्ष यह उदार घोषणा करता हूँ कि वीतराग भगवान के श्रतिरिक्त श्रन्य कोई परम देव नहीं है ग्रीर वस्तु का निरूपण करने के लिए श्रनेकान्तवाद के श्रतिरिक्त श्रन्य कोई नीति-मार्ग नहीं है। (२८)

> न श्रद्धयंव त्विय पक्षपातो, न द्वेषमात्रादरुचि परेषु । यथावदाष्तत्वपरीक्षया तु, त्यामेव वोर प्रभुमाश्रिताः स्मः ॥२६॥

हे बीर । केवल श्रद्धा के कारण हमारा श्रापके प्रति पक्षपात नहीं है, श्रीर केवल द्वेप के कारण हमें अन्य देवों के प्रति शयुता नहीं है, किन्तु धाप्तपन की यनार्थ रूप से परीक्षा करके ही हमने श्रापका श्राश्य लिया है। (२६)

तम स्पृशामप्रतिभासभान,
भवन्तमण्याशु विविन्दते याः ।
महेम चन्द्राशुदृशावदाता—
स्तास्तर्कपुण्या जगदीश वावः ॥३०॥

हे अगरीत । प्रजान स्पी अपकार में नटकने वाले पुरुषे को जो अग्गी धाप धगोवर हो अनाती है, उन चन्द्रमा को किरणों के नमान स्वरुष्ठ एवं तर्क से पित्रत आपरी वाशी की हम पूजा करते हैं। (३०) यत्र तत्र समये यथा तथा,
योऽसि सोऽस्यभिघया यया तया ।
वीतदोषकलुषः स चेद्भवानेक एव भगवन्नमोऽस्तु ते ।।३१।।

हे भगवन् ! जिस किसी शास्त्र मे, जिस किसी प्रकार से ग्रौर जिस किसी नाम से राग-द्वेप रहित देव का वर्णन किया गया हे वह ग्राप एक ही हैं। ग्रत. ग्रापको हमारा नमस्कार है। (३१)

[उपसंहारकाव्यम्]

इद श्रद्धामात्रं तदथ परिनन्दा मृदुधियो, विगाहन्तां हन्त ! प्रकृतिपरवादव्यसिननः । ग्ररक्तिद्विष्टानां जिनवर ! परीक्षाक्षमिधया— मय तत्त्वालोकः स्तुतिमयमुपाधि विघृतवान् ॥३२॥

चाहे मृदु बुद्धि वाले मनुष्य इस स्तोत्र को श्रद्धा से रचित समभे ग्रौर स्वभाव से ही पर-निन्दा के व्यसनी वादी पृष्ष चाहे इसे ग्रन्य देवो की निन्दा के लिये रचित माने, परन्तु हे जिनवर । परीक्षा करने मे समर्थ बुद्धि वाले एव राग-द्वेप से रहित पुष्पो को तत्त्वो को प्रकट करने वाला यह स्तोत्र स्तुति स्वरूप एव धर्म चिन्तन मे कारण स्वरूप है। (३२)



कलिकालसर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्राचार्य रचित

* अन्ययोगट्यवच्छेद-द्वात्रिंशिका *

श्चनन्तविज्ञानमतीतदोष-मबाध्यसिद्धान्तममर्त्यपूज्यम् । श्रीवर्धमान जिनमाप्तमुख्य, स्वयम्भुव स्तोतुमह यतिष्ये ॥१॥

ग्रनन्त ज्ञानी, दोष रिहत, श्रबाध्य सिद्धान्तो से युक्त, देवताश्रो द्वारा पूजनीय, यथार्थ वक्ताश्रो मे प्रधान एव स्वयभू श्री वर्धमान स्वामी की स्तुति करने का मैं प्रयत्न करू गा (१)

म्रय जनो नाथ ! तव स्तवाय,
गुणान्तरेभ्यः स्पृहयालुरेव ।
विगाहता किन्तु यथार्थवादमेक परोक्षाविधिदुविदग्धः ।।२।।

हे नाथ ¹ परीक्षा करने में स्वय को पण्डित मानने वाला मैं आपके अन्य गुर्गो के प्रति श्रद्धालु होते हुए भी आपके स्तवन के लिये आपके यथार्थवाद नामक गुर्ग का अवगाहन करता हूँ। (२)

गुणेब्बसूया दघतः परेऽमी,
मा शिश्रियन्नाम भवन्तमीशम्।
तथापि सम्मील्य विलोचनानि,
विचारयन्ता नयवर्त्म सत्यम्।।३।।

हे नाथ । यद्यपि ग्रापके गुणो की ईर्ष्या करने वाले ग्रन्य मनुष्य ग्रापको स्वामी नही मानते, फिर भी वे सत्य न्याय मार्ग का नेत्रोन्मीलन करके विचार करें। (३) स्वतोऽनुवृत्तिव्यतिवृत्तिभाजो, भावा न भावान्तरनेयरूपाः। परात्मतत्त्वादतथात्मतत्त्वाद्,

द्वय वदन्तोऽकुशलाः स्खलन्ति ॥४॥

पदार्थ स्वभाव से ही सामान्य एव विशेष रूप है। उनमे सामान्य विशेष की प्रतीति कराने के लिये पदार्थान्तर मानने की आवश्यकता नहीं है। जो अकुशलवादी पररूप एव मिथ्यारूप, सामान्य विशेष को पदार्थ से भिन्न रूप में बताते है वे न्याय-मार्ग से च्युत होते है। (४)

> श्रादीपमाव्योम समस्वभावं, स्याद्वादमुद्रानितमेदि वस्तु । तन्तित्यमेवैकमनित्यमन्य-दिति त्वदाज्ञाद्विषता प्रलापाः ॥५॥

दीपक से लगा कर आकाश तक समस्त पदार्थ नित्य अनित्य स्वभाव युक्त है, क्योंकि कोई भी पदार्थ स्याद्वाद की मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता। ऐसी वस्तु-स्थिति में भी आपके विरोधी, दीपक आदि को सर्वथा अनित्य एव आकाश आदि को सर्वथा नित्य मानते है, जो प्रलाप स्वरूप है। (५)

> कर्त्तास्ति कश्चिद् जगतः स चैकः, स सर्वगः स स्ववशः स नित्यः। इमाः कुहेवाकविडम्बना स्यु– स्तेषां न येषामनुशासकस्त्वम् ॥४॥

हे नाथ ! जगत का कोई कत्ता है, वह एक है, वह सर्वव्यापी है, वह स्वतन्त्र है ग्रौर वह नित्य है । ये दुराग्रहपूर्ण विडम्बनाएँ उन्ही के लगी हुई हैं, जिनके ग्राप ग्रनुशासक नहीं है । (६)

> न धर्मधर्मित्वमतीवमेदे, वृत्त्यास्ति चेन्न त्रितयं चकास्ति । इहेदमित्यस्ति मतिश्च वृत्तौ, न गौणभेदोऽपि च लोकबाधः ॥७॥

धर्म एव धर्मी को सर्वथा भिन्न मानने से उनका सम्बन्ध नहीं हो सकता। यदि कोई कहे कि समवाय सम्बन्ध से परस्पर भिन्न धर्म एव धर्मी का सम्बन्ध होता है तो यह अनुचित है, क्योंकि जिस प्रकार धर्म और धर्मी इस लोक में छल, जाति एव निग्रह-स्थान का उपदेश देकर दूसरो के निर्दोष हेतुग्रो का खण्डन करने का उपदेश देने वाले गौतम मुनि को भी विरक्त एव कारुगािक माना जाता है। (१०)

> न धर्महेर्नुविहितापि हिसा, नोत्सृष्टमन्यार्थमपोद्यते च । स्वपुत्रघातान्नृपतित्वलिप्सा— सब्रह्मचारिस्फुरित परेषाम् ।।११॥

वेद-विहित हिसा धर्म का कारण नही है। अन्य अर्थ के लिए वताया गया उत्सर्ग अन्य अर्थ के लिए अपवाद नही वन सकता। फिर भी अन्य लोगो का उस प्रकार मानना, अपने पुत्र का वध करके राजा वनने की इच्छा के समान है। (११)

> स्वार्थावबोधक्षम एव बोधः, प्रकाशते नार्थकथान्यथा तु । परे परेभ्यो भयतस्तथापि, प्रपेदिरे ज्ञानमनात्मनिष्ठम् ॥१२॥

ज्ञान स्वय को ग्रीर ग्रन्य पदार्थों को भी जान सकता है, ग्रन्यथा किसी भी पदार्थ का ज्ञान नहीं हो सकता, फिर भी ग्रन्य वादियों के भय से ग्रन्य मतावलिम्बयों ने ज्ञान को ग्रनात्म-निष्ठ-स्वसवेदन रहित स्वीकार किया है। (१२)

माया सती चेद् द्वयतत्त्वसिद्धिरथासती हन्त कुतः प्रपंच ।
मायेव चेदर्थसहा च तिर्क,
माता च वन्ध्या च भवत्परेषाम् ॥१३॥

यदि माया सत् रूप है तो ब्रह्म एव माया दोनो पदार्थों की सिद्धि होती है—अद्वैत की सिद्धि नहीं हो सकती। यदि माया असत् है तो तीन लोकों के पदार्थों की उत्पत्ति नहीं हो सकती। यदि यह कहें कि माया है और अर्थ किया भी करती है, तो एक ही स्त्री माता है और वन्ध्या (बाँभ) भी है, क्या आपके विरोधियों का कथन इस प्रकार का सिद्ध नहीं होता ? (१३)

श्रनेकमेकात्मकमेव वाच्यं, द्वयात्मक वाचकमप्यवश्यम् । श्रतोऽन्यथा वाचकवाच्यक्लृप्ता— वतावकाना प्रतिभाप्रमादः ॥१४॥

जिस प्रकार समस्त पदार्थ ग्रनेक होते हुए भी एक है, उसी प्रकार से उन पदार्थों को बताने वाले शब्द भी द्वयात्मक-एक एव श्रनेक स्वरूप हैं। श्रापके सिद्धान्त को नही मानने वाले ग्रीर वाच्य एव वाचक सम्बन्धी उससे विपरीत कल्पना करने वाले प्रतिवादी बुद्धि में प्रमाद भाव धारण करने वाले हैं। (१४)

चिदर्थशून्या च जडा च बुद्धिः, शब्दादितन्मात्रजमम्बरादि । न बन्धमोक्षौ पुरुषस्य चेति, कियज्जडैनं ग्रथित निरोधि ॥१४॥

चेतना स्वय पदार्थों को नही जानती। बुद्धि जड स्वरूप है। शब्द से आकाश, गध से पृथ्वी, रस से जल, रूप से अग्नि और स्पर्श से वायु उत्पन्न होती है तथा बध अथवा मोक्ष पुरुष को नही होता, ऐसी कितनी विपरीत कल्पना जड मनुष्यों ने नहीं की ? (१५)

न तुल्यकालः फलहेतुभावो, हेतौ विलीने न फलस्य भाव । न सविदद्वै तपथेऽर्थसविद्, विलूनशीर्गं सुगतेन्द्रजालम् ॥१६॥

कार्य एव कारण दोनो साथ नही रह सकते। कारण का नाश होने पर भी फल की उत्पत्ति नही हो सकती। जगत् को यदि विज्ञान स्वरूप माना जाये तो पदार्थों का ज्ञान नही हो सकता। इस प्रकार बुद्ध का इन्द्रजाल भी विलीन हो जाता है। (१६)

> विना प्रमागा परवन्न शून्यः, स्वपक्षसिद्धेः पदमश्नुवीत । कुप्येत्कृतान्तः स्पृशते प्रमागा— महो सुदृष्ट त्ववसूयिदृष्टम् ॥१७॥

शून्यवादी प्रमाण के बिना श्रन्यवादियों की तरह श्रपना मत सिद्ध नहीं कर सकता। यदि वह किसी प्रमाण को माने तो स्वय द्वारा मान्य शून्यता का सिद्धान्त, कृतान्त की तरह कुपित होता है। हे भगवन् ! श्रापके मत के ईर्षालु मनुष्यों ने कुमित ज्ञान रूपी नेत्रों से जो कुछ जाना है, वह मिथ्या होने के कारण उपहासास्पद है। (१७)

कृतप्रगाशाकृतकर्मभोगभवप्रमोक्षस्मृतिभङ्गदोषान् ।
उपेक्ष्य साक्षात् क्षग्रभङ्गमिच्छन्नहो महासाहिसकः परस्ते ।।१८।।

श्रापके प्रतिपक्षी क्षिण्यकवादी, बौद्ध क्षिण्यकवाद को स्वीकार करके श्रकृतकर्म-भोगदोष, कृतप्रणाश-दोष, भव-भग-दोष, मुक्ति-भग-दोष श्रौर स्मरण-भग-दोष श्रादि श्रनुभव सिद्ध दोषो की उपेक्षा करके श्रपना मत स्थापित करने के लिये श्रत्यन्त साहस करते है, यह सचमुच श्राश्चर्य है। (१८)

सा वासना सा क्षग्रसन्तितश्च, नाभेदभेदानुभयेर्घटेते । ततस्तटादिशशकुन्तपोत— न्यायात्त्वदुवतानि परे श्रयन्तु ।।१६।।

वासना एव क्षण सन्तित, परस्पर भिन्न, ग्रभिन्न एव ग्रनुभव, इन तीन भेदों में से किसी भी भेद से सिद्ध नहीं होती। जिस प्रकार समुद्र में जहाज से उडा पक्षी समुद्र का किनारा नहीं दिखाई पड़ने से पुन जहाज पर ही ग्रा बैठता है, उसी प्रकार से उपायान्तर नहीं होने से बौद्ध लोग ग्रन्त में ग्रापके ही सिद्धान्त का ग्राश्रय लेते हैं। (१६)

विनानुमानेन पराभिसिन्ध
मसंविदानस्य तु नास्तिकस्य ।

न साम्प्रत वक्तुमिष क्व चेष्टा,

क्व दृष्टमात्रं च हहा ! प्रमादः ॥२०॥

बिना अनुमान के अन्य व्यक्तियो का अभिप्राय नही समभ सकने वाले चार्वाक लोगो को बोलने की चेष्टा करना उचित नही है। कहा चेष्टा और कहा प्रत्यक्ष ? इन दोनो के मध्य अत्यन्त अन्तर है। इसे नहीं समभने वालो का कैसा प्रमाद है ? (२०) प्रतिक्षणोत्पादिवनाशयोगि— स्थिरेकमध्यक्षमपीक्षमागः। जिन! त्वदाज्ञामवमन्यते यः, स वातकी नाथ! पिशाचकी वा ॥२१॥

हे नाथ ¹ प्रत्येक क्षण उत्पन्न होने वाले, नष्ट होने वाले तथा स्थिर रहने वाले पदार्थों को देख कर भी हे जिन ¹ जो लोग भ्रापकी ग्राज्ञा की भ्रवहेलना करते हैं वे वायु भ्रथवा पिशाच से ग्रस्त है। (२१)

भ्रनन्तवर्मात्मकमेव तत्त्वमतोऽन्यथा सत्त्वमसूपपादम्।
इति प्रमागान्यपि ते कुवादिकुरङ्गसत्रासनसिंहनादाः ।।२२।।

प्रत्येक पदार्थ मे श्रनन्त घर्म हैं — यह नही मानने से वस्तु की सिद्धि नहीं हो सकती। इस प्रकार श्रापके प्रमारा-भूत वाक्य कुवादी रूपी मृगो मे भय (त्रास) उत्पन्न करने के लिये सिंह की गर्जना के समान हैं। (२२)

श्चपर्ययं वस्तु समस्यमान-मद्रव्यमेतच्च विविच्यमानम् । श्रादेशभेदोदितसप्तभङ्गः-मदीदशस्त्व बुघरूपवेद्यम् ॥२३॥

यदि वस्तु का सामान्यतया कथन किया जाये तो प्रत्येक वस्तु पर्याय रहित है। यदि वस्तु की विस्तारपूर्वक प्ररूपिंगा की जाये तो प्रत्येक वस्तु द्रव्य रहित है। इस प्रकार सकलादेश श्रीर विकलादेश के भेद से पडित लोग समक्त सकें वैसे सात भगो की श्रापने प्ररूपिंगा की है। (२३)

> उपाधिमेदोपहितं विरुद्धः , नार्थेष्वसत्त्व सदवाच्यते च । इत्यप्रबुष्येव विरोधभीता, जडास्तदेकान्तहताः पतन्ति ॥२४॥

प्रत्येक पदार्थ मे ग्रस्तित्व, नास्तित्व एव ग्रवक्तव्यत्व रूप परस्पर विरुद्ध धर्मों का प्रतिपादन ग्रपेक्षा भेद से विरुद्ध नही है। विरोध से भयभीत बने एकान्तवादी मूर्ख लोग इस सिद्धान्त को नही समभने के कारण ही न्याय-मार्ग से पतित होते हैं। (२४)

स्यान्नाशि नित्यं सदृशं विरूपं, वाच्यं न वाच्य सदसत्तदेव। विपश्चितां नाथ! निपीततत्त्व— सुघोद्गतोद्गारपरम्परेयम्॥२४॥

हे विद्वान्-शिरोमिंगि । प्रत्येक वस्तु किसी अपेक्षा से अनित्य है, किसी अपेक्षा से नित्य है, किसी अपेक्षा से सामान्य है, किसी अपेक्षा से विशेष है, किसी अपेक्षा से वाच्य है, किसी अपेक्षा से अवाच्य है, किसी अपेक्षा से अवाच्य है, किसी अपेक्षा से अत्त है । अनेकान्त-तत्व रूपी अमृत के पान से निकली हुई यह उद्गारों की परम्परा है। (२५)

य एव दोषाः किल नित्यवादे, विनाशवादेऽपि समास्त एव । परस्परध्वंसिषु कण्टकेषु, जयत्यधृष्य जिन ! शासनं ते ॥२६॥

वस्तु को सर्वथा नित्य मानने में जो दोष आते है, वे ही दोष सर्वथा अनित्य मानने में भी आते है। जिस प्रकार एक काटा (शूल) दूसरे काटे का नाश करता है, उसी प्रकार से नित्यवादियों और अनित्यवादियों के पारस्परिक दूषणा बता कर एक दूसरे का निराकरण करने पर भी हे जिन! आपका अधृष्य शासन बिना परिश्रम के विजय प्राप्त करता है। (२६)

नैकान्तवादे सुखदुःखभोगौ,
न पुण्यपापे न च बन्धमोक्षौ।
दुर्नोतिवादव्यसनासिनैव,
परैविलुप्तं जगदप्यशेषम्।।२७।।

एकान्तवाद मे सुख-दुखं का उपभोग घट नहीं सकता और पुण्य-पाप तथा बध-मोक्ष की व्यवस्था भी नहीं घट सकती। सचमुच, एकान्त-वादी लोगों ने दुर्नयवाद में ग्रासक्ति रूपी खड़्न से सम्पूर्ण विश्व का नाश किया है। (२७)

सदेव सत् स्यात्सदिति त्रिधार्थो,
मीयेत दुर्नीतिनयप्रमाणैः ।
यथार्थदर्शी तु नयप्रमारण—
पथेन दुर्नीतिपथं त्वमास्थः ॥२८॥

पदार्थ सर्वदा सत् तथा कथ चित् सत् है। इस प्रकार पदार्थों का ज्ञान क्रमश दुर्नय, नय एव प्रमाण मार्ग के द्वारा होता है, किन्तु हे भगवन् । ग्राप यथार्थदर्शी ने नय मार्ग एव प्रमाण मार्ग के द्वारा दुर्नय-वाद का निराकरण किया है। (२८)

मुक्तोऽपि वाभ्येतु भव भवो वा, भवस्थशून्योऽस्तु मितात्मवादे । षड्जीवकाय त्वमनन्तसख्य-माख्यस्तथा नाथ ! यथा न दोषः ।।२६।।

जो मनुष्य जीवो को अनन्त न मान कर परिमित सख्या मे मानते हैं उनके मतानुसार मुक्त जीवो को पुन ससार मे जन्म धारएा करना चाहिये अथवा यह ससार एक दिन जीव-विहीन हो जाना चाहिये, परन्तु हे भगवन् । आपने छ काय के जीवो को उस प्रकार अनन्त सख्या युक्त प्ररूपित किया है जिससे आपके मत मे उपर्युक्त दोष नहीं आ सकता। (२६)

श्चन्योऽन्यपक्षप्रतिपक्षभावाद्, यथा परे मत्सरिगः प्रवादा । नयानशेषानविशेषमिच्छन्, न पक्षपाती समयस्तथा ते ॥३०॥

श्रन्य वादी जिस प्रकार परस्पर पक्ष एव प्रतिपक्ष भाव रखने से एक दूसरे के प्रति ईर्ष्या रखते है, उस प्रकार से समस्त नयो को समान मानने वाले श्रापके शास्त्रों में किसी का भी पक्षपात नहीं है। (३०)

वाग्वंभव ते निखिल विवेक्तुमाशास्महे चेन्महनीयमुख्य !।
लङ्कोम जङ्कालतया समुद्र,
वहेम चन्द्रद्युतिपानतृष्णाम्।।३१।।

हे पूज्य शिरोमिए। श्रापकी वागा के वैभव का पूर्णरूपेगा विवेचन करने की ग्राशा रखना हम जैसो के लिए जघा-बल से समुद्र लाघने की श्राशा करने के समान है अथवा चन्द्रमा की चादनी को पान करने की तृष्णा के समान है। (३१) ् उपसहारकाव्यम्)

इदं तत्त्वातत्त्वव्यतिकरकरालेऽन्धतमसे,
जगन्मायाकारैरिव हतपरैर्हा विनिहितम्।
तदुद्धतुँ शक्तो नियतमविसवादिवचन—
स्त्वमेवातस्त्रातस्त्विय कृतसपर्याः कृतिधियः ॥३२॥

इन्द्रजालियों की तरह ग्रंधम पर-दार्शनिकों ने इस जगत को तत्त्व श्रौर श्रतत्त्व के व्यतिकर मिश्रण से विकराल गहन ग्रन्धकार में डाल दिया है। ग्राप ही इस जगत् का उद्धार करने में समर्थ हैं, क्योंकि ग्रापके वचन विसवाद-रहित है। हे जगत रक्षक । वृद्धिमान मनुष्य इस कारण ग्रापकी ही सेवा करते हैं। (३२)



कलिकालसर्वज्ञ-श्रोहेमचन्द्राचार्यचरग्गकजचञ्चरीक— परमार्हत्-श्रोकुमारपालम् भूपाल रचितम्

🌸 साधारणजिनरतवनम् 🏶

नम्राखिलाखण्डलमौलिरतन
रिश्मच्छटापत्लविताह्मि पीठ ।
विध्वस्तविश्वव्यसनप्रबन्धः ।
त्रिलोकबन्धो जयताज्जिनेन्द्र ! ।।१।।

समस्त विनीत इन्द्रों के मुकुटो पर विद्यमान रत्नों की किरणों से कान्तिमय बने पाद-पीठ वाले श्रौर जिन्होंने जगत् के दुख समूह को नष्ट किया है ऐसे तीन लोकों के वन्धु हे जिनेन्द्र । श्रापकी जय हो। (१)

मूढोऽस्म्यह विज्ञपयामि यत्त्वामुपेतरागं भगवन् ! कृतार्थम् ।
न हि प्रभूणामुचितस्वरूपनिरूपणाय क्षमतेऽथिवर्ग ।।२।।

हे भगवन् [!] मैं बुद्धिहोन, राग-रहित एव कृतार्थ श्रापको विज्ञप्ति करता हूँ कि सचमुच स्वामी के उचित स्वरूप का निरूपण करने मे सेवक समर्थ नही होता है। (२)

> मुक्ति गतोऽपीश[ा] विशुद्धचित्ते, गुणाधिरोपेण ममासि साक्षात् । भानुर्दवीयानपि दर्पगॅऽशु– सङ्गान्न कि द्योतयते गृहान्त[,] ? ।।३।।

हे स्वामी । ग्राप मोक्ष मे है फिर भी मेरे निर्मल चित्त मे ग्रापके गुर्गो का ग्रारोप करने से ग्राप साक्षात् मेरे समझ है। ग्रत्यन्त दूरस्य सूर्य दर्पगा में किरणो के सग से क्या घर के भीतर प्रकाश नहीं फैलाता ? (३) तव स्तवेन क्षयमङ्गभाजां,
भजन्ति जन्माजितपातकानि ।
कियन्चिर चण्डरुचेर्मरीचिस्तोमे तमांसि स्थितिमुद्दहन्ति ? ॥४॥

श्रापके स्तवन से प्रािणयों के श्रनेक भवों के सचित पापों का क्षय होता है। सूर्य की किरणों के समक्ष श्रधकार भला कब तक ठहर सकता है ? (४)

> शरण्य । कारुण्यपरः परेषां, निहंसि मोहज्वरमाश्रितानाम् । मम त्वदाज्ञा वहतोऽपि मूध्नां, शान्ति न यात्येष कुतोऽपि हेतोः ? ॥ ॥

हे शरण ग्रहण करने योग्य प्रभु । श्राप दयालु श्रापके शरणागतो का मोह-ज्वर नष्ट करते हैं, परन्तु श्रापकी ग्राज्ञा सिरोधार्य करने वाले मेरे इस मोह-ज्वर का, पता नहीं क्यो शमन नहीं होता ? (५)

> भवाटबीलङ्क्षनसार्थवाह, त्वामाश्रितो मुक्तिमह यियासुः । कषायचोरैजिन ! लुप्यमान, रत्नत्रयं मे तदुपेक्षसे किम् ? ॥६॥

मुक्ति-ग्रभिलाषा मे भव-वन को पार करने मे सार्थवाह तुल्य ग्रापके श्राश्रय मे हूँ, तो भी हे जिनेश्वर! कषाय रूपी चोरो के द्वारा चुराये जाते मेरे ग्रमूल्य त्रिरत्नो की ग्राप उपेक्षा क्यो करते है ? (६)

लब्धोऽसि स त्वं मयका महात्मा, भवाम्बुधौ बम्भ्रमता कथञ्चित् । श्राः पापपिण्डेन नतो न भवत्या, न पूजितो नाथ ! न तु स्तुतोऽसि ।।७।।

भव-सागर मे भटकते हुए मुक्ते किसी प्रकार से ग्रत्यन्त ही कठिनाई से ग्राप महात्मा मिल पाये हैं, परन्तु मुक्ते खेद तो इस बात का है कि मुक्त पाप-पिण्ड ने भक्ति पूर्वक हे नाथ । न तो ग्रापको नमन किया, न ग्रापकी पूजा-ग्रर्चना की ग्रीर न स्तुति की । (७) संसारचक्के भ्रमयन् कुबोध
दण्डेन मा कर्ममहाकुलाल ।

करोति दुःखप्रचयस्थ भाण्ड,

तत प्रभो ! रक्ष जगच्छरण्य ! ।।ऽ।।

इस ससार चक्र में कर्म रूपी महान् कुम्भकार कुबोध रूपी डण्डे से घुमाता हुग्रा मुक्ते दुख के समूह का भाजन बनाता है। ग्रत हे प्रभु । हे जगत् के शरराभूत । ग्राप मेरी रक्षा करे। (८)

कदा त्वदाज्ञाकरणाप्ततत्त्वस्त्यक्त्वा ममत्वादि भवेककन्दम् ।
ग्रात्मेकसारो निरपेक्षवृत्तिमोक्षेऽप्यनिच्छो भवितास्मि नाथ !।।६।।

हे नाथ । श्रापकी ग्राज्ञा का पालन करने से मुभे तत्त्व प्राप्त होने के कारए। मैं इस ससार का मूल कारए। स्वरूप ममता ग्रादि का त्याग करके, श्रात्मा को ही तत्त्व मान कर ससार मे निरपेक्ष व्यवहार युक्त तथा मोक्ष की भी इच्छा से रहित कब बनू गा ? (६)

तव त्रियामापतिकान्तिकान्तै—

गुं गौंनियम्यात्ममन प्लवङ्गम् ।

कदा त्वदाज्ञाऽमृतपानलोल ,

स्वामिन् । परब्रह्मर्रांत करिष्ये ? ।।१०।।

हे स्वामी । आपके चन्द्रमा की चाँदनी (कान्ति) के समान मनोहर गुए रूपी डोरी के द्वारा मेरे मन रूपी वन्दर को बाँध कर आपकी आज्ञा रूपी अमृत के पान में लीन बना मैं कब आत्म-स्वरूप मे आनन्द-मग्न होऊँगा ? (१०)

एतावतीं भूमिमह त्वदिल्लपद्मप्रसादाद् गतवानधीशम् ।
हठेन पापास्तदिप स्मराद्या,
ही मामकार्येषु नियोजयन्ति ॥११॥

हे स्वामी । ग्रापके चरण-कमलों की कृपा से मैंने इतना उच्च स्थान प्राप्त किया है, फिर भी खेद की बात यह है कि बलात्कार पूर्वक काम- विकार म्रादि पाप कर्म मुक्ते म्रकरणीय प्रवृत्तियो में म्रत्यन्त लगा देते हैं। (११)

भद्र न कि त्वय्यपि नाथनाथे, सम्भान्यते मे यदिष स्मराद्याः । श्रपाक्रियन्ते शुभभावनाभिः, पृष्ठि न मुञ्चन्ति तथापि पापाः ।।१२॥

श्रापके तुल्य स्वामी के होने से मेरे लिए समस्त कल्याएा सभव हैं। यद्यपि शुभ भावनाश्रो के द्वारा काम-विकार श्रादि शत्रु दूर हटाये जाते है, फिर भी वे पापी मेरा श्रांचल नहीं छोडते। (१२)

> भवाम्बुराशौ भ्रमतः कदापि, मन्ये न मे लोचनगोचरोऽभूः । निस्सीमसोमन्तकनारकादि-दुःखातिथित्व कथमन्यथेश[।] ।।१३।।

हे ईश ! मैं यह मानता हूँ कि भव-सागर में परिभ्रमण करते मुभे ग्रापके दर्शन कदापि नहीं हुए, ग्रन्यथा ग्रसीम दुखों की खान स्वरूप सीमतक नारकीय दुःखों ग्रादि का भोक्ता मैं कैसे होता ? (१३)

> चक्रासिचापाड्कुशवज्त्रमुख्येः, सल्लक्षणैर्लक्षितमह्नियुग्मम् । नाथ ! त्वदीय शरगा गतोऽस्मि, दुर्वारमोहादिविपक्षभीतः ।।१४॥

हे नाथ । दु ख से निवारण किए जा सके ऐसे मोह आदि शत्रुओ से भयभीत बना मैं चक्र, तलवार, धनुष, वज्र आदि प्रमुख शुभ लक्षणो से अलकृत आपके चरण-युगलो की शरण मे आया हुआ हूँ। (१४)

> श्रगण्यकारुण्य ! शरण्य ! पुण्य ! सर्वज्ञ ! निष्कण्टक ! विश्वनाथ ! वीनं हताशं शरणागत च, मां रक्ष रक्ष स्मर्गान्तकः ॥ १४॥

हे अगरिगत करुगानिधान । हे शरिग लेने योग्य । हे पिवत्र ! हे सर्वज्ञ । हे निष्कण्टक । हे जगन्नाथ । मुक्त दीन, हताश, एव शरिगागत की काम-देव रूपी भील के भालों से रक्षा करों, रक्षा करों। (१५)

त्वया विना दुष्कृतचक्रवालं, नान्यः क्षय नेतुमल ममेशा! को वा विपक्षप्रतिचक्रमूल, चक्र विना छेत्तुमल भविष्णु ? ।।१६॥

हे स्वामी । श्रापके ग्रतिरिक्त मेरे पाप-समूह को क्षय करने मे ग्रन्य कौन समर्थ है ? ग्रथवा शत्रु-सेना का मूलोच्छेदन करने के लिए चक्र के ग्रतिरिक्त कौन समर्थ हो सकता है ? (१६)

> यद् देवदेवोऽसि महेश्वरोऽसि, बुद्धोऽसि विश्वत्रयनायकोऽसि । तेनान्तरङ्गारिगणाभिभूत-स्तवाग्रतो रोदिमि हा सखेदम् ।।१७।।

जिन कारएों के लिए ग्राप देवाधिदेव हैं, महेश्वर है, बुद्ध हैं, तीनों लोकों के नायक हैं ग्रीर मैं ग्रन्तरग शत्रुग्नों से पराजित हो चुका हूँ, इस कारएा ग्रापके समक्ष मैं खेद सहित रुदन करता हूँ। (१७)

> स्वामिन्नधर्मव्यसनानि हित्वा, मनः समाधौ निदधामि यावत् । तावत्क्रुधेवान्तरवैरिणो मा– मनल्पमोहान्ध्यवश नयन्ति ।।१८।।

हे स्वामी । जब तक अधर्मों एव व्यसनो का परित्याग करके मैं अपने मन को समाधि मे स्थापित करता हूँ उतने मे तो कोध से ही मानो मेरे अन्तरग शत्रु मुक्ते मोहान्ध कर देते है। (१८)

त्वदागमाद्विद्धि सदैव देव!
मोहादयो यन्मम वैरिगाोऽमी।
तथापि मूढस्य पराष्त्रबुद्ध्या,
तत्सिन्निघौ ही न किमप्यकृत्यम्।।१९।।

हे देव । आपके आगमो के द्वारा मैं सदा मोह आदि को अपना शत्रु समभता हूँ, परन्तु मुक्त मूर्ख को शत्रु मे उत्क्रिष्ट विश्वास हुआ है, जिससे मोह आदि के समीप रह कर मुक्त से कौनसा कुकृत्य नही होगा ? अर्थात् मोह आदि के कारण पुद्गल मे विश्वास अथवा पुद्गल मे अपनत्व की भावना से मूढ बने मेरे लिए कोई भो कार्य ग्रकरणीय नही रहा, यह खेद की बात है। (१६)

म्लेच्छैर्नृ शसेरितराक्षसंश्च, विडम्बितोऽमीभिरनेकशोऽहम् । प्राप्तस्त्विदानीं भुवनेकवीर ! त्रायस्व मा यत्तव पादलीनम् ।।२०॥

म्लेच्छ, निर्देयी तथा राक्षसो को भी मात करने वाले इन काम-कोध ग्रादि के द्वारा मैं ग्रनेक बार दुख प्राप्त कर चुका हूँ। हे लोक मे वीर परमात्मा! ग्रब मैंने ग्रापको प्राप्त किया है। मैं ग्रापके चरणो मे लीन हूँ। ग्राप मेरी रक्षा करे। (२०)

> हित्वा स्वदेहेऽपि ममत्वबुद्धि, श्रद्धापवित्रीकृतसिद्धवेकः । मुक्तान्यसङ्गः समशत्रुमित्रः, स्वामिन् । कदा सयममातिन्ध्ये ।।२१।।

हे स्वामी । अपने देह के प्रति भी ममत्व का त्याग करके, श्रद्धा सिहत पिवत्र प्रन्तः करण युक्त होकर, हृदय मे शुद्ध विवेक-हेय आदि का विभाग करके, अन्य सभी की सगित का परित्याग करके तथा शत्रु एव मित्र को समान समक्त कर मैं कब सयम ग्रहण कर सकूँगा ? (२१)

त्वमेव देवो मम वोतराग!

धर्मो भवद्दश्तितधर्म एव ।

इति स्वरूपं परिभाव्य तस्मान्,

नोपेक्षरगीयो भवति स्वभृत्यः ।।२२।।

हे वीतराग ! ग्राप ही मेरे देव है ग्रौर ग्राप द्वारा प्ररूपित धर्म ही मेरा धर्म है। इस प्रकार मेरे स्वरूप का विचार करके ग्रापको मुक्त सेवक की ऐसी उपेक्षा करना उचित नहीं है। (२२)

जिता जिताशेषसुरासुराद्याः,
कामादयः कामममी त्वयेश !
त्वां प्रत्यशक्तास्तव सेवकं तु,
निघ्नन्ति ही मां पहषं हवेव ॥२३॥

हे ईशा । ये काम म्रादि, समस्त देव-दानवो के विजेता हैं। इन्हें ग्रापने सर्वथा जीत लिया है, परन्तु ग्रापको जीतने मे ग्रसमर्थ वे काम ग्रादि मानो क्रोध से ही मुक्त सेवक का निर्दयता से सहार करते हैं, यह खेद की वात है। (२३)

> सामर्थ्यमेतद् भवतोऽस्ति सिद्धि, सत्त्वानशेषानिप नेतुमीश ! क्रियाविहीन भवदिह्यलीन दीन न कि रक्षसि मा शरण्य ॥२४॥

हे ईश । समस्त प्राणियों को मुक्ति में ले जाने का आपका सामर्थ्य है, तो फिर मुक्त क्रियाविहीन, दीन एव आपके चरणों में लीन को आप क्यों नहीं बचाते ? (२४)

त्वत्पादपद्मद्वितय जिनेन्द्र !
स्फुरत्यजस्र हृदि यस्य पु स ।
विश्वजयो श्रोरिप नूनमेति,
तत्राश्रयार्थं सहचारिणीव ॥२५॥

हे जिनेन्द्र । जिस पुरुष के अन्त करण मे आपके चरण-कमल-युगल सदा स्फुरायमान हैं, वहाँ निश्चय ही तीनो लोको की लक्ष्मी सहचारिणी की तरह आश्रय ग्रहण करने के लिए आती है। (२४)

श्रह प्रभो ! निर्गु ग्राचक्रवर्ती, क्रूरो दुरात्मा हतकः सपाप्मा । हो दुःखराशौ भववारिराशौ, यस्मान्तिमग्नोऽस्मि भवद्विमुक्तः ॥२६॥

हे प्रभो । मैं निर्गु शियो मे चक्रवर्ती हूँ, कूर हूँ, दुरात्मा हूँ, हिंसक हूँ श्रौर पापी हूँ, जिस कारण से मैं श्रापसे श्रनग होकर दुख की खान तुल्य भव-सागर में डूव गया हूँ, यह खेद की बात है। (२६)

> स्वामिन्निमग्नोऽस्मि सुघासमुद्रे, यन्नेत्रपात्रातिथिरद्य मेऽसू । चिन्तामगो स्फूर्जित पागिपद्मे, पुंसामसाघ्यो न हि कश्चिदर्थ ।।२७।।

न्यायाचार्य-न्यायविज्ञारद-महोपाध्याय श्रीयशोविजय-रचिता

🕸 परमज्योतिः पञ्चविंशतिका 🕸

ऐन्द्र तत्परम ज्योतिरुपाधिरहित स्तुम । उदिते स्युर्यदशेऽपि, सन्निधौ निधयो नव ॥१॥

कर्म-उपाधि-रहित ग्रात्मा के सम्बन्ध में हम उस परम ज्योति की स्तुति करते हैं जिसके ग्रश मात्र के उदय से नी निधियाँ प्रकट होती है। (१)

> प्रभा चन्द्राऽकभादीना, मितक्षेत्रप्रकाशिका। श्रात्मानस्तु पर ज्योति –लोंकालोकप्रकाशम्।।२।।

चाद, सूर्य एव नक्षत्रो श्रादि की प्रभा सीमित क्षेत्र को प्रकाशित करने वाली है, जबिक श्रात्मा की परम ज्योति लोक-श्रलोक को प्रकाशित करने वाली है। (२)

निरालम्बं निराकारं, निर्विकल्प निरामयम्। स्रात्मनः परम ज्योति, —निरुपाधि-निरंजनम्।।३।।

श्रातमा की परम ज्योति श्रालम्बन रहित, श्राकार रहित, विकल्प रहित, रोग रहित, उपाधि रहित एव मल रहित है। (३)

> दीपादिपुद्गलापेक्ष, समल ज्योतिरक्षजम्। निर्मल केवलं ज्योति -निरपेक्षमतीन्द्रियम्।।४।।

इन्द्रियो से उत्पन्न ज्योति दीपक ग्रादि पुद्गलो की ग्रपेक्षा रखने वाली ग्रौर मल युक्त है। ग्रतीन्द्रिय केवल ज्योति निरपेक्ष एव निर्मल है। (४)

कर्मनोकर्मभावेषु, जागरूकेव्विप प्रभुः। तमसानावृतः साक्षी, स्फुरति ज्योतिषा स्वयम्।।४।।

जागरूक कर्म तथा नोकर्म जनित भावो के सम्बन्ध मे अज्ञान-ग्रधकार से अनावृत्त स्वय साक्षी स्वरूप प्रभु आत्म-ज्योति के द्वारा स्फुरायमान होता है। (५)

> परमज्योतिषः स्पर्शादपरं ज्योतिरेघते। यथा सूर्यकरस्पर्शात्, सूर्यकान्तस्थितोऽनलः।।६।।

सूर्य की किरणों के स्पर्श से सूर्यकान्तमिए। में निहित ग्रिग्न की जिस प्रकार वृद्धि होती है, उसी प्रकार से परम ज्योति के स्पर्श से ग्रपरम ज्योति की वृद्धि होती है। (६)

पश्यन्तपरम ज्योतिर्विवेकाद्रेः पतस्यधः। परम ज्योतिरन्विच्छन्नाऽविवेके निमज्जति ॥७॥

ग्रपरम ज्योति का दर्शक विवेक रूपी पर्वत से नीचे गिरता है, परम ज्योति का ग्रभिलाषी ग्रविवेक मे नहीं डूबता। (७)

> तस्मै विश्वप्रकाशाय, परमज्योतिषे नमः। केवलं नैव तमसः, प्रकाशादपि यत्परम्।।८।।

विश्व का प्रकाश करने वाली उस परम ज्योति को नमस्कार है कि जो केवल अधकार से ही परे नहीं है, किन्तु प्रकाश से भी परे है। (८)

ज्ञानदर्शनसम्यक्त्व -चारित्रमुखवीर्यभूः। परमात्मप्रकाशो मे, सर्वोत्तमकलामयः।।६।।

ज्ञान, दर्शन, सम्यक्तव, चारित्र, सुख और वीर्य की भूमि तुल्य मेरा परमात्म प्रकाश सर्वोत्तम कलामय है। (१)

या विना निष्फलाः सर्वाः, कला गुणबलाधिका । स्रात्मधामकलामेका, ता वयं समुपास्महे ॥१०॥

गुरा एव वल से अधिक समस्त कलाये जिसके विना निष्फल हैं, उस आत्म-ज्योति स्वरूप एक ही कला की हम उपासना करते है। (१०)

निधिभिर्नवभीरत्ने -श्चतुर्दशभिरप्यहो। न तेजश्चक्रिणां यत्स्यात्, तदात्माधीनमेवहि ।।११।।

श्रहो ! नौ निधियाँ एव चौदह रत्नो से भी चक्रवित्तयो को जिस तेज की प्राप्ति नही होती, वह तेज परम ज्योति के प्रकाश को प्राप्त हमारी स्रात्मा के श्रधीन है। (११)

> दम्भपर्वतदम्भोलि, ज्ञानध्यानघनाः सदा। मुनयो वासवेभ्योऽपि, विशिष्ट धाम बिभ्रति ॥१२॥

दम्भ रूपी पर्वत को तोडने के लिये वज्र तुल्य, ज्ञान तथा ध्यान रूपी धन वाले मुनि इन्द्रों से भी ग्रिधिक तेज को धारएा करते है। (१२)

> श्रामण्ये वर्षपर्यायात्, प्राप्ते परमशुक्लताम् । सर्वार्थसिद्धदेवेभ्योऽप्यधिकं ज्योतिरुल्लसेत् ॥१३॥

एक वर्ष के श्रमण पर्याय के द्वारा परम शुक्लता को प्राप्त मुनिवरों को सर्वार्थसिद्ध विमान के देवों से भी श्रधिक ज्योति उल्लसित होती है। (१३)

> विस्तारिपरमज्योति, -र्द्धोतिताभ्यन्तराशयाः । जीवन्मुक्ता महात्मानो, जायन्ते विगतस्पृहाः ।।१४।।

विस्तार युक्त परम ज्योति से प्रकाशित ग्रन्तरात्मा वाले जीवन-मुक्त महात्मा समस्त प्रकार की स्पृहा से रहित होते है। (१४)

> जाग्रत्यात्मिनि ते नित्य, बहिर्भाविषु शेरते। उदासते परद्रव्ये, लीयन्ते स्वगुर्णामृते।।१५॥

वे ग्रात्म-भाव के विषय में सदा जाग्रत रहते हैं, बाह्य भावों में निरन्तर सोये हुए रहते हैं, पर द्रव्यों के विषय में उदासीन रहते हैं ग्रौर स्वगुरा रूपी ग्रमृत-पान के विषय में तल्लीन रहते हैं। (१५)

> यथैवाभ्युदितः सूर्यः , पिदघाति महान्तरम् । चारित्रापरमज्योति, –द्यौतितात्मा तथा मुनिः ॥१६॥

उदित भानु जिस प्रकार घोर ग्रधकार का नाश करता है, उसी

१ न

प्रकार से चारित्र रूपी परम ज्योति से प्रकाशित ग्रात्मा वाले मुनिगरा ग्रज्ञानान्यकार को नष्ट कर डालते हैं। (१६)

> प्रच्छन्न परम ज्योति - रात्मनोऽज्ञानभस्मना । क्षगादाविभवत्युग्र - ध्यानवातप्रचारतः ॥१७॥

ग्रात्मा की परम ज्योति ग्रज्ञान रूपी भस्म से ग्राच्छादित है। उग ध्यान रूपी वायु के प्रचार से क्षरण भर मे उसका ग्राविभीव होता है। (१७)

> परकीय प्रवृत्तौ ये, मूकान्धविघरोपमाः। स्वगुर्गार्जन १-सञ्जास्तै , परम ज्योतिराप्यते ॥१८॥

जो परकीय प्रवृत्ति मे मूक, श्रन्ध श्रौर बिधर की उपमा से युक्त हैं तथा स्वगुण के उपार्जन मे सज्ज हैं, वे परम ज्योति को प्राप्त करते हैं। (१८)

> परेषा गुणदोषेषु, दृष्टिस्ते विषदायिनी। स्वगुगानुभवालोकाद्, दृष्टिः पीयूषवर्षिणी।।१६।।

दूसरो के गुरा दोषो पर रही हुई तेरी दृष्टि विष की वृष्टि करने वाली है। स्वगुण का अनुभव करने के प्रकाश युक्त दृष्टि अमृत की वृष्टि करने वाली है। (१६)

> स्वरूपादर्शन^२ श्लाघ्य, पररूपेक्षण वृथा। एतावदेव विज्ञानं, परज्योतिः प्रकाशकम् ॥२०॥

स्वरूप का दर्शन क्लाघनीय है, पर रूप का ईक्षण वृथा है, इतना ही विज्ञान परम ज्योति का प्रकाशक है। (२०)

> स्तोकमप्यात्मनो ज्योति , पश्यतो दीपवद्वितम् । श्रन्घस्य दीपशतवत्, परज्योतिर्न बह्विप ॥२१॥

तिनक ग्रात्म-ज्योति भी दृष्टि युक्त को दीपक की तरह हितकर है। ग्रनों के लिये एक सौ दीपको की तरह ग्रधिक ज्योति भी दूसरों के लिये हितकार नहीं है। (२१)

१ सज्जाश्च ते पर। २ स्वरूपादशन।

समताऽमृतमग्नानां, समाधिधूतपाप्मना । रत्नत्रयमयं शुद्धं, पर ज्योतिः प्रकाशते ।।२२।।

समता रूपी अमृत मे निमग्न एव समाधिपूर्वक पाप-कर्मों के नाशक महात्माओं को रत्नत्रयमय शुद्ध परम ज्योति प्रकाशमय करती है। (२२)

> तीर्थंकरा गराधरा, लब्धिसिद्धाश्च साधवः । संजातास्त्रिजगद्दन्द्याः, परं ज्योतिष्प्रकाशतः ॥२३॥

तीर्थंकर, गराधर एव लिब्ध-सिद्ध साघु पुरुष परम ज्योति के प्रकाश से त्रिलोक-वदनीय हुए है। (२३)

न रागं नापि च द्वेष, विषयेषु यदा व्रजेत्। श्रौदासीन्यनिमग्नात्मा, तदाप्नोति परं महः।।२४॥

उदासीन भाव मे निमग्न ग्रात्माये जव विषयो मे राग ग्रथवा द्वेष नही करती, तब वे परम ज्योति को प्राप्त करती है। (२४)

> विज्ञाय परमज्योति - मिहातम्यमिदमुत्तमम् । यः स्थैर्यं याति लभते, स यशोविजयश्रियम् ॥२४॥

परम ज्योति का यह उत्तम माहातम्य समभ कर जो स्थिरता प्राप्त करते है, वे यश एव विजय की लक्ष्मी प्राप्त करते है, ग्रथवा श्रीयशोविजय की लक्ष्मी को प्राप्त करते है। (२५)

न्यायाचार्य-न्यायविशारद-महोपाध्याय श्रीयशोविजय रचिता

* परमात्म-पत्र्चविंशतिका *

परमात्मा परम्ज्योतिः , परमेष्ठी निरञ्जनः । म्रजः सनातनः शुभः , स्वयम्भूर्जयताज्जिनः ॥१॥

परमात्मा, परज्योति, परमेष्ठी, निरजन, ग्रज, सनातन, शभु एव स्वयभू श्री जिनेश्वर प्रभु की जय हो। (१)

> नित्य विज्ञानमानन्दं, ब्रह्म यत्र प्रतिष्ठितम् । शुद्धबुद्धस्वभावाय, नमस्तस्मे परात्मने ॥२॥

जहाँ निरन्तर विज्ञान, श्रानन्द श्रीर ब्रह्म प्रतिष्ठित है, उन शुद्ध बुद्ध स्वभावी परमात्मा को नमस्कार हो। (२)

> श्रविद्याजनितैः सर्वे -विकारैरनुपद्रुतः । व्यवस्या शिवपदस्थोऽसौ, शक्त्या जयति सर्वगः ।।३।।

जो श्रज्ञान-जिनत समस्त प्रकार के विकारों से श्रनुपद्रुत हैं, व्यक्ति के द्वारा शिव-पद में विद्यमान हैं श्रीर शक्ति के द्वारा सर्वत्र व्यापक हैं। (३)

यतो वाचो निवर्तन्ते, न यत्र मनसो गतिः । शुद्धानुभवसवेद्य, तद्रूप परमात्मनः ॥४॥

जहाँ से वाणी लौट ग्राती है श्रौर जहाँ से मन की गति नहीं होती; केवल शुद्ध श्रनुभव से ही ज्ञात हो सकने वाला परमात्मा का स्वरूप है। (४)

> न स्पर्शो यस्य नो वर्गो, न गन्धो न रसश्युतिः । शुद्धचिन्मात्रगुरावान्, परमात्मा स गीयते ॥४॥

जिनके स्पर्श नही है, वर्ण नही है, गध नही है, रस नही है तथा शब्द नही है श्रीर जो केवल शुद्ध ज्ञान-गुण के धारक हैं वे परमात्मा कहलाते हैं। (४)

माधुर्यातिशयो यद्वा, गुणीघः परमात्मन । तथाऽऽख्यातुं न शक्योऽपि, प्रत्याख्यातुं न शक्यते ।।६।।

श्रथवा श्रतिशय मधुरता के धारक परमात्मा का समुदाय श्रमुक प्रकार का है, यह भी नहीं कहा जा सकता श्रीर अमुक प्रकार का नहीं है, यह भी नही कहा जा सकता। (६)

बुद्धो जिनो हृषीकेशः, शम्भुर्ब्न ह्यादिपुरुषः । इत्यादिनामभेदेऽपि, नाऽर्थतः स विभिद्यते ॥७॥

बुद्ध, जिन, हृषिकेश, शभु, ब्रह्मा स्रादिपुरुष इत्यादि नामो से स्रोनेक भेद युक्त होने पर भी स्रर्थं से तिनक भी भेद नहीं है। (७)

धावन्तोऽपि नया नैके, तत्स्वरूपं स्पृशन्ति न ।

समुद्रा¹ इव कल्लोलैं:, कृतप्रतिनिवृत्तयः ।।८।। दौडते हुए अनेक नय परमात्मा के स्वरूप का स्पर्श नहीं कर सकते। जिस प्रकार समुद्र की तरगे समुद्र में लौट आती है उसी प्रकार से नय भी (परमात्म स्वरूप का स्पर्श किये बिना) पुनः लौट ग्राते है। (८)

शब्दोपरक्ततद्रूप, -बोधकुन्नयपद्धतिः (ते)। निविकल्पं तु तद्रूप, गम्य नाऽनुभव विना ॥६॥

नय का मार्ग शब्दो के द्वारा उपरक्त बन कर परमात्म-स्वरूप का बोध कराता है, परन्तु परमात्मा का निर्विकल्य स्वरूप अनुभव के बिना केवल शब्दो से जाना नही जा सकता। (६)

केषा न कल्पना दर्वी, शास्त्रक्षीरान्नगाहिनी। स्तोकास्तत्त्वरसा स्वाद - विदोऽनुभवजिह्वया ॥१०॥

शास्त्ररूपी क्षीरान्न का अवगाहन करने वाली कल्पना रूपी कडछी भला किसे प्राप्त नही हुई है ? अनुभवं रूपी जीभ (रसना) के द्वारा उसका रसास्वादन करने वाले जगत् मे विरले ही है। (१०)

जितेन्द्रिया जितक्रोधा, दान्तात्मान शुभाशया । परमात्मगति यान्ति, विभिन्ने रिप वर्त्मभि ॥११॥

जितेन्द्रिय, कोध-विजेता, ग्रात्मा का दमन करने वाले श्रीर शुभ ग्राशय वाले महापुरुष भिन्न-भिन्न मार्गों के द्वारा भी परमात्म स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करते हैं। (११)

१. सामुद्रा इव कल्लोला ।

नूनं मुमुक्षवः सर्वे , परमेश्वरसेवकाः। दुरासन्नादिभेदस्तु, तद्भृत्यत्व निहन्ति न ॥१२॥

समस्त मुमुक्षु आत्माये निश्चित रूप से परमेश्वर के सेवक ही हैं। दूर, समीप आदि का भेद उनके सेवकत्व मे तिनक भी वाधक नहीं होता। (१२)

नाममात्रेण ये हप्ता, ज्ञानमार्गविवर्जिताः । न पश्यन्ति परात्मान⁹, ते घूका इव भास्करम् ॥१३॥

ज्ञान-मार्ग से रहित एव परमात्मा के नाम मात्र से ग्रभिमानी बने पुरुष, जिस प्रकार उल्क (उल्लू) सूर्य को नही देख सकता उसी प्रकार, परमात्मा को देख नहीं सकते। (१३)

श्रमः शास्त्राश्रयः सर्वो, यज्ज्ञानेन फलेग्रहिः । ध्यातव्योऽयमुपास्योऽय, परमात्मा निरञ्जनः ।।१४।।

शास्त्र-सम्बन्धी समस्त परिश्रम, जिनका ज्ञान होने के पश्चात् ही सफल होता है, वे एक निरजन परमात्मा ही ध्यान करने योग्य एव उपा-सना करने योग्य है। (१४)

नान्तराया न मिथ्यात्व, हासो रत्यरती च न । न भीर्यस्य जुगुप्सा नो, परमात्मा स मे गति ।।१४।।

जिनके ग्रन्तराय नहीं है, मिथ्यात्व नहीं है, हास्य नहीं है, रित नहीं है, ग्ररित नहीं है, भय नहीं है ग्रीर जुगुप्सा नहीं है वे परमात्मा मुभे शरगा-गित देने वाले वने। (१५)

न शोको यस्य नो कामो, ना ज्ञानाविरती तथा। नावकाशश्च निद्रायाः, परमात्मा स मे गति।।१६॥

जिन्हे शोक नही है, काम नही है, अज्ञान नही है, अविरित नही है तथा नीद का अवकाश नहीं है वे परमात्मा मेरे शरएा-भूत हो। (१६)

> रागद्वेषी हतो येन, जगत्त्रय भयंकरौ। सत्राण परमात्मा मे, स्वप्ने वा जागरेऽपि वा ॥१७॥

तीनो लोको के लिये भयकर राग एव द्वेष को जिन्होने नष्ट कर दिया है वे परमात्मा स्वप्न में ग्रथवा जागृत ग्रवस्था में मेरे रक्षक वर्ने। (१७)

१ परेशान ।

उपाधिजनिता भावा, ये ये जन्मजरादिकाः। तेषां तेषां निषेधेन, सिद्धं रूपं परात्मनः॥१८॥

कर्म रूपी उपाधि से उत्पन्न होने वाले जो-जो जन्म, जरा ग्रादि भाव है उन-उन भावो का निषेध होने पर परमात्मा का स्वरूप सिद्ध होता है। (१८)

श्रतद्व्यावृत्तितो भिन्नं, सिद्धान्ताः कथयन्ति तम् । वस्तुतस्तु न निर्वाच्यं, तत्स्वरूप⁹ कथञ्चन ॥१६॥

"वह इस प्रकार का नहीं है"-यह कह कर सिद्धान्त उसके रूप का वर्गान करते है, परन्तु वस्तुत परमात्मा के स्वरूप का किसी भी प्रकार से वर्गान नहीं किया जा सकता। (१६)

जानन्निप यथा म्लेच्छो, न शक्नोति पुरीगुणान् । प्रवक्तुमुपमाऽभावात्, तथा सिद्धसुखं जिनः ।।२०।।

गाव का निवासी नगर के गुएगों को जानते हुए भी उपमास्रों के स्रभाव में उनके विषय में कुछ कह नहीं सकता, इसी प्रकार केवलज्ञानी महात्मा भी उपमास्रों के स्रभाव में सिद्ध परमात्मा के सुख का वर्णन नहीं कर सकते। (२०)

सुरासुराणां सर्वेषां, यत्सुखं पिण्डितं भवेत् । एकत्राऽपि हि सिद्धस्य, तदनन्ततमांशगम् ॥२१॥

समस्त सुरासुरो के सुख को यदि एक स्थान पर एकत्रित कर लिया जाये तो भी वह एक सिद्ध के सुख के ग्रनन्तवे भाग जितना भी नही होता। (२१)

श्रदेहा दर्शनज्ञानो -पयोगमयमूर्त्तय । श्राकालं परमात्मान , सिद्धा सन्ति निरामया ॥२२॥

सिद्ध परमात्मा देहरहित, दर्शन एव ज्ञानोपयोग स्वरूप से युक्त तथा सर्वदा रोग एव पीडारहित होते है। (२२)

लोकाग्रशिखरारूढ़ाः , स्वभावसमवस्थिता । भवप्रपञ्चनिर्मुक्ताः , युक्तानन्ताऽवगाहनाः ॥२३॥

१. तस्य रूप ।

वे लोक के अग्र भाग रूपी जिखर पर आरुढ होते हैं, वे सदा अपने स्वभाव मे अवस्थित होते हैं, ससार के प्रपचो से सर्वथा मुक्त होते है और अनन्त सिद्धों की अवगाहना में रहे हुए होते हैं। (२३)

> ईलिका भ्रमरीध्यानाद्, भ्रमरीत्व यथाऽश्नुते । तथा ध्यायन् परात्मान, परमात्मत्वमाष्नुयात् ॥२४॥

भ्रमरी के घ्यान से जिस प्रकार ईलिका भ्रमरी बन जाती है, उसी प्रकार से परमात्मा का घ्यान करने वाली ग्रात्मा परमात्मत्व प्राप्त करती है। (२४)

परमात्मगुरानिव⁹, ये घ्यायन्ति समाहिताः । लभन्ते निभृतानन्दा –स्ते यशोविजयश्रियम् ॥२५॥

इस प्रकार समाधियुक्त मनवाले पुरुष जो परमात्मा के गुराो का ध्यान करते हैं, वे परिपूर्ण ग्रानन्दमय बन कर यश का विजय करने वाली लक्ष्मी को प्राप्त करते हैं, ग्रथवा श्री यशोविजय की लक्ष्मी को प्राप्त करते हैं। (२४)

१ गुए। नेप।

फलिकालसर्वज्ञ-श्रोमद्-हेमचन्द्राचार्य-विरचित

* वीतराग-रतोत्रम् *

प्रथम प्रकाश

यः परात्मा परंज्योति , परमः परमेष्ठिताम् । स्रादित्यवर्णं तमस , परस्तादामनन्ति यम् ॥१॥

जो परात्मा, परज्योति एव परमेष्ठियो मे प्रधान है, जिन्हे पण्डित-गरा अज्ञान से पार पाये हुए एव सूर्य के समान उद्योत करने वाले मानते है। (१)

> सर्वे येनोदमूल्यन्त, समूलाः क्लेशपादपा । मूर्ट्ना यस्मे नमस्यन्ति, सुरासुरनरेश्वराः ॥२॥

जिन्होने राग म्रादि क्लेश-वृक्षो का समूल उन्मूलन कर दिया है, जिनके (चरणो मे) सुर, म्रसुर, मनुष्य एव उनके म्रधिपति नत मस्तक होते है। (२)

> प्रावर्त्तन्त यतो विद्याः, पुरुषार्थप्रसाधिका । यस्य ज्ञान भवद्भावि - भूतभावावभासकृत् ॥३॥

जिनसे पुरुषार्थ को सिद्ध करने वाली शब्द ग्रादि विद्याएँ प्रवर्तित है, जिनका ज्ञान वर्तमान, भावि ग्रौर भूत भावो का प्रकाशक है। (३)

यस्मिन्विज्ञानमानन्द, ब्रह्म चैकामत्तां गतम् । स श्रद्धेयः स च घ्येय , प्रपद्ये शरगां च तम् ॥४॥

जिनमे विज्ञान-केवलज्ञान, ग्रानन्द-सुख ग्रौर ब्रह्म-परमपद ये तीनो एकात्म-एकरूप हो गये है, वे श्रद्धेय है तथा घ्येय है ग्रौर मैं उनकी शरण ग्रज़ीकार करता हू। (४)

तेन स्यां नाथवास्तस्मै, स्पृह्येय समाहितः। ततः कृतार्थों मूयास, भवेय तस्य किङ्करः॥४॥

उनके कारण में मनाथ ह, समाहित मन वाला में उनकी इच्छा करता हू, में उनसे कृतार्थ होता हू, श्रीर में उनका सेवक हू। (५)

तत्र स्तोत्रेण कुर्या च, पवित्रा स्वा सरस्वतोम् । इद हि भवकान्तारे, जन्मिना जन्मन फलम् ॥६॥

उनकी स्तुति करके मैं ग्रपनी वाएगी पवित्र करता हू क्यों कि इस भव-वन मे प्राणियों के जन्म का यही एक फल है। (६)

क्वाह पशोरिप पशु -र्वीतरागस्तवः क्व च। उत्तितीर्षु ररण्यानीं, पद्भ्या पड्गुरिवास्म्यतः ॥७॥

पशु से भी गया बीता मैं कहाँ श्रीर सुरुगुरु (बृहस्पति) से भी श्रसभव वीतराग की स्तुति कहाँ ? इस कारएा दो पाँवो से बड़े भारी वन को लाघने के श्रभिलाषी पगु के समान मैं हू। (७)

> तथापि श्रद्धामुग्घोऽह, नोपालभ्य स्खलन्नपि । विश्रृह्यलापि वाग्वृत्ति , श्रद्धानस्य शोभते ॥८॥

तो भी श्रद्धा-मुग्ध मैं प्रभु की स्नुति करने में स्खलित होने पर भी उपालम्भ का पात्र नहीं हूं। श्रद्धालु व्यक्ति की सम्वन्ध-विहीन वाक्य-रचना भी सुशोभित होती है। (८)

श्रीहेमचन्द्रप्रभवाद्, -वीतरागस्तवादित । कुमारपालभूपाल प्राप्नोतु फलमीप्सितम् ॥६॥

श्री हेमचन्द्रसूरि द्वारा रचित इस श्री वीतरागस्तव से श्री कुमारपाल भूपाल श्रद्धा-विद्युद्धि-लक्ष्मण एव कर्मक्षय-लक्ष्मण इच्छित फल प्राप्त करें। (१)

दूसरा प्रकाश

प्रियङ्गः - स्फटिक स्वर्ण - पद्मरागाञ्जनप्रभ । प्रभो । तवाधीतशुचि , काय कमिव नाक्षिपेत् ॥१॥ हे प्रभु! प्रियगु के समान नीले वर्ण की, स्फटिक के समान उज्ज्वल वर्ण की, स्वर्ण के समान पीत वर्ण की, पद्मराग के समान लाल भ्रौर भ्रञ्जन के समान स्याम कान्ति वाली भ्रौर धोये बिना ही पवित्र भ्रापकी देह भला किसे भ्राश्चर्य-चिकत नहीं करेगी ?(१)

मन्दार - दामवित्रत्य - मवासित - सुगन्धित । तवाङ्गे भृङ्गतां यान्ति, नेत्राणि सुरयोषिताम ॥२॥

कल्पवृक्ष के पुष्पो की माला के समान स्वभाव से ही सुगन्धित श्रापके देह पर देवाङ्गनाश्रो के नेत्र भौरो की तरह मडराते है। (२)

दिव्यामृतरसास्वाद - पोषप्रतिहता इव । समाविशन्ति ते नाथ ! नाङ्गे रोगोरगव्रजाः ॥३॥

हे नाथ ¹ दिव्य अमृत रस के स्वाद की पुष्टि से पराजित हो गये हो उस प्रकार से कास, क्वास आदि रोग रूपी सापो के समूह आपके देह मे प्रविष्ट नहीं होते। (३)

त्वय्यादर्शतलालीन - प्रतिमाप्रतिरूपके । क्षरत्स्वेदविलीनत्व - कथाऽपि वपुषः कुतः? ॥४॥

दर्पएा मे प्रतिबिम्बत प्रतिबिम्ब की तरह स्वच्छ ग्रापके देह मे से निकलते पसीने से व्याप्त हो ऐसी बात भी कहां से हो सकती है ? (४)

न केवल रागमुक्तं, वीतराग ! मनस्तव । वपुः स्थित रक्तमपि, क्षीरघारासहोदरम् ॥ ॥ ॥ ॥

हे वीतराग ! केवल ग्रापका मन ही राग-रहित है ऐसी बात नही है, ग्रापके देह का रुधिर भी दूध की धारा के समान उज्ज्वल है, इवेत है। (४)

जगद्विलक्षण कि वा, तवान्यद्वक्तुमीश्महे ? । यदविस्रमबीभत्सं, शुभ्र मांसमिप प्रभो ! ।।६।।

ग्रथवा हे प्रभु । जगत् से विलक्षरा ग्रापका हम ग्रन्य कितना वर्णन करने में समर्थ हो सकते है ? क्योकि ग्रापका मास भी दुर्गन्ध-विहीन-दुर्गञ्छा-विहीन तथा उज्ज्वल है। (६)

जलस्थलसमुद्मूता, संत्यज्य सुमनः स्रजः। तव निःश्वाससौरम्य - मनुयान्ति मधुन्नता ॥७॥

जल-थल मे उत्पन्न पुष्प-मालाग्रो का त्याग करके भौरे श्रापके नि श्वास की सौरभ लेने के लिये श्रापके पीछे ग्राते है। (७)

> लोकोत्तरचमत्कार - करी तव भवस्थितिः । यतो नाहारनीहारौ, गौचरश्चर्मचक्षुषाम् ॥ ।। । ।।

श्रापका ससार मे निवास लोकोत्तर चमत्कार (श्रपूर्व श्राइचर्य) उत्पन्न करने वाला है, क्योंकि श्रापके श्राहार एव नीहार चर्म-चक्षु वालों के लिये श्रगोचर हैं, श्रदृश्य हैं। (८)

तीसरा प्रकाश

सर्वाभिमुख्यतो नाथ ।, तीर्थकृन्नामकर्मजात् । सर्वथा सम्मुखीनस्त्वमानन्दयसि यत्प्रजाः ॥१॥

हे नाथ । तीर्थंकर नामकर्म जिनत "सर्वाभिमुख्य" नामक अतिशय से, केवल-ज्ञान के प्रकाश से सर्वथा समस्त दिशाओं मे सम्मुख रहने वाले आप देव, मनुष्य आदि समस्त प्रजा को समस्त प्रकार से आनन्द प्रदान करते है। (१)

यद्योजनप्रमागोऽपि, धर्मदेशनसद्मिन । समान्ति कोटिशस्तिर्यग्नृदेवाः सपरिच्छदाः ॥२॥

धर्मदेशना की एक योजन भूमि मे अपने-श्रपने परिवार सहित करोडो तिर्यच, मनुष्य एव देवता समाविष्ट हो जाते हैं। (२)

> तेषामेव स्वस्वभाषा - परिणाममनोहरम् । श्रप्येकरूप वचन, यत्ते धर्मावबोधकृत् ॥३॥

त्रपनी-भ्रपनी भाषा मे एक समान ज्ञात हो जाने से आपके मनोहर वचन उन्हें धर्म का बोध कराने वाले है। (३)

> साग्रेऽपि योजनशते, पूर्वोत्पन्नाः गदाम्बुदाः । यदञ्जसा विलोयन्ते, त्वद्विहारानिलोमिभिः ॥४॥

श्रापके विहार रूपी वायु की लहरों से सवा सी योजन के क्षत्र में पूर्वीत्पन्न रोग रूपी बादल तुरन्त विलीन हो जाते है। (४)

नाविर्भवन्ति यद्भूमौ, मूषकाः शलभाः शुकाः । क्षरोन क्षितिप्रक्षिप्ता, ग्रनीतय इवेतय ॥५॥

राजाओं द्वारा परित्यक्त अनीतियों की तरह भूमि में मूषक (चूहे) शलभ (टिड्डी) और पोपट आदि के उपद्रव क्षणभर में नष्ट हो जाते हैं। (४)

स्त्रीक्षेत्रपद्रादिभवो, यद्वैराग्निः प्रशाम्यति । त्वत्कृपापुष्करावर्त्तवर्षादिव भवस्तले ॥६॥

श्रापकी कृपा रूपी पुष्करावर्त्त मेघ (बादलो) की वृष्टि से ही मानो श्राप जहा चरण रखते है वहाँ स्त्री, क्षेत्र एव नगर श्रादि से उत्पन्न द्वेष रूपी श्रग्नि का शमन हो जाता है। (६)

तत्प्रभावे भुवि भ्राम्यत्यशिवोच्छेदडिण्डिमे। सम्भवन्ति न यन्नाथ[।], मारयो भुवनारय ॥७॥

हे नाथ । ग्रशिव का उच्छेद करने के लिये डिम-डिम नाद के समान ग्रापका प्रभाव भूमि पर होने से लोक-शत्रु तुल्य महामारी, मरकी ग्रादि उपद्रव उत्पन्न नहीं होते। (७)

कामवर्षिरिंग लोकानां, त्विय विश्वैकवत्सले । स्रतिवृष्टिरवृष्टिर्वा, भवेद्यन्नोपतापकृत् ॥ ५॥

लोक-कामित की वृष्टि करने वाले श्रद्वितीय विश्ववत्सल श्रापके विद्यमान होने से परितापकारी श्रतिवृष्टि श्रथवा श्रनावृष्टि नहीं होती। (८)

स्वराष्ट्र-परराष्ट्रेभ्यो, यत्क्षुद्रोपद्रवा द्रुतम्। विद्ववन्ति त्वत्प्रभावात्, सिहनादादिव द्विपाः ॥६॥

जिस प्रकार सिह-नाद से हाथी भाग जाते है उसी प्रकार से स्वराष्ट्र एव पर-राष्ट्र से उत्पन्न क्षुद्र उपद्रव श्रापके प्रभाव से तुरन्त नष्ट हो जाते है। (१) यत्क्षीयते च दुर्भिक्ष, क्षितौ विहरति त्विय । सर्वाद्भुतप्रभावाद्ये, जङ्गमे कल्पपादपे ॥१०॥

समस्त प्रकार के ग्रद्भुत प्रभावशाली जगम कल्पवृक्ष के समान ग्रापके पृथ्वी पर विचरण करने से दुर्भिक्ष समाप्त हो जाता है। (१०)

> यन्मूर्ध्नः पश्चिमे भागे, जितमार्तण्डमण्डलम् । माऽमूद्वपुर्दुं रालोकमितीवोत्पिण्डत महः ॥११॥

त्रापके देह के दर्शन में रुकावट न हो उसके लिये ही मानो सुर-श्रसुरों ने श्रापके मस्तक के पीछे एक स्थान पर ही एकत्रित किए हुए श्राप के देह का ही मानो महातेज न हो ऐसे सूर्य-मण्डल से भी श्रधिक तेजस्वी तेज का मण्डल-भामण्डल स्थापित किया हुआ है। (११)

स एव योगसाम्राज्य - महिमा विश्वविश्वतः।
कर्मक्षयोत्थो भगवन्कस्य नाश्चर्यकारग्गम्? ॥१२॥
हे भगवन् । घाती कर्म के क्षय से उत्पन्न विश्व-विख्यात योग साम्राज्य की महिमा भला किसे ग्राश्चर्य-चिकत नहीं करती ? (१२)

> श्रनन्तकालप्रचित - मनन्तमिष सर्वथा । त्वत्तो नान्य कर्मकक्षमुन्मूलयित मूलतः ॥१३॥

श्रनन्त काल से उपाजित श्रनन्त कर्म-वन का श्रापके सिवाय श्रन्य कोई भी मूलोच्छोदन करने मे समर्थ नही है। (१३)

> तथोपाये प्रवृत्तस्त्व, क्रियासमभिहारतः। यथानिच्छन्नुपेयस्य, परा श्रियमशिश्रियः ॥१४॥

हे प्रभु ¹ चारित्र रूपी उपाय मे बार वार के श्रम्याम से श्राप उस प्रकार से प्रवृत्त हुए हैं जिससे श्रनिच्छा से भी मोक्ष रूपी उत्कृष्ट लक्ष्मी श्रापने प्राप्त की है। (१४)

मैत्रीपवित्रपात्राय, मुदितामोदशालिने ।
फुपोपेक्षाप्रतीक्षाय, तुभ्य योगात्मने नमः ।।१४।।
मैत्री भावना के पवित्र पात्र स्वरूप, प्रमोद भावना के द्वारा
सुशोभित तथा करुए। एव मध्यस्थ भावना के द्वारा पूजनीय ग्राप योगात्मा
(योग स्वरूप) को नमस्कार हो । (१४)

चौथा प्रकाश

मिथ्यादृशां युगान्तार्कः सुदृशाममृताञ्जनम् । तिलक तीर्थकुल्लक्ष्म्याः, पुरश्चक्कं तवैधते ॥१॥

मिथ्याद्दियों के लिये प्रलयकालीन सूर्य समान तथा सम्यग्-दृष्टियों के लिये अमृत के अञ्जन समान शान्ति-दायक, तीर्थकर की लक्ष्मी के तिलक-स्वरूप हे प्रभु । आपके आगे धर्मचक्र सुशोभित हो रहा है। (१)

> एकोऽयमेव जगति, स्वामीत्याख्यातुमुच्छ्ता । उच्चेरिन्द्रघ्वजव्याजात्तर्जनी जम्भविद्विषा ॥२॥

"जगत में वोतराग ही एक स्वामी है"—यह कहने के लिये इन्द्र ने ऊचे इन्द्रध्वज के बहाने अपनी तर्जनी अगुली ऊची की हो ऐसा प्रतीत होता है। (२)

यत्र पादौ पदं धत्तस्तव तत्र सुरासुराः। किरन्ति पङ्कजन्याजान्छिष्यं पङ्कजनासिनीम्।।३।।

जहा श्रापके दो चरण पडते हैं वहा देव एव दानवे स्वर्ण कमल के वहाने कमल मे निवास करने वाली लक्ष्मी का विस्तार करते हैं। (३)

दानशीलतपोभाव - भेदाद्धर्मं चतुर्विधम्। मन्ये युगपदाख्यातुं, चतुर्ववत्रोऽभवद् भवान्।।४।।

मैं यह मानता हू कि दान, शील, तप श्रीर भाव के भेद से चार प्रकार का धर्म एक साथ स्पष्ट करने के लिये ही श्राप चार मुह युक्त हुए है।(४)

> त्विय दोषत्रयात् त्रातुं, प्रवृत्ते भुवनत्रयीम् । प्राकारत्रितय चक्रुस्त्रयोऽपि त्रिदिवीकसः ॥४॥

तीनो लोको को राग, द्वेप तथा मोह रूपी तीनो दोषो से बचाने के लिये आपके प्रवृत्त होने से वैमानिक, ज्योतिषी और भुवनपति तीन प्रकार के देवो ने रत्नमय, स्वर्णमय एव रजतमय तीन प्रकार के किलो (समवसरएा) की रचना की है। (५)

ग्रघोमुखा कण्टका स्युषित्रया विहरतस्तव। भवेयुः सम्मुखोनाः किं, तामसास्तिग्मरोचिषः ?॥६॥ श्रापके पृत्वी पर विचरण करने से काटे श्रघोमुखी हो जाते है। वया सूर्योदय होने पर उलूक श्रयवा श्रघकार का ममूह ठहर सकता है ? (६)

> केशरोमनखश्मश्रु, तवावस्थितमित्ययम् । बाह्योऽपि योगमहिमा, नाप्तस्तीर्थकरैः परे ।।७।।

श्रापके वाल, रोम, नाखून श्रौर दाढी-मूछो के बाल, दीक्षा ग्रहरण करने के समय जितने होते हैं उतने ही रहते हैं। इस प्रकार की बाह्य योग की महिमा भी श्रन्य देवों ने प्राप्त नहीं की। (७)

> शब्दरूपरसस्पर्श-गन्धाख्याः पञ्च गोचराः। भजन्ति प्रातिकृत्य न, त्वदग्रे तार्किका इव ॥५॥

श्रापके समक्ष अन्य (बौद्ध) तार्किको की तरह शब्द, रूप, रस, स्पर्श श्रीर गन्ध रूप पाचो इन्द्रियो के विषय प्रतिकूल नहीं होते, अनुकूल रहते हैं। (८)

> त्वत्पादावृतवः सर्वे, युगपत्पर्यु पासते । श्राकालकृतकन्दर्प – साहायकभयादिव ।।६।।

मानो अनादि काल से कामदेव को की गई सहायता के भय से ही समस्त ऋतुयें एक साथ आकर आपके चरणो की सेवा करती हैं। (६)

सुगन्ध्युदकवर्षेग, दिन्यपुष्पोत्करेग च। भावित्वत्पादसस्पर्शां, पूजयन्ति भुव सुराः ॥१०॥

जिस भूमि पर भविष्य मे आपके चरगो का स्पर्ग होने वाला है जस भूमि को देवतागग सुगन्धित जल की वृष्टि से तथा दिव्य पुष्पो के समूह से पूजते हैं। (१०)

जगतप्रतीक्ष्य ! त्वां यान्ति, पक्षिग्गोऽपि प्रदक्षिग्गम् । का गतिर्महतां तेषा, त्विय ये वामवृत्तय ? ॥११॥

हे विश्व पूज्य । पक्षी भी ग्रापकी प्रदक्षिगा करते हैं, तो फिर ग्रापके प्रति प्रतिकूल व्यवहार करने वाले तथाकथित वडे पुरुषो की क्या गति समभी जाये ? (११)

पञ्चेन्द्रियाणां दौःशील्यं, वव भवेद् भवदन्तिके । एकेन्द्रियोऽपि यन्मुञ्चत्यनिलः प्रतिकूलताम् ॥१२॥

श्रापके समक्ष पचेन्द्रिय तो दुष्टता कर हो कैसे सकते है, क्योकि एकेन्द्रिय वायु भी श्रापके समक्ष प्रतिकूलता का त्याग कर देता है। (१२)

मूर्ध्ना नमन्ति तरवस्त्वन्माहात्म्यचमत्कृताः । तत्कृतार्थं शिरस्तेषा, व्यर्थं मिण्यादृशां पुनः ।।१३।।

हे प्रभु! ग्रापके माहात्म्य से चमत्कृत वृक्ष भी ग्रापके समक्ष नत मस्तक होते हैं जिससे उनके मस्तक कृतार्थ हैं, किन्तु ग्रापके समक्ष नत मस्तक नहीं होने वाले मिथ्यात्वियों के मस्तक व्यर्थ हैं। (१३)

> जघन्यत कोटिसख्यास्त्वां सेवन्ते सुरासुरा । भाग्यसम्भारलभ्येऽर्थे, न मन्दा श्रप्युदासते ॥१४॥

हे प्रभु ! जघन्य से एक करोड देव एव ग्रसुर श्रापकी सेवा करते है, क्यों कि भाग्योदय से प्राप्त पदार्थ के लिये मन्द ग्रात्मा भी उदासीन नहीं रहते। (१४)

पाचवा प्रकाश

गायन्तिवालिविरुतैर्नृ त्यन्निवचलैर्दलैः । त्वद्गुणैरिव रक्तोऽसौ, मोदते चैत्यपादपः ।।१।।

हे नाथ ! भीरो के गुञ्जन से मानो गीत गाता हो, चचल पत्तो के द्वारा मानो नृत्य करता हो तथा ग्रापके गुगो से मानो रक्त हुग्रा हो उस प्रकार से यह ग्रगोक वृक्ष प्रफुल्लित हो रहा है। (१)

श्रायोजनं सुमनसोऽधस्तान्निक्षिप्तवन्धना । जानुदध्नीः सुमनसो, देशनोर्च्या किरन्ति ते ॥२॥

हे नाथ । एक योजन तक जिनके दीटडे नीचे हैं ऐसे जानु प्रमाण पुष्पो को देवतागरा ग्रापकी देशना भूमि पर वरसाते है। (२)

स्पृहयन्ति वद् योगाय, यत्तेऽपि लवसत्तमा । योग-मुद्रादरिद्राणा, परेषा तत्कर्यव का ? ॥४॥

श्रापके योग की स्पृहा लवसप्तम श्रनुत्तर विमानवासी देव भी करते हैं। योग-मुद्रा से रहित पर-दार्शनिको मे उस योग की वात भी क्यो हो ? नहीं होगी। (४)

> त्वां प्रपद्यामहे नाथ, त्वा स्तुमस्त्वामुपास्महे। त्वत्तो हि न परस्त्राता, कि बूमरेकिमु कुर्महे ।।।।।।

श्रापको हम नाथ के रूप मे स्वीकार करते हैं, श्रापकी हम स्तुति करते हैं श्रीर श्रापकी हम उपामना करते हैं, क्योंकि श्रापसे श्रिषक श्रन्य कोई हमारा रक्षक नहीं है, श्रापकी स्तुति से श्रिष्ठक श्रन्य कुछ भी बोलने योन्य नहीं है श्रीर श्रापकी उपासना से श्रिष्ठक श्रन्य कुछ भी करने योग्य नहीं है। (५)

> स्वय मलीमसाचारै , प्रतारणपरे परैः। वञ्च्यते जगदण्येतत्कस्य पूरकुर्महे पुरः ? ॥६॥

स्वय मिलन भ्राचार वाले और पर को ठगने में तत्पर भ्रन्य देवों के द्वारा यह विश्व ठगा जा रहा है। हे नाथ । हम किसके समक्ष जाकर पुकार करें ? (६)

नित्यमुक्तान् जगज्जन्म -क्षेमक्षयकृतोद्यमान् । वन्ध्यास्तनन्धयप्रायान्, को देवारचेतनः श्रयेत् ॥७॥

नित्य मुक्त एव जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय करने मे प्रयत्नशील वन्ध्या (वाभः) के पुत्र के समान देवों का कौन सचेतन व्यक्ति ध्राश्रय ग्रहण करेगा ? (७)

> फ़तार्था जठरोपस्य -दु स्थितरिप दैवतैः। भवादृशान्तिह्नुवते, हा हा ? देवास्तिकाः परे।। ।।।।

जठर (उदर) एव उपस्य (इन्द्रियवर्ग) से पीडित देवी से कृतकृत्य वने सन्य देव - ग्रास्तिक चुतीयिक ग्राप जैसे का ग्रपनाप करते है, जो सचमुच ग्रत्यन्त दुख का विषय है। (८)

जिन भक्ति]

वृद्धि होती हुई ग्रापकी पुण्य ऋद्धि के कम के समान एक दूसरे पर ग्राये हुए तीन छत्र मानो तीनो लोको मे छाई हुई ग्रापकी प्रभुता की प्रीढता बता रहे है। (८)

> एतां चमत्कारकरीं, प्रातिहार्यश्रिय तव। चित्रीयन्ते न के दृष्ट्वा, नाथ! मिण्यादृशोऽपि हि ।।६।।

हे नाथ । चमत्कारपूर्ण ग्रापकी इस प्रातिहार्य लक्ष्मी को देखकर किन मिथ्यात्वियो को ग्राश्चर्य नही होता ? ग्रर्थात् सभी को ग्राश्चर्य होता है। (१)

छठा प्रकाश

लावण्यपुण्यवपुषि, त्विय नेत्रामृताञ्जने । माध्यस्थ्यमपि दौ:स्थ्याय, कि पुनद्वेषविष्लव ।।१।।

नेत्रों के लिये ग्रमृत के ग्रञ्जन के समान ग्रीर लावण्य से पितत्र देह वाले ग्रापके लिये मध्यस्थता धारण करना भी दु ख के लिये है, तो फिर द्वेष भाव धारण करने वालों के लिये तो कहना ही क्या ? (१)

> तवापि प्रतिपक्षोऽस्ति, सोऽपि कोपादिविष्लुतः । श्रनया किवदन्त्याऽपि, कि जीवन्ति विवेकिनः ।।२।।

श्रापके भी प्रतिपक्षी (शत्रु) है श्रौर वे भी कोध श्रादि से व्याप्त है। इस प्रकार की किंवदन्ति (कुत्सित बात) सुनकर विवेकी पुरुष क्या प्राण धारण कर सकते हैं किदापि नहीं। (२)

> विपक्षस्ते विरक्तश्चेत्, स त्वमेवाथ रागवान् । न विपक्षो विपक्षः कि, खद्योतो द्युतिमालिनः?।।३।।

श्रापका विपक्ष यदि विरक्त है तो वह श्राप ही हैं श्रीर यदि रागी है तो वह विपक्ष ही नही है। वया सूर्य का शत्रु (विपक्ष) खद्योत (जुगन्) हो सकता है ? (३)

स्पृहयन्ति वद् योगाय, यत्तेऽपि लवसत्तमा । योग-मुद्रादरिद्राणां, परेषा तत्कथैव का ? ॥४॥

त्रापके योग की स्पृहा लवसप्तम त्रनुत्तर विमानवासी देव भी करते हैं। योग-मुद्रा से रहित पर-दार्शनिको मे उस योग की बात भी क्यों हो ? नहीं होगी। (४)

स्वा प्रपद्यामहे नाथं, त्वां स्तुमस्त्वामुपास्महे। त्वत्तो हि न परस्त्राता, किं बूमः? किंमु कुर्महे[?]॥४॥

श्रापको हम नाथ के रूप में स्वीकार करते हैं, श्रापकी हम स्तुति करते हैं और श्रापकी हम उपासना करते हैं, क्यों कि श्रापसे श्रधिक अन्य कोई हमारा रक्षक नहीं है, श्रापकी स्तुति से श्रधिक श्रन्य कुछ भी बोलने योन्य नहीं है श्रीर श्रापकी उपासना से श्रधिक श्रन्य कुछ भी करने योग्य नहीं है। (१)

> स्वय मलीमसाचारे , प्रतारणपरे परेः। बञ्च्यते जगदप्येतत्कस्य पूरकुर्महे पुरः ?।।६।।

स्वय मिलन प्राचार वाले ग्रीर पर को ठगने मे तत्पर अन्य देवो के द्वारा यह विश्व ठगा जा रहा है। हे नाथ हिम किसके समक्ष जाकर पुकार करे ?(६)

नित्यमुक्तान् जगज्जन्म -क्षेमक्षयकृतोद्यमान् । वन्ध्यास्तनन्धयप्रायान्, को देवाश्चेतन श्रयेत् ॥७॥

नित्य मुक्त एव जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय करने मे प्रयत्नशोल वन्ध्या (वाभ) के पुत्र के समान देवो का कौन सचेतन व्यक्ति प्राश्रय ग्रह्श करेगा ? (७)

कृतार्था जठरोपस्य -दु स्थितरपि दैवतै । भवादृशान्निह्नुवते, हा हा ? देवास्तिका. परे ॥ ॥

जठर (उदर) एव उपस्थ (इन्द्रियवर्ग) से पीडित देवो से कृत्कृत्य वने भ्रन्य देव - भ्रास्तिक कुतीर्थिक भ्राप जैसे का श्रपलाप करते है, जो सचमुच भ्रत्यन्त दुख का विषय है। (८)

खपुष्पप्रायमुत्प्रेक्ष्य, किञ्चिन्मानं प्रकल्प्य च । संमान्ति देहे गेहे वा, न गेहेर्नीदन परे ॥६॥

श्राकाश के पुष्प के समान किसी वस्तु की कल्पना करके श्रीर उसे सिद्ध करने के लिये किसी प्रमाण को प्रस्तुत करके घर मे शूरवीर (गेहेनर्दी) परतीथिक श्रपने देह मे श्रथवा घर मे समाते नहीं हैं श्रर्थात् हमारा ही धर्म श्रेष्ठ है यह मानकर व्यर्थ फूलते है। (६)

कामराग-स्नेहरागा –वीषत्करनिवारगौ। दृष्टिरागस्तु पापीयान्, दुरूच्छेदः सतामपि ॥१०॥

काम-राग एव स्नेह-राग का निवारण सुकर है, किन्तु पापी दृष्ट-राग सज्जन पुरुषों के लिये भी दुरुच्छेद है। (१०)

प्रसन्नमास्यं मध्यस्थे, दृशौ लोकम्पृग्गं वचः। इति प्रोतिपदे बाढं, मूढास्त्वय्यप्युदासते ॥११॥

प्रसन्न मुख, मध्यस्थ लोचन ग्रीर लोकप्रिय वचनो के धारक ग्रत्यन्त प्रेम के स्थान स्वरूप श्रापके विषय मे भी मूढ लोग उदासीन रहते हैं।(११)

> तिष्ठेद्वायुर्द्रवेदद्रि -ज्वंलेज्जलमपि क्वचित्। तथापि ग्रस्तो रागाद्यं -निष्तो भवितुमहंति।।१२॥

कदाचित् वायु स्थिर हो जाये, पर्वत पिघल जाये श्रीर जल जाज्वल्यमान हो जाये, तो भी राग ग्रादि से ग्रस्त पुरुष श्राप्त होने के योग्य नहीं है। (१२)

सातवा प्रकाश

धर्माधर्मो विना नाङ्गं, विनाङ्गोन मुखं कुतः। मुखाद्विना न वक्तृत्वं, तच्छास्तारः परे कथम् ? ॥१॥

धर्म श्रौर श्रधर्म विहीन देह नही होता, देह के बिना मुह नहीं होता श्रौर मुह के बिना वाणी नहीं होती। तो फिर धर्म, श्रधर्म श्रौर देह श्रादि से रहित श्रन्य देव उपदेशक कैसे हो सकते है ? (१)

श्रदेहस्य जगत्सर्गे, प्रवृत्तिरिप नोचिता । न च प्रयोजन किंचित्, स्वातन्त्र्या(त्र्या)न्न पराज्ञया ॥२॥

देह रहित के लिये जगत् का सृजन करने की प्रवृत्ति भी उचित नहीं है, कृतकृत्य होने से सृजन करने का कोई प्रयोजन नहीं है और स्वतन्त्र होने से दूसरे की ग्राज्ञा पर भी चलना नहीं है। (२)

> क्रोडया चेत्प्रवर्तेत, रागवान् स्यात कुमारवत् । कृपयाऽय सृजेर्त्ताह, सुख्येव सकल सृजेत् ॥३॥

कीडा के लिये यदि प्रवृत्त हो तो वालक को तरह रागी सिद्ध होगा श्रीर यदि कृपा से करे तो समस्त जगत् को सुखी ही करे। (३)

> दु खदौर्गत्यदुर्योनि -जन्मादिक्लेशविह्वलम् । जन तु सृजतस्तस्य, कृपालो का कृपालुता ? ॥४॥

दु ख, दुर्गति ग्रौर दुष्ट योनियो मे जन्म ग्रादि के क्लेश से विह्वल जगत् का सृजन करने वाले उस कृपालु की कृपा कहा रही ? (४)

> कर्मापेक्षः स चेत्तर्हि, न स्वतन्त्रोऽस्मदादिवत् । कर्मजन्ये च वैचित्र्ये, किमनेन शिखण्डिना ? ॥॥॥

दु ख म्रादि देने मे यदि वह प्राणियों के कर्म की म्रपेक्षा रखता है तो वह हमारी-तुम्हारी तरह स्वतन्त्र नहीं है, यही सिद्ध होता है भ्रीर जगत् की विचित्रता यदि कर्म - जिनत है तो शिखण्डी की तरह उसको बीच में लाने की भी क्या भ्रावश्यकता है ? (५)

> श्रय स्वभावतो वृत्ति -रवितक्या महेशितु । परीक्षकाणा तह्येष, परीक्षाक्षेपष्टिण्डिमः ॥६॥

श्रीर यदि महेरवर की यह प्रवृत्ति न्वभाव से ही है किन्तु तर्क करने योग्य नहीं है, इस प्रकार कहोंगे तो वह परीक्षवों को परीक्षा करने का निषेध करने के लिये टोल वजाने के समान है। (६)

> सर्वभावेषु कर्तृत्व, ज्ञातृत्व यदि सम्मतम्। मत नः सन्ति सर्वज्ञा, मुक्ता कायभृतोऽपि च ॥७॥

समस्त पदार्थों का ज्ञातृत्व ही यदि कर्तृत्व है तो उस बात से हम भी सहमत हैं, क्योंकि हमारा यह मत है कि सर्वज्ञ, मुक्त-देह रहित (सिद्ध) है श्रीर देहधारी (ग्ररिहन्त) भी है। (७)

सृष्टियादकुहेवाक -मुन्मुच्यत्यप्रमाणकम् । त्वच्छासने रमन्ते ते, येषां नाथ ! प्रसीदसि ॥ ।। ।।

हे नाथ ! जिनके ऊपर ग्राप प्रसन्न हैं, वे ग्रात्मा प्रमारा रहित सृष्टिवाद का दुराग्रह छोड कर ग्रापके शासन मे रमरा करते है। (८)

श्राठवा प्रकाश

सत्त्वस्येकान्तिनित्यत्वे, कृतनाशाकृतागमौ । स्यातामेकान्तनाशेऽपि, कृतनाशाकृतागमौ ॥१॥

पदार्थ की एकान्त नित्यता मानने में कृतनाश एव अकृतागम नामक दो दोष है। एकान्त अनित्यता मानने में भी कृतनाश एव अकृतनाश नामक दो दोष विद्यमान है। (१)

> श्रात्मन्येकान्तनित्ये स्यान्न भोगः सुखदु खयोः । एकान्तानित्यरूपेऽपि, न भोगः सुखदुःखयो ॥२॥

ग्रातमा को एकान्त नित्य मानने मे सुख - दु ख का भोग घटता नहीं है। एकान्त ग्रनित्य स्वरूप मानने मे भी सुख - दु ख का भोग घटता नहीं है। (२)

> पुण्यपापे बन्धमोक्षी, न नित्येकान्तदर्शने। पुण्यपापे बन्धमोक्षी, नानित्येकान्तदर्शने॥३॥

एकान्त नित्य दर्शन मे पुण्य - पाप ग्रौर बन्ध - मोक्ष घटते नही है। एकान्त ग्रनित्य दर्शन मे भी पुण्य - पाप ग्रौर बध-मोक्ष घटते नहीं हैं। (३)

> क्रमाक्रमाभ्यां नित्यानां, युज्यतेऽर्थक्रिया न हि । एकान्तक्षरणकत्वेऽपि, युज्यतेऽर्थक्रिया न हि ॥४॥

नित्य पदार्थों मे क्रम से अयवा विना कर से अर्थ-किया घटती नहीं है श्रीर एकान्त क्षिएक पक्ष में भी कम से अयवा कम के बिना अर्थिकया घटती ही नहीं है। (४)

> यदा तु नित्यानित्यत्व -रूपता वस्तुनो भवेत्। यथार्थं भगवन्नेच, तदा दोषोऽस्ति कश्चन।।॥।।

हे भगवन् । ग्रापके कथनानुसार यदि वस्तु की नित्यानित्यता हो तो किमी भी प्रकार का दोष नही ग्राता है। (४)

गुडो हि कफहेतुः स्यान्नागर पित्तकारणम् । द्वयात्मनि न दोषोऽस्ति, गुडनागरभेषजे ।।६।।

गुड में कफ उत्पन्न होता है ग्रीर सीठ से पित्त होता है। जब गुड ग्रीर सीठ मिश्रित कर ली जायें तब दोष नहीं रहता, किन्तु भेषज(भ्रीषिध) स्वरूप हो जाता है। (६)

> द्वय विरुद्धं नैकत्राऽसत्प्रमाराप्रसिद्धितः । विरुद्धवर्णयोगो हि, दृष्टो मेचकवस्तुषु ॥७॥

इसी प्रकार से एक वस्तु में नित्यत्व एव श्रनित्यत्व दो विरुद्ध धर्मी का रहना भी विरुद्ध नहीं है। प्रत्यक्ष ख्रादि किसी भी प्रमाण से उसमें विरोध सिद्ध नहीं हो सकता, वयोकि मेचक (कावडचीती) वस्तुख्रों में विरुद्ध वर्णी का सयोग प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है। (७)

> विज्ञानस्यैकमाकार, नानाकारकरम्बितम् । इच्छस्तथागतः प्राज्ञो, नानेकान्त प्रतिक्षिपेत् ॥ । ।।

विचित्र श्राकार रहित विज्ञान एक ग्राकार वाला है। यह स्वीकार करने वाला प्राज्ञ बौद्ध भी श्रनेकान्तवाद का उत्यापन नहीं कर सकता। (=)

> चित्रमेकमनेक च, रूपं प्रामाणिक बदन्। योगो वैशेषिको वाऽपि, नानेकान्त प्रतिक्षिपेत् ॥६॥

एक चित्ररप, प्रनेक रा युक्त प्रमाण सिद्ध है यह कहने वाला योग समया वैगेषिक भ्रनेकान्तवाद का उत्यापन नहीं कर सकता। (६)

श्निभक्ति]

इच्छन्प्रधानं सत्त्वाद्यं विरुद्धं गुँम्फितं गुर्गैः । साख्यः संख्यावतां मुख्यो, नानेकान्तं प्रतिक्षिपेतु ॥१०॥

सतोगुरा, रजोगुरा म्रादि विरुद्ध गुराो से गुम्कित एक प्रधान (प्रकृति) का चाहक विद्वानों में मुख्य साख्य भी म्रनेकान्तवाद का उत्थापन नहीं कर सकता । (१०)

विमतिस्सम्मतिर्वापि, चार्वाकस्य न मृग्यते । परलोकात्ममोक्षेषु , यस्य मुह्यति शेमुबी ।।११।।

परलोक, त्रात्मा त्रौर मोक्ष ग्रादि प्रमाएा सिद्ध पदार्थों के विषय में भी जिसकी मित उदासीन है ऐसे चार्वाक नास्तिक की विमिति है ग्रथवा सम्मित है यह देखने की तिनक भी ग्रावश्यकता नहीं है। (११)

तेनोत्पाद्व्ययस्थेम - सम्मिश्रं गोरसादिवत् । त्वदुपज्ञ कृतिधयः, प्रपन्ना वस्तुतस्तु सत्।।१२।।

उस कारण से बुद्धिमान पुरुष समस्त सत् पदार्थों को आपके कथनानुसार गोरस आदि की तरह उत्पाद व्यय श्रीर श्रीव्य से मिश्रित मानते है। (१२)

नवा प्रकाश

यत्राऽल्पेनाऽपि कालेन, त्वद्भक्तेः फलमाप्यते । कलिकालः स एकोऽस्तु, कृतं कृतयुगादिभिः ॥१॥

जहा ग्रत्पकाल मे ग्रापकी भक्ति का फल प्राप्त किया जा सकता है वह केवल एक कलियुग हो स्पृह्गाय हो, कृतयुग ग्रादि ग्रन्य युगो को जाने दो। (१)

सुषमातो दुषमायां, कृपा फलवती तव। मेरुतो मरुभूमौ हि, श्लाघ्या कल्पतरोः स्थितिः॥२॥

सुषम काल की अपेक्षा दुषम किलकाल मे आपकी कृपा अधिक फलवती है। मेरु पर्वत की अपेक्षा मरुभूमि में कल्पवृक्ष की स्थिति अधिक प्रशसनीय है। (२)

श्राद्ध श्रोता सुधीर्वक्ता, युज्येयाता यदीश ! तत् । त्वच्छासनस्य साम्राज्य –मेकच्छत्र कलावपि ॥३॥

हे ईग । श्रद्धावान श्रोता एव वृद्धिमान वक्ता दोनो का योग हो जाये तो इम कलियुग मे भी ग्रापके शासन का एकछत्र साम्राज्य है। (३)

> युगान्तरेऽपि चेन्नाय! भवन्तयुच्छृह्मलाः खला । वृथेव तहि कुप्यामः, कलये वामकेलये।।४।।

हे नाय ग्रन्य कृतयुग ग्रादि मे भी गोशाला जैसे उच्छृ खल व्यक्ति होते है तो फिर ग्रयोग्य कीडा वाले इस कलियुग के ऊपर हम व्यर्थ ही कुपित होते हैं। (४)

> कल्याणसिद्धः साधीयान् कलिरेव कषोपलः। विनाऽग्नि गन्धमहिमा, काकतुण्डस्य नैधते।।।।।

कल्याण की सिद्धि के लिये इस कलियुग रूपी कसौटी का पत्थर ही श्रेष्ठ है। ग्राग्न के बिना काकतुण्ड (श्रगर) धूप के गन्ध की महिमा मे वृद्धि नही होती। (१)

निशि दीपोऽम्बुषौ द्वोप, मरौ शाखी हिमे शिखी । फलो दुरापः प्राप्तोऽय, त्वत्पादाव्जरजः कराः ॥६॥

रात्रि में दीपक, सागर में द्वीप, मरु-भूमि मे वृक्ष और शीतकाल में श्राप्त की तरह कलियुग मे दुर्लभ श्रापके चरण-कमलो की रज हमें प्राप्त हुई हैं। (६)

युगान्तरेषु भ्रान्तोऽस्मि, त्वद्दर्शनविना कृत । नमोऽस्तु कलये यत्र, त्वद्दर्शनमजायत ॥७॥

हे नाध । भ्रन्य युगो मे भ्रापके दर्शन किये विना ही मैने ससार में परिभ्रमण किया है। भ्रत इस कलियुग को ही नमस्कार है कि जिस में मुक्ते श्रापके दर्शन हुए। (७)

बहुदोषो दोषहीनात्त्वत कलिरशोभत । विषयुक्तो विषहरात्फणोन्द्र इव रत्नतः ॥ । । । ।

हे नाय । विपाक्त (विपेका) विपधर जिस प्रकार विपहारी रतन से सुमोभित होता है, उसी प्रकार से श्रनेक दोषों से युक्त यह कलियुग समस्त दोषों से रहित श्रापसे सोभायमान है। (=)

सर्वथा निजिगीषेगा, भीतभीतेन चागसः । त्वया जगत्त्रयं जिग्ये, महतां कापि चातुरी ॥३॥

हे नाथ ! सर्वथा जीतने की ग्रनिच्छा होने पर भी तथा पाप से ग्रत्यन्त भयभीत होते हुए भी ग्रापने तीनो लोको को जीत लिया है। सच-मुच महान ग्रात्माग्रो की चतुराई कोई ग्रद्भुत ही होती है। (३)

> दत्त न किञ्चित्कस्मैचित्रात्तं किञ्चित्कुतश्चन । प्रभुत्वं ते तथाप्येतत्, कला कापि विपश्चिताम् ॥४॥

हे नाथ । स्रापने किसी को कुछ (राज्य स्रादि) दिया नहीं सौर किसी से कुछ (दण्ड स्रादि) लिया नहीं, तो भी स्रापका यह प्रभुत्व है जिससे यह लगता है कि कुशल पुरुषों की कला कोई स्रद्भुत होती है। (४)

> यद्देहस्यापि दानेन, सुक्रतं नाजित परै । उदासीनस्य तन्नाथ ¹, पादपीठे तवालुठत् ॥५॥

हे नाथ । देह का दान देकर भी अन्यों ने जो सुकृत नहीं कमाया, वह सुकृत उदातीनता से रहने वाले आपके पादपीठ में लेटता रहा। (५)

> रागादिषु न्शसेन, सर्वात्मसु कृपालुना । भीमकान्तगुर्गोनोच्चैः, साम्राज्यं साधितं त्वया ॥६॥

हे नाथ । राग ग्रादि के प्रति कूर एव समस्त प्राणियों के प्रति द्यालु ग्रापने भयानकता तथा मनोहरता रूपी दो गुणों से महान् साम्राज्य प्राप्त कर लिया है। (६)

सर्वे सर्वात्मनाऽन्येषु, दोषास्त्विय पुनर्गुणाः । स्तुतिस्तवेयं चेन्मिण्या, तत्त्रमार्गं सभासदः ॥७॥

हे नाथ ! पर-तीथिको मे समस्त प्रकार के समस्त दोष हैं ग्रीर प्रापमे समस्त प्रकार से समस्त गुण है। यदि ग्रापकी यह स्तुति मिथ्या हो हो सभासद प्रमाण हैं। (७)

महोयसामि महान्, महनीयो महात्मनाम् । महो ! मे स्तुवतः स्वामी, स्तुतेर्गीचरमागमत् ॥ ॥ ॥

महो। हुर्ष की वात यह है कि वड़े से वड़े श्रीर महात्माश्रो द्वारा भी स्मेर सामी की श्राज में स्तुति कर रहा हूँ। (८)

द्वय विरुद्धं भगवंस्तव नान्यस्य कस्यचित् । निर्ग्रन्थता परा या च, या चोच्चैश्चक्रवतिता ॥६॥

हे भगवन् । श्रेष्ठ निर्ग्रन्थता (नि स्पृहता) ग्रीर उत्कृष्ट चक्रवितित्व (धर्म सम्राट् पदवी) ये दो विरुद्ध वार्ते ग्रापके ग्रतिरिक्त ग्रन्य किसी भी देव में नहीं है। (६)

> नारका भ्रपि मोदन्ते, यस्य कल्याणपर्वसु । पवित्र तस्य चारित्र, को वा वर्णायितु क्षमः? ।।७।।

ग्रथवा तो जिनके पाचो कल्याएक पर्वों में नारकीय जीव भी सुख प्राप्त करते हैं, उनके पवित्र चारित्र का वर्णन करने मे कौन समर्थ है। (७)

> शमोऽद्भुतोऽद्भुत रूप, सर्वात्मसु कृपाद्भुता । सर्वाद्भुतनिघीशाय, तुम्य भगवते नम ॥ ।। ।।

श्रद्भुत समता, श्रद्भुत रूप श्रीर समस्त प्राणियो पर श्रद्भुत कृपा करने वाले तथा समस्त श्रद्भुतो के महानिधान हे भगवन् । श्रापको नमस्कार हो। (८)

गयारहवा प्रकाश

निघ्नन्परीपहचमूमुपसर्गान् प्रतिक्षिपन् । प्राप्तोऽसि शमसोहित्य, महतां कापि वेदुषी ।।१।।

हे नाय । परीपहो की सेना का सहार करने वाले तथा उपसर्गों का तिरस्कार करने वाले थ्रापने समता रूपी श्रमृत की तृष्ति प्राप्त की है। धहो । वडो की चतुराई कुछ श्रद्भुत होती है। (१)

> घरक्तो मुक्तवान्मुक्ति -महिप्टो हतवान्द्विष. । घहो । महात्मना कोऽपि, महिमा लोकदुर्लभः ॥२॥

हे नाय । ग्राप राग-रहित है फिर भी मुक्ति-रमणी का उपभोग करते है श्रीर होप-रहित है फिर भी ग्राप ग्रातरिक रानुश्रो का सहार फरते हैं। ग्रहो । लोक में दुर्नभ महान ग्रात्माग्रो की महिमा कोई ग्रद्भृत हो होती है। (२)

दसवा प्रकाश

मत्त्रसत्तेस्त्वत्त्रसादस्त्वत्त्रसादादियं पुनः । इत्यन्योन्याश्रय भिन्धि, प्रसीद भगवन् ! मयि ॥१॥

हे भगवन् मेरी प्रसन्नता से आपकी प्रसन्नता और आपकी प्रसन्नता से मेरी प्रसन्नता इस प्रकार के अन्योन्याश्रय दोष का आप भेदन करें और मुभ पर प्रसन्न हो। (१)

निरीक्षितुं रूपलक्ष्मीं, सहस्राक्षोऽपि न क्षम । स्वामिन् ! सहस्रजिह्वोऽपि, शक्तो वक्तुं न ते गुर्णान् ॥२॥

हे स्वामी ! ग्रापके रूप की शोभा निहारने के लिये हजार नेत्रो वाला (इन्द्र) भी समर्थ नहीं है तथा ग्रापका गुरा-गान करने के लिये हजार जीभ वाला (शेष नाग) भी समर्थ नहीं है। (२)

सशयान् नाथ ! हरसेऽनुत्तरस्विगिगामिप । श्रतः परोऽपि कि कोऽपि, गुगा स्तुत्योऽस्ति वस्तुतः ॥३॥

हे नाथ ! ग्राप यहा है तो भी ग्रनुत्तर विमान-वासी देवताग्रो के सशय दूर करते है। ग्रत ग्रन्य कोई भी गुण वस्तुत परमार्थ से स्तुति करने योग्य है ? ग्रर्थात् नही है। (३)

इदं विरुद्धं श्रद्धता, कथमश्रद्द्धानकः !। ग्रानन्दं सुखसिवतश्च, विरक्तिश्च सम त्विय ॥४॥

श्रखण्ड श्रानन्द स्वरूप सुख मे श्रासक्ति एव सकल सग से विरक्ति ये दो विपरीत वाते श्रापमे एक साथ विद्यमान है। श्रश्रद्धालु मनुष्य इस वात की श्रद्धा कैसे करे ? (४)

नाथेयं घट्यमानापि, दुर्घटा घटतां कथम् ? । उपेक्षा सर्वसत्त्वेषु, परमा चोपकारिता ॥॥॥

हे नाय । समस्त प्राणियो से उपेक्षा (राग-द्वेप-रहितता) श्रीर परमोपकारिता (सम्यग् दर्शन ग्रादि मोक्ष मार्ग की उपदेशकता) ये दो वाते ग्राप में प्रत्यक्ष प्रतीत होती होने से घटित, फिर भी ग्रन्य देवो मे श्रघटित हो सकती है ? (५) द्वयं विरुद्धं भगवस्तव नान्यस्य कस्यचित् । निर्प्रन्थता परा या च, या चोच्चैश्चक्रवितता ॥६॥

हे भगवन् । श्रेष्ठ निर्ग्रन्थता (नि स्पृहता) ग्रीर उत्कृष्ट चक्रवितित्व (धर्म सम्राट् पदवी) ये दो विरुद्ध वातें ग्रापके ग्रतिरिक्त ग्रन्य किसी भी देव में नही है। (६)

> नारका श्रिप मोदन्ते, यस्य कल्याणपर्वसु । पवित्र तस्य चारित्र, को वा वर्णियतु क्षमः? ॥७॥

श्रयवा तो जिनके पाचो कल्याएक पर्वो मे नारकीय जीव भी सुख प्राप्त करते हैं, उनके पवित्र चारित्र का वर्णन करने मे कीन समर्थ है। (७)

> शमोऽद्भुतोऽद्भुत रूपं, सर्वात्मसु कृपाद्भुता । सर्वाद्भुतनिघीशाय, तुम्य भगवते नम ।। ८।।

श्रद्भृत समता, श्रद्भृत रूप श्रीर समस्त प्राणियो पर श्रद्भुत कृपा करने वाले तथा समस्त श्रद्भुतो के महानिधान हे भगवन् । श्रापको नमस्कार हो। (८)

गयारहवा प्रकाश

~ o —

निघ्नन्परीपहचमूमुपसर्गान् प्रतिक्षिपन् । प्राप्तोऽसि शमसोहित्यं, महतां कापि वैदुषी ।।१।।

हे नाथ । परोपहों की सेना का महार करने वाले तथा उपसर्गों का तिरस्कार करने वाले श्रापने समता रूपी श्रमृत की तृष्ति प्राप्त की है। श्रहों ! वडों की चतुराई कुछ श्रद्भुत होती है। (१)

> ग्ररक्तो भुक्तवानमुक्ति -महिट्टो हतवान्द्विपः । घहो । महात्मना कोऽपि, महिमा लोकदुर्लभः ॥२॥

हे नाय । श्राप राग-रिहत है फिर भी मुक्ति-रमणी का उपभोग करते हैं श्रोर द्वेप-रिहत हैं फिर भी श्राप श्रातिरक रात्रुश्रो का सहार करते हैं। घहो । लोक मे दुर्नभ महान श्रात्माथों की महिमा कोई श्रद्भुत ही होती है। (२)

दसवा प्रकाश

मत्प्रसत्तेस्त्वत्प्रसादस्त्वत्प्रसादादियं पुनः । इत्यन्योन्याश्रय भिन्धि, प्रसीद भगवन् ! मयि ॥१॥

हे भगवन् मेरी प्रसन्नता से आपकी प्रसन्नता और आपकी प्रसन्नता से मेरी प्रसन्नता इस प्रकार के अन्योन्याश्रय दोष का आप भेदन करे और मुभ पर प्रसन्न हो। (१)

निरीक्षितुं रूपलक्ष्मीं, सहस्राक्षोऽपि न क्षम । स्वामिन् ! सहस्रजिह्वोऽपि, शक्तो वक्तुं न ते गुर्णान् ॥२॥

हे स्वामी ! ग्रापके रूप की शोभा निहारने के लिये हजार नेत्रों वाला (इन्द्र) भी समर्थ नहीं है तथा ग्रापका गुरा-गान करने के लिये हजार जीभ वाला (शेष नाग) भी समर्थ नहीं है। (२)

संशयान् नाथ ! हरसेऽनुत्तरस्विगिगामिप । स्रतः परोऽपि किं कोऽपि, गुगा स्तुत्योऽस्ति वस्तुत ।।३।।

हे नाथ ! ग्राप यहा है तो भी ग्रनुत्तर विमान-वासी देवताग्रो के सशय दूर करते है। ग्रतः ग्रन्य कोई भी गुण वस्तुत परमार्थं से स्तुति करने योग्य है ? ग्रर्थात् नहीं है। (३)

इदं विरुद्धं श्रद्धतां, कथमश्रद्द्धानकः!। ग्रानन्दं सुखसवितश्च, विरक्तिश्च सम त्विय ॥४॥

श्रखण्ड श्रानन्द स्वरूप सुख मे श्रासक्ति एव सकल सग से विरक्ति ये दो विपरीत वाते श्रापमें एक साथ विद्यमान है। श्रश्रद्धालु मनुष्य इस वात की श्रद्धा कैसे करे ? (४)

नाथेयं घट्यमानापि, दुर्घटा घटताँ कथम् ? । उपेक्षा सर्वसत्त्वेषु, परमा चोपकारिता ॥ ॥।।

हे नाथ ! समस्त प्राणियो से उपेक्षा (राग-द्वेष-रहितता) और परमोपकारिता (सम्यग् दर्शन ग्रादि मोक्ष मार्ग की उपदेशकता) ये दो वाते ग्राप मे प्रत्यक्ष प्रतीत होती होने से घटित, फिर भी ग्रन्य देवो में ग्रघटित हो सकती है ? (५)

द्वयं विरुद्धं भगवस्तव नान्यस्य कस्यचित् । निर्ग्रन्थता परा या च, या चोच्चैश्चक्रवर्तिता ।।६।।

हे भगवन् । श्रेष्ठ निर्ग्रन्थता (नि स्पृहता) ग्रीर उत्कृष्ट चक्रवितत्व (धर्म सम्राट् पदवी) ये दो विरुद्ध बातें ग्रापके ग्रतिरिक्त ग्रन्य किसी भी देव मे नहीं है। (६)

नारका ग्रिप मोदन्ते, यस्य कल्याणपर्वसु । पवित्र तस्य चारित्रं, को वा वर्णियतुं क्षमः? ।।७।।

ग्रथवा तो जिनके पाचो कल्याणक पर्वों में नारकीय जीव भी सुख प्राप्त करते हैं, उनके पवित्र चारित्र का वर्णन करने में कौन समर्थ है। (७)

> शमोऽद्भुतोऽद्भुत रूपं, सर्वात्मसु कृपाद्भुता । सर्वाद्भुतनिधीशाय, तुम्य भगवते नम ।।८।।

ग्रद्भृत समता, ग्रद्भृत रूप ग्रौर समस्त प्राणियो पर ग्रद्भृत कृपा करने वाले तथा समस्त ग्रद्भृतो के महानिधान हे भगवन् । ग्रापको नमस्कार हो। (८)

गयारहवा प्रकाश

निघ्नन्परीषहचमूमुपसर्गान् प्रतिक्षिपन् । प्राप्तोऽसि शमसोहित्य, महतां कापि वैदुषी ।।१।।

हे नाथ । परीषहो की सेना का सहार करने वाले तथा उपसर्गों का तिरस्कार करने वाले ग्रापने समता रूपी ग्रमृत की तृप्ति प्राप्त की है। ग्रहो । बडो की चतुराई कुछ ग्रद्भुत होती है। (१)

> श्ररक्तो भुक्तवान्मुक्ति -मद्विष्टो हतवान्द्विष । श्रहो [!] महात्मना कोऽपि, महिमा लोकदुर्लभः ।।२।।

हे नाथ । ग्राप राग-रिहत हैं फिर भी मुक्ति-रमणी का उपभोग करते हैं श्रीर द्वेष-रिहत हैं फिर भी ग्राप ग्रातरिक शत्रुश्रो का सहार करते हैं। ग्रहो । लोक मे दुर्लभ महान ग्रात्माग्रो की महिमा कोई ग्रद्भुत ही होती है। (२)

सर्वथा निजिगीषेरा, भीतभीतेन चागसः। त्वया जगत्त्रयं जिग्ये, महतां कापि चातुरी ॥३॥

हे नाथ ! सर्वथा जीतने की ग्रनिच्छा होने पर भी तथा पाप से ग्रत्यन्त भयभीत होते हुए भी ग्रापने तीनो लोको को जीत लिया है। सच-मुच महान ग्रात्माग्रो की चतुराई कोई ग्रद्भुत ही होती है। (३)

दत्त न किञ्चित्कस्मैचिन्नात्तं किञ्चित्कुतश्चन । प्रभुत्वं ते तथाप्येतत्, कला कापि विपश्चिताम् ॥४॥

हे नाथ । श्रापने किसी को कुछ (राज्य श्रादि) दिया नहीं श्रीर किसी से कुछ (दण्ड श्रादि) लिया नहीं, तो भी श्रापका यह प्रभुत्व है जिससे यह लगता है कि कुशल पुरुषों की कला कोई श्रद्भुत होती है। (४)

> यद्देहस्यापि दानेन, सुकृतं नाजित परै । उदासीनस्य तन्नाथ[।], पादपीठे तवालुठत् ॥५॥

हे नाथ ¹ देह का दान देकर भी ग्रन्यो ने जो सुकृत नही कमाया, वह सुकृत उदातीनता से रहने वाले श्रापके पादपीठ में लेटता रहा। (५)

> रागादिषु नृशसेन, सर्वात्मसु कृपालुना । भोमकान्तगुरोनोच्चैः, साम्राज्य साधितं त्वया ॥६॥

हे नाथ । राग ग्रादि के प्रति कूर एव समस्त प्राशायों के प्रति दयालु ग्रापने भयानकता तथा मनोहरता रूपी दो गुणों से महान् साम्राज्य प्राप्त कर लिया है। (६)

> सर्वे सर्वात्मनाऽन्येषु, बोषास्त्विय पुनर्गुणाः । स्तुतिस्तवेयं चेन्मिण्या, तत्त्रमार्गं सभासदः ॥७॥

हे नाथ । पर-तीथिको मे समस्त प्रकार के समस्त दोष हैं श्रीर श्रापमे समस्त प्रकार से समस्त गुण हैं। यदि श्रापकी यह स्तुति मिथ्या हो तो सभासद प्रमाण है। (७)

> महोयसामिप महान्, महनीयो महात्मनाम् । ग्रहो ! मे स्तुवतः स्वामी, स्तुतेर्गोचरमागमत् ॥ ॥ ॥

ग्रहो । हर्प की वात यह है कि वड़े से वड़े ग्रीर महात्माग्रो द्वारा भी पूजनीय स्वामी की ग्राज में स्तुति कर रहा हूँ। (८)

बारहवा प्रकाश

पट्वम्यासादरैः पूर्वं, तथा वैराग्यमाहरः। यथेह जन्मन्याजन्म, तत्सात्मीभावमागमत् ॥१॥

हे नाथ । पूर्वभवो मे श्रादर पूर्वक के सुन्दर श्रम्यास से श्रापने उस प्रकार का वैराग्य प्राप्त किया था कि जिससे श्रापको इस (चरम) भव मे जन्म से ही सहज वैराग्य प्राप्त हुश्रा है। साराज्ञ यह है कि श्राप अन्म से ही विरागी हैं। (१)

दु.खहेतुषु वैराग्य, न तथा नाथ । निस्तुषम् । मोक्षोपायप्रवीगस्य, यथा ते सुखहेतुषु ॥२॥

हे नाथ ! मोक्ष प्राप्ति के उपाय मे प्रवीरा ग्रापको, सुख-हेतुग्रो मे जिस प्रकार का वैराग्य होता है, उसी प्रकार का वैराग्य दुःख-हेतुग्रो मे नहीं होता, क्यों क दु ख-हेतु वाला वैराग्य क्षिएाक होने से भव-साधक है भीर सुख - हेतु वैराग्य निश्चल होने से मोक्ष - साधक है। (२)

विवेकशाणैर्वेराग्य, –शस्त्र शातं त्वया तथा । यथा मोक्षेऽपि तत्साक्षा –दकुण्ठितपराक्रम् ।।३।।

हे नाथ । आपने विवेक रूपी शराग से वैराग्य रूपी शस्त्र को उस प्रकार से घिस कर तीक्ष्ण किया है कि जिससे मोक्ष के लिये भी उस वैराग्य रूपी शस्त्र का पराक्रम साक्षात् श्रकुण्ठित रहा। (३)

यदामरुन्तरेन्द्रश्री -स्त्वया नाथोपभुज्यते। यत्र तत्र रतिर्नाम, विरक्तत्व तदापि ते।।४॥

हे नाय । जब श्राप पूर्व भव मे देव-ऋद्धि का श्रोर मनुष्य भव मे राज्य ऋद्धि का उपभोग करते हैं तब भी जहा जहा ग्रापकी रित (ग्रासिक्त) प्रतीत होती है वह भी विरक्ति होती है, क्यों कि उस ऋद्धि का उपभोग करते हुए भी भोग-फल वाले कर्म का विना भोगे हुए क्षय नही होगा यह सोचकर श्राप श्रनासिक्त से ही उपभोग करते है। १ (४)

इस श्लोक मे भगवान के पूर्व भव तथा राज्य ग्रवस्था की वैराग्य दशा का वर्णन है।

श्रनुक्षित - फलोदग्रा -दनिपातगरीयसः । श्रसङ्कित्पतकल्पद्रो, -स्त्वत्तः फलमवाप्नुयाम् ॥५॥

समस्त वृक्ष जल-सिंचन से ही समय पर फल देते हैं, गिरने पर ही अत्यन्त बोक वाले होते हैं और प्रार्थना करने से ही वाछित वस्तु प्रदान करते है, परन्तु आप तो सिंचन किये बिना ही उदग्र-परिपूर्ण फल-दायक, गिरे बिना ही अर्थात् स्व-स्वरूप में रहने से ही गौरवपूर्ण तथा प्रार्थना किये बिना ही वाछित प्रदान करने वाले है। ऐसे (अपूर्व) कल्प-वृक्ष स्वरूप आपसे में फल प्राप्त करता हूँ। (५)

ग्रसङ्गस्य जनेशस्य, निर्ममस्य कृपात्मनः। मध्यस्यस्य जगत्त्रातु -रनङ्कस्तेऽस्मि किङ्करः ॥६॥

इस क्लोक मे परस्पर विरुद्ध विशेषण बताये है। जो सगरिहत होता है वह लोक का स्वामी नहीं होता, जो ममता रहित हो वह किमी पर कृपा नहीं करता और जो मध्यस्थ-उदासीन हो वह अन्य की रक्षा नहीं करता; परन्तु आप तो समस्त सग के त्यागी होते हुए भी जगत् के लोगों के द्वारा सेव्य होने के कारण जनेश है, ममता रहित होते हुए भी जगत् के समस्त प्राणियो पर कृपा करने वाले हैं, राग-द्वेष का नाश किया हुआ होने से मध्यस्थ – उदासीन होते हुए भी एकान्त हितकारी धर्म का उपदेश देने से ससार से त्रस्त जगत् के जीवों के रक्षक है। उपर्युक्त विशेषणों से युक्त चिन्ह – कुग्रह रूपी कलक रहित आपका मैं सेवक हूँ। (जो सेवक होता है वह तलवार, बन्दूक आदि किसी चिन्ह से युक्त होता है।) (६)

श्रगोपिते रत्निवा -ववृते कल्पपादपे । श्रचिन्त्ये चिन्तारत्ने च, त्वय्यात्माऽयं मयापितः ॥७॥

नही छिपाये हुए रत्न के निधि के समान, कर्मरूपी बाड से अपरिवृत कल्पवृक्ष के समान और अचिन्तनीय चिन्तामिए। रत्न के समान आपको (आपके चरएा-कमलो में) मैंने अपनी यह आत्मा समर्पित कर दी है। (७)

> फलानुघ्यानवन्ध्योऽहं, फलमात्रतनुर्भवान् । प्रसीद यत्कृत्यविधी, किंकर्तव्यजडे मयि ॥५॥

हे नाथ । श्राप सिद्धत्व स्वरूप फल वाले केवल देह युक्त है। मैं ज्ञान श्रादि के फल सिद्धत्व के यथावस्थित स्मरण से भी रहित हू। श्रत मैं क्या करूँ ? इस विषय में मैं जड (मूढ) हू। मुक्त पर कृपा करके श्राप मुक्त करने योग्य विधि बताने की कृपा करे। (८)

चौदहवां प्रकाश

मनोवच काय-चेष्टा , कष्टा संहृत्य सर्वथा । श्लथत्वेनैव भवता, मनःशल्यं वियोजितम् ॥१॥

मन, वचन, काया की सावद्य चेष्टाम्रो का सर्वथा परित्याग करके म्रापने स्वभाव से ही (शिथिलता से ही) मन रूपी शल्य को दूर किया है। (१)

> सयतानि न चाक्षाणि, नैवोच्छृह्मलितानि च । इति सम्यक् प्रतिपदा, त्वयेन्द्रियजय कृतः ॥२॥

हे प्रभु । ग्रापने बल पूर्वक इन्द्रियो को नियन्त्रित नही की तथा लोलुपता से उन्हें स्वतन्त्र भी नहीं छोडी, परन्तु यथावस्थित वस्तु तत्त्व को ग्रापीकार करने वाले ग्रापने सम्यक् प्रकार से कुशलता पूर्वक इन्द्रियो पर विजय प्राप्त की है। (२)

योगस्याष्टाङ्गता नून, प्रपञ्चः कथमन्यथा? । श्राबालभावतोऽप्येष, तव सात्म्यमुपेयिवान् ॥३॥

हे योग रूपी समुद्र का पार पाये हुए भगवन्। यस, नियम, श्रासन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, घ्यान और समाधि ये योग के श्राठ श्रङ्ग बताये गये हैं। वे केवल प्रपच (विस्तार) प्रतीत होते है, क्योंकि यदि ऐसा नहीं हो तो श्रापको बाल्यावस्था से ही ये योग स्वाभाविक रीति से ही क्यों प्राप्त हो ? श्रर्थात् यह योग प्राप्ति का कम सामान्य योगियों की श्रपेक्षा से हैं। श्राप तो योगियों के भी नाथ हैं, अत श्रापके लिये ऐसा होने में कोई श्राह्चर्य नहीं हैं। (३)

विषयेषु विरागस्ते, चिर सहचरेष्विष । योगे सात्म्यवृष्टेऽपि, स्वामिन्तिदमलौकिकम् ॥४॥

दीर्घकाल से परिचित विषयों के प्रति भी श्रापको वैराग्य है श्रीर कदापि नहीं देसे हुए योग के लिये तन्मयता है। हे स्वामी श्रापका यह चित्र कोई श्रलौकिक है। (४)

जिन भक्ति]

श्रनुक्षित - फलोदग्रा -दिनपातगरीयसः । श्रसङ्कित्पितकत्पद्रो, -स्त्वत्तः फलमवाप्नुयाम् ॥५॥

समस्त वृक्ष जल-सिंचन से ही समय पर फल देते हैं, गिरने पर ही श्रात्यन्त बोभ वाले होते हैं श्रीर प्रार्थना करने से ही वाछित वस्तु प्रदान करते है, परन्तु श्राप तो सिंचन किये बिना ही उदग्र-परिपूर्ण फल-दायक, गिरे बिना ही श्रर्थात् स्व-स्वरूप में रहने से ही गौरवपूर्ण तथा प्रार्थना किये बिना ही वाछित प्रदान करने वाले हैं। ऐसे (श्रपूर्व) कल्प-वृक्ष स्वरूप श्रापसे में फल प्राप्त करता हूँ। (४)

ग्रसङ्गस्य जनेशस्य, निर्ममस्य कृपात्मनः। मध्यस्थस्य जगत्त्रातु -रनङ्कस्तेऽस्मि किङ्करः॥६॥

इस क्लोक मे परस्पर विरुद्ध विशेषण बताये है। जो सगरिहत होता है वह लोक का स्वामी नहीं होता, जो ममता रहित हो वह किमी पर कृपा नहीं करता श्रीर जो मध्यस्थ-उदासीन हो वह श्रन्य की रक्षा नहीं करता; परन्तु श्राप तो समस्त सग के त्यागी होते हुए भी जगत् के लोगों के द्वारा सेव्य होने के कारण जनेश है, ममता रहित होते हुए भी जगत् के समस्त प्राणियो पर कृपा करने वाले है, राग-द्वेष का नाश किया हुआ होने से मध्यस्थ — उदासीन होते हुए भी एकान्त हितकारी धर्म का उपदेश देने से ससार से त्रस्त जगत् के जीवों के रक्षक हैं। उपर्युक्त विशेषणों से युक्त चिन्ह — कुग्रह रूपी कलक रहित श्रापका मैं सेवक हूँ। (जो सेवक होता है वह तलवार, बन्दूक श्रादि किसी चिन्ह से युक्त होता है।) (६)

श्रगोपिते रत्निनिधा -ववृते कल्पपादपे । श्रचिन्त्ये चिन्तारत्ने च, त्वय्यात्माऽयं मयापितः ॥७॥

नहीं छिपाये हुए रत्न के निधि के समान, कर्मरूपी वाड से अपरिवृत कल्पवृक्ष के समान और अचिन्तनीय चिन्तामिए। रत्न के समान आपको (आपके चरएा-कमलो में) मैंने अपनी यह आरमा समर्पित कर दी है। (७)

> फलानुष्यानवन्ध्योऽहं, फलमात्रतनुर्भवान् । प्रसीद यत्कृत्यविद्यो, किंकर्तव्यजडे मयि ॥५॥

हे नाथ । ग्राप सिद्धत्व स्वरूप फल वाले केवल देह युक्त हैं। मैं ज्ञान ग्रादि के फल सिद्धत्व के यथावस्थित स्मरण से भी रहित हूं। श्रत मैं क्या करूँ ? इस विषय मे मैं जड (मूढ) हू। मुक्त पर कृपा करके श्राप मुके करने योग्य विधि बताने की कृपा करें। (८)

चौदहवा प्रकाश

मनोवच काय-चेव्टा, कव्टा सहत्य सर्वथा। इलयत्वेतेव भवता, मनःशल्य वियोजितम् ॥१॥

मन, वचन, काया की सावद्य चेष्टाग्रो का सर्वथा परित्याग करके भ्रापने स्वभाव से ही (शिथिलता से ही) मन रूपी शल्य को दूर किया है। (१)

संयतानि न चाक्षाणि, नैवोच्छुङ्खलितानि च।

इति सम्यक् प्रतिपदा, त्वयेन्द्रियजय कृतः ।।२।। हे प्रमु ! ग्रापने बल पूर्वक इन्द्रियो को नियन्त्रित नही की तथा लोलुपता से उन्हे स्वतन्त्र भी नही छोडी, परन्तु यथावस्थित वस्तु तत्त्व को श्रगीकार करने वाले श्रापने सम्यक् प्रकार से कुशलता पूर्वक इन्द्रियो पर विजय प्राप्त की है। (२)

> योगस्याष्टाञ्जता नून, प्रपञ्चः कथमन्यथा ? । म्राबालभावतोऽप्येष, तव सात्म्यमुपेयिवान् ।।३।।

हे योग रूपी समुद्र का पार पाये हुए भगवन्। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, घारणा, घ्यान श्रीर समाघि ये योग के श्राठ श्रङ्ग वताये गये हैं। वे केवल प्रपच (विस्तार) प्रतीत होते हैं, क्यों कि यदि ऐसा नहीं हो तो श्रापको बाल्यावस्था से ही ये योग स्वाभाविक रीति से ही क्यो प्राप्त हो ? ग्रर्थात् यह योग प्राप्ति का क्रम सामान्य योगियो की ग्रपेक्षा से है। ग्राप तो योगियों के भी नाथ हैं, ग्रत ग्रापके लिये ऐसा होने में कोई श्राश्चर्यं नही है। (३)

> विषयेषु विरागस्ते, चिर सहचरेष्विप । योगे सात्म्यदृष्टेऽपि, स्वामिन्तिदमलौकिकम् ॥४॥

दीर्घकाल से परिचित विषयो के प्रति भी भ्रापको वैराग्य है भ्रौर कदापि नहीं देखे हुए योग के लिये तन्मयता है। हे स्वामी । आपका यह चरित्र कोई ग्रलौकिक है। (४)

[

तथा परे न रज्यन्त, उपकारपरे परे। यथाऽपकारिंगि भवा -नहो! सर्वमलौकिकम्।।।।।।

उपकार करने में तत्पर भक्तो पर भी अन्य देव उतने प्रसन्न नहीं होते जितने प्रसन्न आप आपका अपकार करने वाले (कमठ, गोशाला आदि) प्राणियो पर होते हैं। भ्रहो ! भ्रापका समस्त धलौकिक है। (५)

हिंसका श्रप्युपकृता, श्राश्रिता श्रप्युपेक्षिताः । इदं चित्रं चरित्र ते, के वा पर्यनुयुञ्जताम् ? ॥६॥

हे वीतराग । (चण्डकौशिक भ्रादि) हिंसको पर भ्रापने उपकार किया है भ्रीर (सर्वानुभूति तथा सुनक्षत्रमुनि भ्रादि) भ्राश्रितो की भ्रापने उपेक्षा की है। श्रापके इस विचित्र चरित्र के विरुद्ध प्रश्न भी कौन उठा सकता है।(६)

तथा समाधौ परमे, त्वयात्माविनिवेशितः। सुखी दुःख्यस्मि नास्मीति, यथा न प्रतिपन्नवान् ॥७॥

त्रापने ग्रपनी ग्रात्मा को परम समाधि मे उस प्रकार स्थापित कर दी है कि जिससे मैं सुखी हू ग्रथवा नहीं । ग्रथवा मैं दुःखी हू ग्रथवा नहीं, इसका भी ग्रापको घ्यान न रहा, उसका ज्ञान होने की ग्रापने तनिक भी परवाह तक नहीं की। (७)

घ्याता घ्येयं तथा घ्यानं, त्रयमेकात्मतां गतम् । इति ते योगमाहात्म्यं, कथ श्रद्धीयतां परे ? ॥६॥

घ्याता, घ्येय और घ्यान तीनो भ्रापमे भ्रभेद रूप मे है। इस प्रकार के भ्रापके योग के माहातम्य मे भ्रन्य किस प्रकार श्रद्धा कर सकते है ? (८)

पद्रहवा प्रकाश

जगज्जैत्रा गुर्गास्त्रात –रन्ये तावत्तवासताम् । उदात्तशान्तया जिग्ये, मुद्रयैव जगत्त्रयी ॥१॥

हे जग-रक्षक । जगत को जीतने वाले स्नापके स्रन्य गुरा तो दूर रहे परन्तु स्नापकी उदात्त (पराजित न कर सकें वैसी) एव शान्त मुद्रा ने ही तीनो लोको पर विजय प्राप्त कर ली है। (१)

मेरुस्तृणीकृतो मोहात्, पयोधिर्गोष्पदीकृतः । गरिष्ठेम्यो गरिष्ठो यैः, पाष्मभिस्त्वमपोहितः ॥२॥

हे नाथ । इन्द्र म्रादि से भी महान् भ्रापका जिन्होने म्रनादर किया है उन्होने म्रज्ञान से मेरु को तृगा के समान समका है म्रौर समुद्र को गाय के खुर के समान माना है। (२)

च्युतश्चिन्तामिशः पाणे –स्तेषां लब्धा सुधा सुघा । यैस्त्वच्छासनसर्वस्व –मज्ञानैनित्मसात्कृतम् ।।३।।

जिन भ्रज्ञानियों ने भ्रापके शासन का सर्वस्व (धन) भ्रपने श्रधीन नहीं किया, उनके हाथ से चिन्तामिए। रत्न गिर पड़ा है भ्रौर प्राप्त हुम्रा भ्रमृत व्यर्थ गया है। (३)

यस्त्वय्यपि दघौ दृष्टि -मुल्मुकाकारघारिग्गीम् । तमागुगुक्षणिः साक्षा -दालप्यालमिद हि वा ।।४।।

हे भगवन् । ग्रापके लिये भी जो मनुष्य जलते उल्मुक के ग्राकार को घारण करने वाली दृष्टि रखते हैं उन्हे साक्षात् ग्राग्न जला डाले ग्रथवा ऐसा वचन नही कहना ही उत्तम है। (४)

त्वच्छासनस्य साम्य ये, मन्यन्ते शासनान्तरैः। विषेण तुल्य पीयूष, तेषा हन्त[ा] हतात्मनाम्।।५।।

हे नाथ । सेद की बात है कि जो ग्रापके शासन को ग्रन्य शासनो के समान मानते हैं उन ग्रज्ञानियो के लिये ग्रमृत भी विष के समान है। (५)

श्रनेडमूका मूयासु -स्ते येषां त्विय मत्सर । गुभोदकाय वैकल्य -मिप पापेषु कर्मसु ।।६।।

है नाथ । जिन्हे ग्रापके प्रति ईर्जा है वे बहरे ग्रौर गूँगे हो जायें, क्योंकि पर-निन्दा का श्रवण एव उच्चारण ग्रादि पाप-कार्यों में इन्द्रियों की रहितता ग्रुभ परिणाम के लिये ही है, ग्रर्थात् कान एव जीभ के ग्रभाव में ग्रापकी निन्दा का श्रवण एव उच्चारण नहीं कर सकने से वे दुर्गित में नहीं जायेंगे, यह उन्हें भविष्य में महान् लाभ है। (६)

तेभ्यो नमोऽञ्जलिरयं, तेषां तान्समुपास्महे । त्वच्छासनामृतरसै -यैंरात्माऽसिच्यतान्वहम् ॥७॥

हे नाथ ! श्रापके शासन रूपी श्रमृत रस से जिन्होने श्रपनी श्रातमा का सदा सिचन किया है, उन्हें हमारा नमस्कार हो। उन्हें हम दो हाथ जोडते हैं श्रीर उनकी हम उपासना करते है। (७)

भुवे तस्यै नमो यस्या, तव पादनखांशवः । चिरं चूडामग्गोयन्ते, जूमहे किमतः परम्? ॥ ॥ ॥

हे नाथ ¹ उस भूमि को भी नमस्कार हो जहा ग्रापके चरणो के नाखूनो की किरणे चिरकाल तक चूडामिए। के समान सुशोभित होती है। इससे ग्रिधक हम क्या कहे ? (८)

जन्मवानस्मि धन्योऽस्मि, कृतकृत्योऽस्मि यन्मुहु । जातोऽस्मि त्वद्गुणग्राम -रामणीयकलम्पटः ।।६।।

हे नाथ ! श्रापके गुरा समूह की रमणीयता मे मैं बार-बार तन्मय हुश्रा हूँ जिससे मेरा जन्म सफल है, मैं धन्य हूँ, कृतकृत्य हूँ। (६)

सोलहवाँ प्रकाश

त्वन्मतामृतपानोत्था, इतः शमरसोर्मय । पराणयन्ति मां नाथ ! , परमानन्दसम्पदम् ॥१॥

हे नाथ! एक ग्रोर ग्रापके ग्रागम रूपी ग्रमृत के पान से उत्पन्न उपशम रस की तरगे मुक्ते बलपूर्वक मोक्ष की सम्पदा प्राप्त कराती हैं। (१)

इतश्चानादिसंस्कार -मूच्छितो मूच्छंयत्यलम् । रागोरगविषावेगो, हताशः करवाणि किम् ? ॥२॥

तथा दूसरी ग्रोर ग्रनादिकालीन सस्कार से उत्पन्न राग रूपी उरग (साँप) के विप का वेग मुभे मूच्छित कर देता है। विनष्ट ग्राजा वाला मैं ग्रव क्या करू ? (२)

रागाहिगरलाझातोऽकार्षं यत्कर्मवैशसम् । तद्वक्तुमप्यशक्तोऽस्मि, घिग् मे प्रच्छन्नपापताम् ॥३॥

हे नाथ । राग रूपी साँप के विप से व्याप्त मैंने जो अयोग्य कार्य किये हैं, उनका वर्णन करने में भी मैं समर्थ नहीं हूँ। अत मेरे प्रच्छन्न पापो को धिक्कार है। (३)

क्षण सक्त. क्षरा मुक्त , क्षरा क्रुद्धः क्षणं क्षमी । मोहाद्ये क्रीडयैवाह, कारितः कपिचापलम् ॥४॥

हे प्रभु । मैं क्षण भर सासारिक सुखो मे ग्रासक्त हुग्रा हूँ तो क्षण भर उक्त सुख के विपाक का विचार करने से विरक्त हुग्रा हूँ; क्षण भर को घी हुग्रा हूँ तो क्षण भर के लिये क्षमाशील हुग्रा हूँ। इस प्रकार की चपल की डाग्रो से ही मोह ग्रादि मदारियो ने मुभे बन्दर की तरह नचाया है। (४)

प्राप्यापि तव सम्बोधि, मनोवाक्कायकर्मजैः । दुश्चेष्टितेर्मया नाथ[।], शिरसि ज्वालितोऽनल ।।४।।

हे नाथ । ग्रापका धर्म पाकर भी मैंने मन, वचन श्रौर काया के व्यापारों से उत्पन्न दुष्ट चेष्टाग्रों से सचमुच ग्रपने मस्तक पर श्रिग्न जलाई है। (४)

त्वय्यपि त्राति त्रात -र्यन्मोहादिमलिम्लुचै । रत्नत्रय मे ह्रियते, हताशो हा हतोऽस्मि तत् ॥६॥

हे रक्षक । ग्राप रक्षक विद्यमान हैं तो भी मोह ग्रादि चोर मेरे ज्ञान, दर्शन ग्रौर चारित्र रूपी तीन रत्नो का हरण करके जा रहे हैं, जिससे हा । मैं हताश हो गया हूँ। (६)

> भ्रान्तस्तीर्थानि हृष्टस्त्व, मयैकस्तेषु तारकः । तत्तवाड्घ्रो विलग्नोऽस्मि, नाथ । तारय तारय ॥७॥

मैं अनेक मतो मे भटका हूँ परन्तु उन सव मे मैंने आपको ही तार ए तो के रूप मे देखा है, जिससे मैं आपके चर एो से लिपट गया हूँ। अत हे नाथ । आप कृपा करके मेरा उद्घार करो, मेरा उद्घार करो। (७)

भवत्त्रसादेनैवाह -मियतीं प्रापितो भुवम् । श्रौदासीन्येन नेदानी, तव युक्तमुपेक्षितुम् ॥८॥

हे नाथ ! आपकी कृपा से ही मैं इतनी भूमिका को, आपकी सेवा की योग्यता को प्राप्त कर सका हूँ। अत अब उदासीनता से मेरी उपेक्षा करना योग्य नहीं है, उचित नहीं है। (८)

ज्ञाता तात ! त्वमेर्वक -स्त्वत्तो नान्य कृपापरः । नान्यो मत्तः कृपापात्र -मेधि यत्कृत्यकर्मठः ॥६॥

हे तात् । त्राप ही एक ज्ञाता है। त्रापसे ग्रधिक ग्रन्य कोई दयालु नहीं है ग्रौर मुक्तसे ग्रधिक ग्रन्य कोई कृपापात्र (दया पात्र) नहीं है। करने योग्य कार्य में ग्राप कुशल है ग्रत जो करने योग्य हो उसे ग्राप करने के लिये तत्पर बनें। (६)

सत्रहवाँ प्रकाश

स्वकृतं दुष्कृत गर्हन्, सुकृत चानुमोदयन् । नाथ ! त्वच्चरणौ यामि, शरण शरणोजिभतः ॥१॥

हे नाथ । किये गये दुष्कृतो की गर्हा एव किये गये सुकृतो की अनु-मोदना करता हुआ, अन्य की शरण से रहित मैं आपके चरणो की शरण ग्रहण करता हूँ। (१)

> मनोवाक्कायजे पापे, कृतानुमतिकारितैः। मिथ्या मे दुष्कृत भूया –दपुन क्रिययान्वितम्।।२।।

हे भगवन् । करने, कराने और अनुमोदना के द्वारा मन वचन काया से हुए पाप के लिए जो दुक्कृत लगा हो उसे पुन नहीं करने की प्रतिज्ञा से आपके प्रभाव से मेरा वह दुक्कृत मिध्या हो। (२)

> यत्कृत सुकृत किञ्चिद्, रत्नित्रितयगोचरम् । तत्सर्वमनुमन्येऽहं, मार्गमात्रानुसार्यपि ॥३॥

हे नाथ । रत्नत्रयी के मार्ग का केवल अनुकरण करने वाला जो कुछ भी मुक़त मैंने किया हो उस सवकी मैं अनुमोदना करता हूँ। (३)

सर्वेषामर्हदादीना, यो योऽर्हत्त्वादिको गुराः। श्रनुमोदयामि त त, सर्वं तेषां महात्मनाम् ॥४॥

अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधुओं में जो जो आईन्त्य, सिद्धत्व, पचाचार के पालन में प्रवीणता, सूत्रों की उपदेशकता और रत्नत्रयी की साधना आदि जो जो गुरा है उन समस्त गुराों की मैं अनुमोदना करता हैं। (४)

त्वा त्वत्फलसूतान् सिद्धां –स्त्वच्छासनरतान्मुनीन् । त्वच्छासन च शररा, प्रतिपन्नोऽस्मि भावतः ॥५॥

हे भगवन् । भाव ग्रिरहन्त ग्रापकी, ग्रापके फलभूत (ग्रिरहन्तो का फल सिद्ध है) समस्त कर्मो से मुक्त एव लोक के अग्रभाग पर स्थित सिद्ध भगवानो की, ग्रापके शासन में श्रनुरक्त मुनिवरों की ग्रौर ग्रापके शासन की शरए। मैंने भावपूर्वक ग्रहण की है। (४)

क्षमयामि सर्वान्सत्त्वान्सर्वे क्षाम्यन्तु ते मिय । मैत्र्यस्तु तेषु सर्वेषु, त्वदेकशरणस्य मे ॥६॥

हे नाथ । समस्त प्राणियो से मैं क्षमा याचना करता हूँ, समस्त प्राणी मुभे क्षमा करे, मेरे प्रति कलुपता को त्याग कर मुभे क्षमा प्रदान करे। केवल स्नापके ही शरणागत मुभ मे उन सबके प्रति मैत्री, मित्रभाव, हितवुद्धि हो। (६)

एकोऽह नास्ति मे कश्चिन्, न चाहमिप कस्यचित्। स्ववड् व्रिशरणस्थस्य, मम दैन्य न किञ्चन।।७।।

हे नाथ ! मैं अकेला हूँ, मेरा कोई नही है और मैं भी किसी का नही हूँ, फिर भी आपके चरणो की शरण ग्रहण किये हुए मुफ में तिनक भी दीनता नहीं है। (७)

यावन्नाप्नोमि पदवीं, परा त्वदनुभावजाम्। तावन्मिय शरण्यत्व, मा मुञ्चः शरण श्रिते ॥ ।।।

हे विश्व-वरसल । ग्रापके प्रभाव से प्राप्त होने वाली उत्कृष्ट पदवी—मुक्तिपद मुभे प्राप्त न हो, तव तक शरणागत मेरे, ग्राप पालक वने रहे, पालकता का त्याग नहीं करें। (८)

श्रठारहवाँ प्रकाश

न परं नाम मृद्धेव, कठोरमिप किञ्चन। विशेषज्ञाय विज्ञप्यं, स्वामिने स्वान्तशुद्धये।।१।।

केवल सुकोमल वचनो से ही नही, किन्तु विशेषज्ञ-हितकारी स्वामी को अन्त करण की शुद्धि के लिए कुछ कठोर वचनो से भी विनती करनी चाहिये। (१)

> न पक्षिपशुसिंहादि –वाहनासीनविग्रहः । न नेत्रगात्रवक्त्रादि –विकारविकृताकृतिः ।।२।।

हे स्वामिन् । लौकिक देवो की तरह भ्रापका शरीर हस, गरुड भ्रादि पक्षियो, छाग, वृषभ, सिंह, व्याघ्र भ्रादि पशुम्रो के वाहन पर भ्रारूढ नही है, तथा भ्रापकी भ्राकृति भी उन देवो की तरह नेत्र, गात्र (शरीर) भ्रौर मुह भ्रादि के विकारों से विकृत नहीं है। (२)

न शूलचापचक्रादि –शस्त्राङ्करपल्लवः। नाङ्गनाकमनीयाङ्ग –परिष्वङ्गपरायगः॥३॥

हे नाथ ! ग्राप ग्रन्य देवो की तरह कर-पल्लव त्रिशूल, धनुष एव चक ग्रादि शस्त्रो से चिन्हित नहीं हुए है, तथा ग्रापकी उत्सग (गोद) स्त्रियों के मनोहर ग्रग का ग्रालिगन करने में तत्पर नहीं हुई है। (३)

> न गर्हगायचरित –प्रकम्पितमहाजनः । न प्रकोपप्रसादादि –विडम्बितनरामरः ॥४॥

हे नाथ ! भ्रन्य देवो की तरह निन्दनीय चरित्र से भ्रापने महाजनो (उत्ताम पुरुषो) को प्रकम्पित नही किया, तथा प्रकोप एव प्रसाद (कृपा) के द्वारा भ्रापने देवताओं भ्रौर मनुष्यों को विडम्बना में नही डाला। (४)

> न जगज्जननस्थेम –िवनाशविहितादरः । न लास्यहास्यगीतादि –िवण्लोवप्लुतस्थितिः ॥५॥

हे नाथ ! अन्य देवो की तरह जगत् को उत्पन्न करने मे, स्थिर करने मे अथवा विनाश करने मे आपने आदर नही बताया तथा नटो के उचित नृत्य, हास्य और गीत आदि चेष्टाओं के द्वारा आपने अपनी स्थिति को उपद्रवयुक्त नही किया। (४) तदेव सर्वदेवेभ्य, सर्वथा त्व विलक्षणः। देवत्वेन प्रतिष्ठाप्य, कथ नाम परीक्षकैः?।।६।।

इस कारण भगवन् । ग्राप समस्त देवो मे समस्त प्रकार से विलक्षण है, ग्रत परीक्षकगण ग्रापको देव के रूप में कैसे प्रतिष्ठित करे ? (६)

श्रनुस्रोतः सरत्पर्गः -तृणकाष्ठादियुक्तिमत् । प्रतिस्रोत श्रयद्वस्तु, कया युक्त्या प्रतीयताम् ॥७॥

हे नाथ पत्ते, तृगा (घास) और काष्ठ ग्रादि वस्तु पानी के प्रवाह के ग्रनुकूल चले यह बात युक्ति-सगत है, परन्तु वे प्रवाह के प्रतिकूल चलें यह बात किस युक्ति से निश्चित की जाये ? (७)

> भ्रथवाऽल मन्दबुद्धि -परीक्षकपरीक्षर्गं । ममापि कृतमेतेन, वैयत्येन जगतप्रभो ? ।। ।। ।।

ग्रथवा हे जगत्-प्रभु । मन्द बुद्धि-युक्त परीक्षको की परीक्षाग्रो से मुक्ति हुई तथा मुभे इस प्रकार की परीक्षा करने के हठाग्रह से मुक्ति हुई। (८)

यदेव सर्वससारि -जन्तुरूपविलक्षराम् । परीक्षन्ता कृतिघयस्तदेव तव लक्षराम् ॥६॥

हे स्वामिन् । समस्त ससारी जीवो के स्वरूप से जो कोई विलक्षरण स्वरूप इस विश्व मे प्रतीत हो, वही ग्रापका लक्षरण है। इस प्रकार बुद्धिमान पुरुष परीक्षा करें। (१)

> फ्रोघलोभभयाक्रान्त, जगदस्माहिलक्षगः। न गोचरो मृदुधिया, वीतराग! कथञ्चन।।१०।।

हे वीतराग ! यह जगत् कोघ और भय से आक्रान्त है, व्याप्त है, जविक आप कोघ आदि से रहित होने के कारण विलक्षण हैं। अत मृदु (मन्द) वृद्धि वाले विहर्मु ख पुरुषों को आप किसी भी प्रकार से गोचर (प्रत्यक्ष) नहीं हो सकते। (१०)

उन्नोसवाँ प्रकाश

सव चेतिस वर्तेऽह -मिति वार्त्तापि दुर्लभा। मन्दित्ते वर्त्तसे चेत्त्व -मलमन्येन केनिचत्।।१॥ हे नाथ । लोकोत्तर चरित्रवाले ग्रापके चित्त मे मैं रहूँ यह तो ग्रसम्भव है परन्तु ग्रापका मेरे चित्त मे रहना सम्भव है, ग्रीर यदि ऐसा हो जाये तो मुभ्ने कोई ग्रन्य मनोरथ करने की ग्रावश्यकता ही नही रहेगी। (१)

> निगृह्य कोपतः कांश्चित्, कांश्चित्तुष्ट्याऽनुग्रह्य च। प्रतार्यन्ते मद्धियः, प्रलम्भनपरे परेः ॥२॥

हे नाथ । ठगने मे तत्पर अन्य देव कुछ मन्द बुद्धिवालो को कोप से— शाप आदि देकर और कुछ को प्रसाद से—वरदान आदि देकर ठगते है, परन्तु आप जिनके चित्त मे हो वे मनुष्य ऐसे कुदेवो के द्वारा ठगे नही जाते। अत आप मेरे चित्त मे रहे तो मैं कृतकृत्य ही हूँ। (२)

> श्रप्रसन्नात्कथ प्राप्यं, फलमेतदसङ्गतम्?। चिन्तामण्यादयः किं न, फलन्त्यपि विचेतनाः? ॥३॥

हे नाथ ! कदापि प्रसन्न नही होने वाले ग्रापसे फल कैसे प्राप्त किया जाये यह कहना ग्रसगत है, क्योकि चिन्तामिए। रत्न ग्रादि विशिष्ट चेतना रहित हैं फिर भी क्या वे फल प्रदान नहीं करते ? ग्रवश्य करते हैं।

(विशिष्ट चेतना रिहत चिन्तामिए। आदि स्वय किसी पर प्रसन्न नहीं होते, फिर भी विधिपूर्वक उनकी आराधना करने वाले को फल प्राप्त होता है। उसी तरह से वीतराग परमात्मा की विधिपूर्वक आराधना करने वाले को फल अवश्य प्राप्त होता है। (३)

वीतराग ! सपर्यातस्तवाज्ञापालनं परम्। श्राज्ञाऽऽराद्धा विराद्धा च, शिवाय च भवाय च ॥४॥

हे वीतराग । श्रापकी पूजा की श्रपेक्षा भी श्रापकी श्राज्ञा का पालन श्रेष्ठ है, क्यों कि श्राराधक श्राज्ञा मोक्ष के लिए होती है श्रीर विराधक श्राज्ञा ससार के लिए होती है। (४)

श्राकालिमयमाज्ञा ते, हेयोपादेयगोचराः । श्रास्रवः सर्वथा हेय, उपादेयश्च संवरः ॥५॥

¹ सपर्यायास्तवाज्ञापालन

ग्रापकी यह ग्राज्ञा सदा हेय-उपादेय के विषय मे है, ग्रीर वह यह है कि ग्राप्तव समस्त प्रकार से हेय (त्याग करने योग्य) है ग्रीर सवर समस्त प्रकार से उपादेय (ग्रगीकार करने) योग्य करने है। (५)

> श्रास्रवो भवहेतु स्यात्, सवरो मोक्षकारणम् । इतीयमार्हती मुब्टि – रन्यदस्याः प्रपञ्चनम् ॥६॥

ग्रास्नव भय का कारण है ग्रीर सवर मोक्ष का कारण है। श्री ग्रिरिहन्त देवो के उपदेश का यह सिक्षप्त रहस्य है। ग्रन्य समस्त उसका विस्तार है। (६)

इत्याज्ञाराधनपरा, प्रनन्ता परिनिर्वृ ताः । निर्वान्ति चान्ये क्वचन, निर्वास्यन्ति तथा परे ॥७॥

इस प्रकार की आज्ञा के आराधक अनन्त आत्माओं ने निर्वाण प्राप्त किया है, अन्य कुछ कही प्राप्त करते हैं और अन्य अनन्त भविष्य मे निर्वाण पद प्राप्त करेंगे। (७)

> हित्वा प्रसादनाद्वैन्य - मेकयेव त्वदाज्ञया । सर्वथैव विमुच्यन्ते, जन्मिन कर्मपञ्जरात् ॥६॥

हे विश्वेश । जगत् मे ऐसा कहा जाता है कि यदि स्वामी की प्रसन्नता हो तो फल की प्राप्ति होती है परन्तु यह वात चिन्तामणि के दृष्टान्त से भ्रसगत है—इसी प्रकाश के द्वितीय श्लोक मे यह सिद्ध करके वताया गया है। भ्रत दीनता का त्याग करके निष्कपट भाव से आपकी श्राज्ञा की आराधना करके भव्य प्राणी कर्म रूपी पिंजरे से सर्वथा मुक्त होते हैं। इस कारण आपकी भ्राज्ञा की आराधना करना ही मुक्ति का एक श्रेष्ठ उपाय है। (८)

वीसवाँ प्रकाश

पादपीठलुठन्मूर्घिन, मिय पादरजस्तव । चिर निवसतां पुण्य – परमाखुकग्गोपमम् ॥१॥

भ्रापके पादपीठ में शीश नमाते समय मेरे ललाट पर पुण्य-परमाणु-कर्णों के समान श्रापकी चरण-रज चिरकाल रहे। (१)

मद्दृशौ त्वन्मुखासक्ते, हर्षवाष्पजलोर्मिभ । श्रप्रेक्ष्यप्रेक्षणोद्भूत, क्षगात्क्षालयतां मलम् ॥२॥

ग्रापके मुख के प्रति ग्रासक्त मेरे नेत्र पहले ग्रप्नेक्ष्य वस्तुग्रो को देखने से उत्पन्न पाप-मल को पल भर में हर्षाश्रुग्रो के जल की तरगों से धो डाले। (२)

त्वत्पुरो लुठनैभू यान्, मद्भालस्य तपस्विन । कृतासेव्यप्रणामस्य, प्रायश्चित्त किरणाविल ॥३॥

हे प्रभु । उपासना के लिए अयोग्य अन्य देवो को प्रणाम करने वाली और तीनो लोको द्वारा सेव्य आपकी उपासना से विचत रहने से करुणा-स्पद बनी मेरी इस ललाट को आपके समक्ष नमाने से उस पर लगी हुई क्षत की श्रेणी ही प्रायश्चित्त स्वरूप हो। (३)

मम त्वद्दर्शनोद्भूताश्चिर रोमाञ्चकण्टकाः। नुदन्तां चिरकालोत्था -मसद्दर्शनवासनाम्।।४॥

हे निर्मम-शिरोमिण ! श्रापके दर्शन से मुक्त में चिरकाल तक उत्पन्न रोमाच रूपी कण्टक दीर्घ काल से उत्पन्न कुशासन की दुर्वासना का श्रत्यन्त नाश करे। (४)

त्वद्वक्त्रकान्तिज्योत्स्नासु, निपीतासु सुधास्विव । मदीयैलीचनाम्भोजैः, प्राप्यता निनिमेषता ॥५॥

हे नाथ ! ग्रमृत तुल्य ग्रापके मुँह की कान्ति रूपी ज्योत्स्ना का पान करते हुए मेरे नेत्र रूपी कमल निर्निमेष रहे। (५)

त्वदास्यलासिनो नेत्रे, त्वदुपास्तिकरौ करौ। त्वद्गुग्राश्रोतृणी श्रोत्रे, भूयास्तां सर्वदा मम।।६।।

हे नाथ ! मेरे दोनो नेत्र ग्रापका मुँह देखने में सदा लालायित रहे, मेरे दोनो हाथ ग्रापकी पूजा करने में सदा तत्पर रहे ग्रीर मेरे दोनो कान ग्रापके गुराो का श्रवरा करने के लिये सदा उद्यत रहे। (६)

> कुण्ठापि यदि सोत्कण्ठा, त्वद्गुणग्रहणं प्रति । ममैपा भारती तर्हि, स्वस्त्यं तस्यं किमन्यया ॥७॥

हे प्रभु ¹ मेरी यह कुण्ठित वागी श्रापके गुगा ग्रहगा करने के लिये उत्कठित हो तो उसका कल्यागा हो । इसके श्रतिरिक्त श्रन्य वागी से क्या होगा ^२ (७)

> तव प्रेष्योऽस्मि दासोऽस्मि, सेवकोऽस्म्यस्मि किङ्करः । श्रोमिति प्रतिपद्यस्व, नाथ[ा] नात पर ब्रुवे।।८।।

हे नाथ । मैं आपका प्रेष्य हूँ, दास हूँ, सेवक हूँ और किंकर हूँ। यत "यह मेरा है" इस भाव से आप मुक्ते स्वीकार करे। इससे अधिक मैं कुछ भी नहीं कहता। (ς)

श्री हेमचन्द्रप्रभवाद् – वीतरागस्तवादितः । कुमारपाल – भूपालः, प्राप्नोतु फलमीप्सितम् ॥६॥

श्री हेमचन्द्र सूरीश्वर द्वारा रिचत इस श्री वीतराग स्तोत्र से श्री कुमारपाल भूपाल मुक्ति (कर्मक्षय) रूपी श्रभीप्सित फल प्राप्त करें। (१)

-- o ---

श्री जिनगुण स्तवन की महिमा

गगन तणु जेम निह मान । तेम अनन्त फल जिन गुण गान ।।

—श्री सकलचंद्रजी उपाध्याय

(१)

वदतृत्व एव कवित्व शक्ति—

स्तुति, स्तवन, प्रशसा, वर्णवाद ग्रादि एक ही ग्रर्थ व्यक्त करने वाले शब्द है। स्तुति ग्रथवा स्तवन, प्रशसा ग्रथवा वर्णवाद, व्यक्त-शब्दोच्चार के द्वारा हो सकता है। ससार मे ऐसे ग्रनन्त प्राणी है कि जिनमे व्यक्त-शब्दोच्चारणा की शक्ति ही नहों है। समस्त एकेन्द्रिय प्राणी इस शक्ति से रहित है तथा जोभ वाले दो इन्द्रिय ग्रादि समस्त प्राणी भी वर्णवाद के योग्य व्यक्त-शब्दोच्चार करने की शक्तियुक्त नहीं होते। सज्ञी पचेन्द्रिय प्राप्त देवो तथा मनुष्यो को ही ग्रनादि ससार मे परिभ्रमणा करने से ववित् यह शक्ति प्राप्त होती है। इनके ग्रतिरिक्त प्राणी तो स्वकर्म परिणाम से ग्रावृत्त है।

प्रवल ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से विशिष्ट चित् शक्ति-चैतन्य से शून्य होते है। अत. उनमे किवत्व अथवा वक्तृत्व सुलभ वाचा नहीं होती और जब तक वह वाचा (वाणो) प्राप्त न हो तब तक किसी योग्य का गुण-गान नहीं हो सकता। इस प्रकार की वाणी प्राप्त होने पर भी अधिकत्तर देव एव मनुष्य अपनी भवाभिनन्दिता के योग से अन्यों का अर्थात् गुण-गान करने के लिये अयोग्य देव एव मनुष्यों आदि के अवगुणों का कीर्तन करने के लिये ही प्रयत्नशील होते हैं और इस प्रकार से विशिष्ट शक्ति प्राप्त करके भी स्व आत्मा को मिलन करने में ही प्रवृत्त होते हैं। कुछ ही भव-भीक्त महापुरुप इस प्रकार को वक्तृत्व एव किवत्व शक्ति प्राप्त करने के पञ्चात् स्तुति एव स्तवन करने योग्य गुणवान देव-गुरु आदि की स्तुति

करने मे प्रयत्नशील होते हैं श्रीर उस कार्य के द्वारा वे श्रपनी श्रात्मा को कर्म-मल से मुक्त करते हैं।

गुग्-वर्णन की आवश्यकता—

गुरावान अथवा अधिक गुराो वाली आत्माओं के अद्भूत गुराो का समुत्कीर्तन करना ही वाग्गी (सरस्वती) प्राप्ति करने का सच्चा फल है। जो स्तुति करने योग्य होते हैं उनकी स्तुति करने का अवसर जीव को इस भव-वन मे किसी समय ही प्राप्त होता है। शक्ति के ग्रभाव मे ग्रधिकतर समय तो योग्य पुरुष की स्तुति किये बिना ही व्यतीत होता है ग्रौर शक्ति प्राप्त होने पर ग्रयोग्य को स्तुति करने मे वह शक्ति नष्ट हो जाती है। ऐसी दशा मे योग्य की स्तुति करने का ग्रवसर प्राप्त होना ग्रत्यन्त ही कठिन होता है। यह तत्त्व समभने वाले तत्त्वज्ञ महापुरुषो को इस प्रकार की शक्ति प्राप्त हो जाये तब वे स्तवन करने योग्य महापुरुषो की स्तवना करने मे तिनक भी कमी नही रखते । इस बात का परिचय ग्राज पूर्वाचार्यों द्वारा रिचत ग्रसक्य स्तोत्र, स्तवन एव स्तुति हमे प्रत्यक्ष रूप से कराती हैं। महा-पुरुषो को प्राप्त वक्तृत्व शक्ति एव कवित्व शक्ति का उपयोग श्री जिनेश्वर भगवान के गुरा-गान करने के लिए मुक्त रूप से हुग्रा है। यद्यपि वे इस प्रकार से भी जिनेश्वर देव के एक भी गुरा का पूर्णत उत्कीर्तन करने मे समय नहीं हुए है --यह बात वे स्वय स्वीकार करते है और उसका कारण भी स्पष्ट ही है, परन्तु सच्चे गुरा का वाराी से पूर्णत वर्णन करना असभव है। वाएगो तो केवल दिशा-निर्देश कर सकती है। स्रत पहचान तो उक्त दिशा निर्देश से होने वाले म्रात्मानुभव पर म्राधार रखती है ।

विशुद्ध श्रद्धा एव भक्ति—

किसी भी गुएग की सच्ची महिमा वाएगी के द्वारा व्यक्त नहीं की जा सकती, किन्तु मन के द्वारा प्रकट की जा सकती है। ग्रत एक महापुरुष का कथन है कि— "सत्यगुएग के कथन में कदािप ग्रतिशयोक्ति हो ही नहीं सकती, सदा ग्रल्पोक्ति ही रहती है।" इस सत्य को परमार्थदर्शी पूर्व ग्राचार्य प्रवर यथार्थ रूप से समभते थे। इस कारएग श्री जिन गुएग स्तवन में उन्होंने वाएगी की ग्रविरल वृष्टि की तदिप यह ग्रविरल प्रवाह उनके एक भी सद्भूत गुएग का तिनक भी वर्णन नहीं कर सका, इस सत्य को उन्होंने स्वीकार किया है। किसी ने वाल-चपलता करने की वात कही है तो किसी ने दोनो भुजाएँ फैला कर समुद्र की विशालता का वर्णन करने जैसी चेष्टा करने की वात कही है।

इस प्रकार समस्त स्तुतिकारों ने अपनी उस विषय की असमर्थता को नि सकोच भाव से प्रदर्शित करते हुए कहा है कि—"हममें सामर्थ्य नहीं होते हुए भी हम श्री जिन-गुण गाने के लिए उद्यत हुए है, उसका कारण केवल हमारी श्रद्धा एव श्री जिन-गुणों के प्रति हमारी भिक्त ही है। परमात्म-गुणों की भिक्त हमें सभव-श्रसभव के विचार-चातुर्य से रहित करती है, क्योंकि हम जानते है कि श्रद्धा एव भिक्त से बोले हुए उल्टे-सीधे अथवा असम्बद्ध वचन भी बालालाप की तरह श्रोताओं में अरुचि नहीं परन्तु विस्मय एवं कौतुक उत्पन्न किये बिना नहीं रहते।" निर्मल बुद्धि वाले सज्जन पुरुष ऐसी श्रसम्जस पूर्ण चेष्टा की हँसी नहीं उडाते, परन्तु वैसा करने के लिए प्रोत्साहित करते हैं, क्योंकि वे निर्मल मितवाले महापुरुष समभते है कि स्तुति कोई गुणों की यथार्थ प्रदर्शक नहीं है, परन्तु स्तुति करने वाली आत्मा में उक्त गुण के प्रति जो विशुद्ध श्रद्धा एवं भिक्त निहित है, उसकी ही केवल प्रदर्शक है।

समस्त स्तवन योग्य यहापुरुषों के स्तवन का अन्तर्भाव---

जिसके गुणो के प्रति जिसे श्रद्धा एव भक्ति है, उसके गुणो का कीर्तन करने के लिये जगत् में कौन प्रवृत्त नहीं होता ? ग्रवाग् एव ग्रव् भ प्राणी भी ग्रपने पालको ग्रौर पोपकों के गुणा-गान करने के लिए ग्रपने ग्रगो-पागों के द्वारा विविध प्रकार की चेष्टा करते दृष्टिगोचर होते हैं, तो फिर विशुद्ध वाणी एव विशुद्ध चेतन्य युक्त ग्रात्मा ग्रपने उपकारियों के गुणों का वर्णन करने के लिए ग्रपनी देह एव वाणी के द्वारा समस्त सभव प्रयत्न करे तो उसमे ग्राक्चर्य ही क्या है ?

श्री जिन-गुएग-स्तवन के प्रति श्रद्धा रखने वाले व्यक्ति भी स्वरुचि के श्रनुमार भिन्न-भिन्न मनुष्यो ग्रीर पशुग्रो तक का गुण-गान करने मे क्या कमी रखते हैं? यदि सोचा जाय तो इस जगत् मे सर्वत्र प्रशसा का साम्राज्य छाया हुग्रा है। ग्रपने स्वय के प्रशसक की प्रशसा करना वर्तमान समय में शिष्टाचार का एक प्रमुख ग्रग माना जाता है तथा यदि प्रशसक की प्रशसा की जाये तो उसे शिष्टाचार भग करने वाला घोषित किया जाता है। इमी प्रकार से जिस व्यक्ति की प्रशमा जन-समुदाय का ग्रधिकतर वर्ग करता हो ग्रथवा जो व्यक्ति ग्रपने पुण्य-वल से विशाल जन-समुदाय पर सत्ता जमाया हुग्रा हो, उसकी भी प्रशसा करनी चाहिये, यह जगत द्वारा स्वीकृत है। यदि ऐसा नही किया जाये तो उसे लोगो का ग्रथवा सत्ता का ग्रपराघी

तीनो लोको को सनाथ करने वाले एव क्रुपारस-सिन्धु है तीर्थपित ! जिस प्रकार सम-भूतला भूमि से पाच सौ योजन से दूर नन्दन-वन ग्रादि तीन वनो से मेरु पर्वत सुशोभित है, उसी प्रकार से जन्म से ही ग्राप मित ग्रादि तीन ज्ञानो से सुशोभित है। हे विश्व-भूषएा । ग्राप जिस क्षेत्र मे जन्म धारण करते हैं, वह क्षेत्र तीन भवनो के मुकुट तुल्य ग्रापके द्वारा ग्रलकृत होने से देव-भूमि से भी उत्तम बन जाता है। ग्रापके जन्म-कल्याएाक के महोत्सव से पावन बना दिन भी सदा ग्राप ही के समान वन्दनीय हो जाता है। ग्रापके जन्म ग्रादि के दिनो मे नितान्त दु खी नरक के जीव भी सुख की ग्रनुभूति करते है। भला ग्ररिहन्तो का उदय किसका सन्ताप-नाशक नहीं होता ? ग्रापके चरएों का ग्रवलम्बन पाकर ग्रनेक ग्रात्मा इस भयानक भव-सागर को पार कर लेते है। क्या जहाज का ग्राधार पाया हुग्रा लोहा भी सागर को पार नहीं कर पाता है भगवन्। ग्राप मनुष्य लोक में लोगो के पुण्य से ग्रवतीण होते है। वृक्ष विहोन वन मे कल्पवृक्ष की तरह ग्रीर जल विहोन मरुस्थल में नदी के प्रवाह (धारा) के समान ग्रापका जन्म लोगों को ग्रत्यन्त इष्ट होता है।

त्रिलोक रूपी कमल को विकसित करने के लिये भास्कर तुल्य एव ससार रूपी मरुस्थल में कल्पतर तुल्य हे जगन्नाथ । वह मुहूर्त भी धन्य हैं जिम मृहूर्त में पुनर्जन्म धारण नहीं करने वाले ग्रापका विश्व के प्राणियों के दु खोच्छेदनार्थ जन्म होता है। उन मनुष्यों को भी धन्य है कि जो श्रहींनश ग्रापके दर्जन करते हैं। हे भव-तारणहार । ग्रापकी उपमा देने के लिये ग्रन्य कोई वस्तु ही नहीं है। ग्रापके समान ग्राप हो हैं, इतना ही कह कर हम रुक जाते हैं। ग्रापके सद्भूत गुणों के विषय में कुछ कहने में भी हम समर्थ नहीं है, इसमें तिनक भी ग्राश्चर्य नहीं है। स्वयभूरमण समुद्र के ग्रगाध जल की थाह लेने में भला कौन समर्थ है ?

है भगवन् । ग्रापके यथा स्थित गुरगो का वर्णन करने मे हम ग्रसमर्थ है तो भी ग्रापके प्रभाव से हमारी बुद्धि का ग्रवश्य विस्तार होगा। है स्वामी । त्रम तथा स्थावर दोनो प्रकार के जन्तुग्रो की हिंसा के परिहार से ग्राप ग्रमयदान की एक दानणाला के समान है। ग्राप मृपाबाद के सर्वथा परित्यान से प्रिय, पथ्य एव तथ्य वचन रूपी ग्रमृत-रस के सागर हैं। हे जगत्-पति । निरुद्ध मोक्ष मार्ग के द्वार को ग्रदत्तादान के प्रत्याख्यान से खोलने वाले ग्राप एक समर्थ द्वारपाल है। हे भगवन् । ग्रखण्ड ब्रह्मचर्य

रूपी महा तेज का विस्तार करने के लिये तथा मन्मथ रूपी ग्रधकार का मथन करने के लिये भ्राप एक प्रचण्ड सूर्य हैं।

हे नाथ ! पृथिवी ग्रादि समस्त परिग्रह का एक साथ पलाल-पुञ्ज को तरह परित्याग करने वाले ग्राप त्याग-मूर्ति है। पच महाव्रत रूपी व्रत का वोभा वहन करने के लिये वृषभ तुल्य एव भव-सिन्धु को पार करने के लिये जहाज तुल्य ग्रापको हमारा पुन -पुन नमस्कार हो, पाँच महाव्रतो की सहोदरवहनो के समान पाँच समितियो के धारक ग्रापको पुन -पुन नम-स्कार हो ग्रीर ग्रात्मारामैकमन से युक्त, वचन गुप्ति के धारक एव समस्त चेष्टाग्रो से निवृत्त ग्रापको पुन पुन नमस्कार हो।

हे श्रिखल विश्व के नाथ । श्रिखल विश्व को श्रभय प्रदान करने वाले । ससार-सागर-समुत्तारण । प्रात काल मे श्रापके दर्शन से हमारे समस्त पाप नष्ट होते है । हे नाथ ! भव्य जीवों के मन रूपी जल को निर्मल करने के लिये कतक चूर्ण के समान श्रापकी वाणी का जय जयकार होता है । हे करुणा-क्षीर-सागर । श्रापके शासन रूपी महारथ पर श्रारोहण करने वालों को दूरस्थ लोकाग्र भी समीप प्रतीत होता है । हे देव । श्राप निष्कारण जगवधु का में साक्षात् दर्शन करता हूँ, वह लोक लोकाग्र की श्रपेक्षा भी मेरे मन मे उत्तम है ।

हे स्वामी । ग्रापके दर्शन रूपी महानद के रस से परिपूर्ण नेत्रों के द्वारा ससार में भी मैं मोक्ष-सुख के श्रास्वादन का अनुभव करता हूँ। राग-द्वेष एव कषाय रूपी भयानक शत्रुओं से पीडित जगत् भी हे नाथ ! श्राप श्रभय देने वाले की कृपा से ही निर्भय है। तत्त्व को श्राप स्वय ही बताते हैं, ग्राप ही मार्ग भी वताते हैं तथा विश्व की श्राप ही रक्षा करते हैं, तो फिर मेरे लिये मागने का कुछ रहता ही नहीं है। हे भगवन् ! ग्रापकी पर्षदा मे पर-स्पर युद्ध करने वाले शत्रुराज भी मित्र बन कर रहते हैं। हे देव ! ग्रापकी पर्पदा मे शाश्वत वैर रखने वाले श्रन्य जीव भी ग्रापके श्रसीम प्रभाव से ग्रपनी स्वाभाविक शत्रुता को भुला कर मैत्री धारण करते हैं।

(?)

वारगो का सच्चा फल--

गुरावान के गुराो का उत्कीर्तन करना प्राप्त वासी का सच्चा फल है। वासो प्राप्त होने पर उसका कुछ न कुछ उपयोग होता ही रहता है। मानव-देह में प्राप्त, बोलने एव सोचने की शक्ति का प्रवाह नित्य होता ही रहता है। जिस प्रकार मन को नियत्रण में रखना कठिन है, उसी प्रकार से प्राप्त वाणी को भी सर्वथा रोक देना, अमुक अवस्था तक नहीं पहुँचे मनुष्यों के लिये असभव है। वाणी का कुछ न कुछ उपयोग तो होता ही है, तो फिर उसका सर्वोत्तम उपयोग क्या हो सकता है, उसे खोजना अनिवार्य हो जाता है।

क्या नाम लेने से अथवा गुरा गाने से कार्य-सिद्धि सभव है ? —

कुछ मनुष्य कहते हैं कि श्री जिन का नाम लेने से अथवा गुण-गाने से कार्य-सिद्धि हो जाती हो तो अन्न अथवा धन का नाम लेने से अथवा गुण गाने से अन्न अथवा धन की प्राप्ति हो जानी चाहिए। नाम लेना अथवा गुण गाना तो केवल औपचारिक भक्ति है। सच्ची भक्ति तो उम नाम और गुण वाले के गुणो को प्राप्त करने का उद्यम ही है। जो व्यक्ति धन अथवा अन्न प्राप्त करने के लिये उद्यम नहीं करते, उन्हें उनके नाम का जाप अथवा गुणो का स्तवन क्या लाभ करता है नाम-स्मरण नहीं करने वाला अथवा वाणी के द्वारा गुणो का लम्बा उत्कीर्तन नहीं करने वाला व्यक्ति भी यदि उनकी प्राप्ति के लिये उचित उद्यम करें तो उसे उस वस्तु की प्राप्ति होगी ही। इस प्रकार नाम-स्मरण अथवा गुणोत्कीर्तन का कोई विशेष फल नहीं है, यह निश्चय करके जो लोग उसकी उपेक्षा करते हैं, वे वस्तु का एक पक्ष ही ग्रहण करते हैं और कार्य-सिद्धि करने वाले अन्य उपयोगी पक्षों का एकान्तवादी बन कर त्याग करते हैं।

उद्यम एवं श्राज्ञा-पालन के लिये प्रेरक तत्त्व-

उद्यम ग्रथवा ग्राज्ञा-पालन के बिना कार्य-सिद्धि ग्रसभव है, तो भी उक्त उद्यम की ग्रोर ग्रात्मा को प्रेरित करने वाली प्रथम वस्तु कौनसी है, इस पर चिन्तन करना शेष रहता है। जिसका नाम किसी को ज्ञात नहीं है ग्रीर जिसके गुगा के प्रति जिसे ग्रनुराग नहीं है, उस वस्तु की प्राप्ति के लिये कभी उद्यम हुग्रा हो यह किसी ने कभी नहीं देखा। जहाँ जिस वस्तु की प्राप्ति के लिये उद्यम होता है वहाँ उस वस्तु के नाम का ग्रीर गुगा का परिचय होता है।

श्री जिन की ग्राज्ञा के पालन के लिये उद्यमशील होने की ग्रिभलापा उनके गुणो के ज्ञान एव गान के विना वन्ध्या रहने के लिये ही सजित है। श्री जिन के गुगा-गान मे थकान प्रदिश्ति करने वाले पुरुष उनकी आज्ञा-पालन का दावा करते हो तो वह प्राय दम्भ स्वरूप ही सिद्ध होगा। प्राय कहने का तात्पर्य यह है कि सयोग के अभाव मे गुगोत्कीर्तन के विना भी क्वचित् आज्ञा-पालन हो सकता है, परन्तु आज्ञा-पालक एव आज्ञा-पालन अभिलापी व्यक्ति, सयोग एव शक्ति होते हुए भी श्री जिन का गुगोत्कीर्तन करने वाला न हो, यह असभव है।

जाप एव कीतंन की श्रावश्यकता---

धन प्रथवा श्रम का जीव को अनादिकालीन परिचय है। उनका नाम उसके होठो पर श्रीर उनके गुण उसके हृदय में गुथे हुए होते हैं। वह यदि भूलना चाहे तो भी धन एवं श्रम के गुण, उपकर पर्या भूल नहीं सकता। इस देशा में उसे श्रम श्रथवा धन का कर्वा कर्वा कर कर कि श्रावश्यकता नहीं होती श्रथवा उनकी स्तुति करने के के श्री श्रावश्यकता नहीं होती। श्री जिन कर कर कर होते के लिये जीव की ऐसी देशा नहीं है। श्री जिन के गुण्यों कर कर कर कर कर समाण यही है कि श्रांत समरण कराने पर भी क्लिक होता है।

श्री जिन के श्रपार एवं श्रनन्त गुरा उनके करिय प्राप्त इनके होने वाला श्रात्मा को श्रपूर्व लाभ, उनमें होने कर्ने निवेक्ट कर हैं की श्राय्त श्रीय श्रीय श्रीय की श्रीय की श्रीय की श्रीय की श्रीय की श्रीय की लिये, कर को की किये श्रीय उन गुराों की स्मृति नाई कर के लिये श्रीय उन गुराों की स्मृति नाई कर के किया की वार वार जाप एवं की तंन करने की प्राप्त की सतत् जाप, करने की किया की किया की प्राप्त की सतत् जाप, करने की किया की परिचय किया जा नकता है

वे दोनो से भ्रष्ट हो जाते हैं—

श्राज्ञा-पालन श्रादि श्रन्य साधनों की भी श्रावश्यकता होती ही है, तो भी इन सब मे प्राथमिक उपाय के रूप मे जाप एव स्तवन का प्रमुख भाग रहता है। जाप के बिना ध्यान नहीं होता श्रीर स्तवन के बिना श्राज्ञारा-धना का उतना उल्लास जागृत नहीं होता।

श्री जिन की यथास्थित ग्राज्ञा की ग्राराधना यथाख्यात् चारित्र का पालन है। यह दशा प्राप्त करने के लिए श्री जिन-गुग्ग-स्तवन भी एक परम ग्रावश्यक साधन है। यथाख्यात् चारित्र तक पहुँचे हुए पुरुष श्री जिन-गुण का स्तवन न करे तो चल सकता है, परन्तु उस स्थिति तक पहुँचने से पूर्व ही ग्राज्ञाराधना के नाम पर श्री जिन-गुग्ग-स्तवन ग्रादि का ग्रवलम्बन त्याग देने का वाद करे वे दोनो से भ्रष्ट हो जाते है।

आत्म-गुरा-प्राप्ति में प्रधान निमित्त-

अथवा श्री जिन-गुण की स्तुति करना भी एक प्रकार से श्री जिनाज्ञा का पालन और आराधन है। ''जिस प्रकार अन्न एव धन की स्तुति करने से अन्न एव धन प्राप्त नहीं होता, उसी प्रकार से श्री जिन-गुण का स्तवन करने मात्र से उनकी प्राप्ति नहीं होती''—यह कहने में दृष्टान्त-वैषम्य है। अन्न एव धन आत्म-बाह्य पदार्थ है। आत्म-बाह्य पदार्थों की प्राप्ति केवल स्मरण, स्तवन अथवा ध्यान से नहीं हो सकती, परन्तु उसके लिए बाह्य प्रयत्नों की भी आवश्यकता होती है, जबिक आत्म-गुणों की प्राप्ति के लिए बाह्य प्रयत्नों की प्रधानता नहीं होती, किन्तु स्तवन आदि आन्तरिक प्रयत्नों की ही प्रधानता होती है। इसके लिए जिन-गुण स्तवन आत्म-गुणों की प्राप्ति में प्रधान कारण है। इस कारण पूर्व महर्षियों ने इस अग को भी अन्य अगों की तरह विशेष रूप से अपनाया है।

श्री जिनेश्वरों की स्तृति ---

श्री जिन-गुगा-महिमा प्रदिशत करने के लिये ग्रीर श्री जिनेश्वर देवों के जगत् के जीवों पर ग्रसीम उपकार करने के लिये ग्रसाधारण वाक्-शक्ति का प्रवाह बहाने वाले पूर्व महिषयों का कथन है कि—"जिस प्रकार घड़ों के द्वारा समुद्र के जल का माप निकालना ग्रसम्भव है, उसी प्रकार हम जैसे जड बुद्धि वाले लाखों पुरुषों के द्वारा गुगों के सागर भगवान् श्री जिनेश्वर देवों के गुगों की थाह लेना भी ग्रसम्भव है, फिर भी हम भक्ति से निरकुश बने हुए ग्रपनी शक्ति ग्रथवा योग्यता का तिनक भी विचार किये विना ही त्रिलोकीनाय श्री तीर्थं कर देवों के गुएगों का उत्कीर्तन करने के लिये उत्साहित होते हैं।"

उन महर्षियों का कथन है कि—"भगवान के गुणों के प्रभाव से हमारी मन्द वृद्धि भी प्रभावशाली हो जाती है। गुणों रूपी पर्वत के दर्शन से मिक्त के वशीभूत बने एवं बृद्धिहीन हम नवीन-नवीन वाणी को प्राप्त करते है।"

योगी-पुज्ज वो के द्वारा भी अमूल्य श्री जिनेश्वर देवो का गुएा-गान करने के लिये तत्पर वने महिंप अपनी वाल चेण्टा वता कर प्रभु के गुएा-गान मे अग्रसर होकर कहते है कि — 'हे भगवन् । आपको नमस्कार करने वाले तपस्या करने वालो से भी आगे वढ जाते हैं और आपकी सेवा करने वाले योगियो से भी अधिक हैं। धन्य पुरुपो को ही, नमस्कार करते समय आपके चरएों के नाखूनों की कान्ति मस्तक के मुकुट की शोभा धारए करती हैं। किसी से भी साम, दाम, दण्ड अथवा भेद कुछ भी ग्रहएा किये विना ही आप त्रेलोक्य-चक्रवर्ती वने हैं, यह सचमुच आश्चर्य है। जिस प्रकार चन्द्रमा समस्त जलाणयों के जल में समान व्यवहार करता है, उभी प्रकार से हें स्वामी । आप भी जगत् के समस्त जीवों के चित्त में समान रूप से निवास करते हैं। हे देव । आपको स्तुति करने वाले सबके लिये स्तुत्य वन जाते हैं, आपको अर्चना करने वाले सबके द्वारा अर्चना किये जाने के योग्य हो जाते हैं तथा आपको नमस्कार करने वाले सबके द्वारा नमस्कार किये जाने के पात्र वन जाते हैं। सचमुच आपकी भक्ति अचिन्त्य फल-दायक है।

हे देव । दु ख रूपी दावानल के ताप से दग्ध आत्माओं को आपकी भक्ति श्रापाढ़ों मेघों की वृष्टि की तरह परम शान्ति प्रदान करने वाली हैं। हे भगवन् । मोहान्धकार से मूढ बनी आत्माओं के लिये आपकी भक्ति विवेक रूपी दीपक प्रज्ज्वलित करने वाली है। आकाश के वादलों की तरह, चन्द्रमा की चादनी की तरह श्रयवा मार्ग के छाया—वृक्षों की छाया की तरह श्रापकी कृपा निर्धन अथवा धनी, मूर्ख अथवा गुर्गी सवको समान रूप से जपकारी है। हे भगवन् । आपके चरगों के नाजूनों की कान्ति भव- धायुओं से नस्त आत्माओं को वज्र-पजर की तरह सुरक्षा प्रदान करती है।

हे देव । उन पुरुषो को घन्य है जो ग्रापके चरणारविन्द के दशनार्थ दूर-दूर से भी सदा राजहमों की तरह दौडकर श्रात है। समार के घोर दुः खो से पीडित विवेकी व्यक्ति, जिस प्रकार ससार के जीव जीत से बचने के लिये सूर्य का आश्रय लेते हैं, उस प्रकार हे देव ! वे ससार के दु खो से वचने के लिये आपका ही आश्रय लेते हैं। हे भगवन् ! जो आपको अनिमेष-स्थिर नेत्रों से निरन्तर देखते हैं, वे परलोक में निश्चित ही देवत्व (अनिमेष भाव) प्राप्त करते हैं, इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। जिस प्रकार वस्त्रों का मेल स्वच्छ पानी से साफ हो जाता है, उसी प्रकार हे देव ! आपकी देशना रूपी निर्मल जल से धुली हुई आतमा कर्म-मल-रहित हो जाती है। हे स्वामी ! आपके नाम-मत्र का जाप करने वाले व्यक्ति को सर्व-सिद्ध-समाकर्षणा-मत्रत्व को प्राप्त कराता है।

ग्रापकी भक्ति में तल्लीन बनी ग्रात्माग्रो को भेदन के लिये वज्र ग्रथवा छेदन के लिये शूल भी समर्थ नहीं है। हे देव। ग्रापके ग्राश्रय को ग्रहएा करने वाली गुरुकमी ग्रात्मा भी लघुकमी हो जाती है। क्या सिद्धरस के स्पर्श से लोहा स्वर्ण नहीं होता ? हे स्वामी । श्रापका घ्यान, स्तवन ग्रौर पूजा करने वाली आतमा ही अपने मन, वचन और काया को सफल बनाती हैं। हे स्वामी । पृथ्वी पर विहरने वाले श्रापके चरणो की रज मनुष्यो के पाप रूपी वृक्षो का उन्मूलन् करने के लिये महान् मदोन्मत्त हाथी का ग्राच-रएा कर रही है। हे नाथ ! नैसर्गिक मोह से जन्म से ही मोहान्ध ग्रात्माग्रो को केवल ग्राप ही विवेक-चक्षु सर्मापत करने के लिये समर्थ है। जिस प्रकार मन के लिये मेर दूर नहीं है, उसी प्रकार से भ्रापके चरण-कमलों में भौरो का ग्राचरण करने वाले सेवको के लिये लोकाग्र भी दूर नही है। जिस प्रकार वर्षा के जल से जामुन के वृक्ष से फल गिर जाते हैं, उसी प्रकार से ग्रापकी देशना रूपी जल के सिचन से प्रािएयों के कर्म-पाश शीघ्र ही गल जाते है। हे जगन्नाथ । ग्रापको बार-बार नमस्कार करके मै ग्रापसे केवल एक ही याचना करता हूँ कि आपकी कृपा से समुद्र के जल की तरह मुंक ग्रापकी ग्रक्षय भक्ति प्राप्त हो।

हे स्वामी । केवलज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् कृतार्थं होने पर भी ग्राप केवल लोगों के लिये ही पृथ्वी पर विहार करते हैं। क्या गगन-मण्डल में सूर्य ग्रपने स्वार्थ के लिये घूमता है ? नहीं, यह वात नहीं है। मध्याह्न में जिम प्रकार प्राणियों की देह की छाया संकुचित हो जाती है, उसी प्रकार से हे प्रभु । ग्रापके प्रभाव रूपी मध्याह्नकाल का ग्रादित्य प्राणियों की कर्मों को मंकुचित कर देता है। नित्य ग्रापके दर्शन करने वाले तिर्यचों को भी धन्य है, जविक ग्रापके दर्शन में विचित स्वर्गवासी भी धन्य नहीं हे। जिन व्यक्तियों के हृदय रूपी चैतन्य के श्राप श्रिघण्ठाता बने हें, उन भव्यात्माश्री से महान् जगत में श्रन्य कोई है ही नहीं।

हे भगवन् । ग्राप कही भी हो, परन्तु हमारे हृदय का ग्राप कदापि त्याग मत करना, यही हमारी ग्रापसे याचना है। ग्रापके ग्राधित ग्रापके ममान वने, इसमे तिनक भी ग्रघटित नहीं है। दीपक के सम्पर्क से क्या वित्तयाँ दीपकत्व प्राप्त नहीं करती ? इन्द्रिय रूपी मदोन्मत्त गजेन्द्र को मदहोन करने के लिये हे स्वामी । भैपज तुल्य ग्रापका शासन जयवत होता है। हे तिमुवनेदवर । ग्राप घाती कर्मों का क्षय करके शेप ग्रघाती कर्मों की जो उपेक्षा करते हैं उसमे लोकोपकार के ग्रतिरिक्त ग्रन्य क्या कारण है ? ग्रन्य कोई कारण नहीं है। जिस प्रकार चद्र-दर्शन से मद-दृष्टि व्यक्ति भी पटु हो जाता है, उस प्रकार से ग्रापका प्रभाव देखने से वृद्धिहीन व्यक्ति भी स्तवन करने के लिये वृद्धिमान हो जाता है।

हे स्वामी । मोहान्धकार में दूवे जगत् के लिय आलोक के समान आकाश की तरह आपका अनन्त केवलज्ञान विजयी हो रहा है। निः हो जन्मों से उपाजित कर्म भी आपके दर्शन से विलीन हो जाता है। कोई कर से पत्थर के समान जमा हुआ घी भी क्या विह्न से नहीं निक्क हैं हें नहीं कर मकते, वह आप अकेले अनेक के समान दन कर कर कर कि कर करते हैं। जिस प्रकार रात्रि चद्रमा से सुयोभित होती है कि प्रकार निके हुते। हिंद कि प्रकार निके हैं और मुख-कमन कि प्रकार कि नुवोभित होता है और मुख-कमन कि प्रकार कि नुवोभित होता है अगेर मुख-कमन कि प्रकार कि नुवोभित होता है शिरा कि प्रकार ही विलोकीनाय ! होतो लोक केवल का कि हुवोभित होता है शिरा कि विलोकीनाय ! होतो लोक केवल का कि हुवोभित होता है स्थाप स्थापित हो रहे हैं।"

प्रश्न—हे भगवन् । स्तोत्र-स्तुति रूपी मगल के द्वारा जीव क्या उपार्जन करता है ?

उत्तर—स्तोत्र-स्तुति रूपी मगल के द्वारा जीव ज्ञान, दर्शन, चारित्र ग्रीर बोधि का लाभ प्राप्त करता है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र ग्रीर बोधि-लाभ को प्राप्त किया हुग्रा जीव ग्रतिकया करके उसी भव मे मोक्ष प्राप्त करता है।

श्री जिन-गुएग-स्तवन की महिमा ग्रद्भुत है। श्री जिनेश्वर देवो के ग्रद्भुत गुएगों का वर्णन करने वाले शब्द मत्राक्षर स्वरूप हो जाते हैं। उनसे महान भय भी नष्ट हो जाते हैं। शब्द शास्त्र के ग्रचूक नियमानुसार प्रयुक्त शब्दों के द्वारा रिचत श्री जिन-गुण-महिमा-गिभत स्तोत्रों से चमत्कारपूर्ण वृत्तान्त वनने के ग्रनेक उदाहरएग शास्त्रों में विणत दृष्टिगोचर होते हैं। उस प्रकार के ग्रनेक स्तोत्र ग्राज भी विद्यमान है कि जिनके द्वारा प्राचीन काल में ग्रपूर्व शासन-प्रभावना एवं चमत्कार हो चुके है। स्थिर ग्रत करएग वाले व्यक्ति उन स्तोत्रों का ग्राज भी जाप करते है, जिससे पाप का प्रएगश होने के साथ इष्ट कार्यों की ग्रविलम्ब सिद्धि होती है।

श्री जिन-गुएा-स्तवन की महिमा प्रदिशत करते हुए श्री सिद्धसेन-दिवाकरसूरीश्वरजी ने एक स्थान पर कहा है कि ---

"श्री जिन-गुरा का स्तवन, जाप ग्रथवा पाठ ग्रथवा श्रवरा, मनन ग्रथवा निदिध्यासन ग्रष्ट महासिद्धियों को प्रदान करने वाला है, समस्त पापों को रोकने वाला है, समस्त पुण्य का कारण है, समस्त दोषों का नाजक है, समस्त गुराों का दाता है, महा प्रभावशाली है, भवान्तर-कृत ग्रपार पुण्य से प्राप्त है तथा ग्रनेक सम्यग्-दृष्टि, भिद्रक भाव वालो, उत्तम कोटि के देवो एव मनुष्यों ग्रादि से सेवित है। चराचर जीव लोक में ऐसी कोई उत्तम वस्तु नहीं है जो श्री जिन-गुरा-स्तवन ग्रादि के प्रभाव से भव्य जीवों के हाथ में नहीं ग्राये।"

"श्री जिन-गुरण स्तवन के प्रताप से चारो निकायों के देवता प्रसन्न होते हैं, पृथ्वी, अप्, तेज, वायु और श्राकाण ग्रादि भूत (तत्त्व) श्रनुकूल होते हैं, साधु पुरुप उत्तम मन से श्रनुग्रह करने में तत्पर होते हैं, खल पुरुपों का क्षय होता है, जलचर, थलचर एव गगन-चर कूर जन्तु मैंत्रीमय हो जाते ह और श्रधम वस्तुश्रों का स्वभाव उत्तम हो जाता है। इससे मनो-हर धर्म, श्रर्थ श्रांर काम गुरण प्राप्त होते हैं, समस्त ऐहिक सम्पत्ति—शुद्ध, गोत्र, कलत्र, पुत्र, मित्र, घन, घान, जीवन, यीवन, रूप त्रारोग्य एव यज श्रादि प्रमुख सम्पदा सम्मुख होती है, ग्रामुष्मिक स्वर्ग-ग्रपवर्ग की लक्ष्मी मानो श्रालिगन करने के लिये दौड़ी हुई ग्राती है तथा सिद्धि एव समस्त श्रेयस्कर वस्तुग्रो का समुदाय स्वत ही ग्राकर प्राप्त होता है। सक्षेप मे श्री जिन-गुएग का ग्रनुराग समस्त सम्पदाग्रो का मूल है।"

श्री जिन-नाम-स्तवन-महिमा--

श्री जिनेश्वर देवो का स्वरूप ग्रगम है, ग्रगोचर है, फिर भी उनके गुगो से ग्राकपित सत्पुरुप उन्हें वृद्धि-गोचर करने के लिये ग्रनेक विशेषणों के द्वारा उनकी स्तवना करते हैं। उनमें से कुछ (श्री मिद्धसेनदिवाकरसूरि रचित श्री जिनसहस्रनाममत्र में से) यहाँ दिये जाते हैं—

''परात्मा, परमज्योति, परम-परमेष्ठी, परमवेधम्, परमयोगी, परमेश्वर, सकलपुरुपार्थयोनि, ग्रवद्यविद्याप्रवर्तनेकवीर, एकान्त कान्त-शान्तमूर्ति, भवद्-भावि-भूत-भावावभासी, कालपाशनाशी, मत्वरजस्तमो-गुणातीत, श्रनन्तगुणी, वाद्मनोगोचरातीतचरित्र, पवित्र, कारणकरण, तारएा-तरएा, सात्त्विकदैवत, तात्त्विकजीवित, निर्ग्नन्थ, परमब्रह्महृदय, योगीन्द्र-प्रारानाथ, त्रिभुवनभव्यकुलनित्योत्सव, विज्ञानानन्दपरब्रह्मैका-त्म्यसमाधि, हरिहरिहरण्यगर्भादिदेवापरिकलितस्वरूप, सम्यग्च्येय, सम्यक्-श्रद्धेय, सम्यक्शरण्य. मुसमाहित-सम्यक्-स्पृह्णीय, श्रर्हन्, भगवन्, श्रादि-कर, तीर्थकर, स्वयसम्बुद्ध पुरुषोत्तम पुरुपसिह, पुरुषवरपुण्डरीक, पुरुष-वरगन्धहस्ती, लोकोत्तम, लोकनाय, लोकहित, लोकप्रद्योतकारी, लोकप्रदीप, श्रभयद, दृष्टिद, मुक्तिद, वोधिद, धर्मद, जीवद, शरणद धर्मदेशक, धर्म-मारिष, धर्मवर-चातुरन्त चक्रवर्ती, व्यावृत्तछद्म, अप्रतिहत-सम्यग्ज्ञान-दर्शनमद्म, जिन जापक, तीर्श-तारक, बृद्ध-बोधक, मुक्त-मोचक, त्रिकाल-विन्, पारगत, कर्माप्टक-निपूदक, ग्रधीक्वर, शम्भुं स्वयम्भू, जगतप्रभु, जिनेश्यर, स्याद्वादवादी, सार्व, नर्वज्ञ, मर्वदर्शी, सर्वतीर्थोपनिपद्, सर्व-पा पड-मोची, सर्वयज्ञ-कुलात्म, सर्वज्ञकलात्म, सर्वयोगरहस्य केवली, देवा-घिदेव, बीतराग, परमात्मा, परम-कारुिएक, सुगत, तथागत, महाहस, हमराज, महासत्त्व, महाशिष, महाबीद्ध, महामैत्र, मुनिस्चित, विगतदृन्द्व, गुणाब्धि, लोकनाथ, जित-मार-बल ननातन, उत्तमञ्लोक, मुकुन्द, गोविन्द, विष्पु, जिष्णु, अनन्त, अच्युत, श्रीपति, विश्वरूप, हृपिकेश, जगन्नाय,

भूर्भुव स्व -समुत्तार, मानजर, कालजर, ध्रुव, स्रजेय, स्रज, स्रचल, स्रव्यय, विभु, म्रचिन्त्य, ग्रसख्य, ग्रादिसख्येय, ग्रादिसाख्य, ग्रादिकेशव, ग्रादिशिव, महाव्रह्म, परमशिव, एकानेकान्तस्वरूप, भावाभावविवर्जित, ग्रस्ति-नास्तिद्वयातीत, पुण्यपापविरहित, सुखदु खिविक्त, अव्यक्त, व्यक्त-स्वरूप, त्रानादिमध्यनियन, मुक्तिस्वरूप, नि सग, निरातक, नि शक, निर्भय, निर्द्धन्द्व, निस्तरग, निर्र्हाम, निरामय, निष्कलक, परमदैवत, सदाशिव, महादेव, शकर, महेश्वर, महाव्रतो, महापचमुख, मृत्यु जय, ग्रष्टमूर्ति, भूतनाथ, जग-दानन्द, जगत्पितामह, जगदेवाधिदेव, जगदीश्वर, जगदोदिकन्द, जगद्भा-स्वत्, जगत्कर्मसाक्षी, जगच्चक्ष्ष, जयीतनु, श्रमृतकर, शीतकर, ज्योतिश्चक्र-चक्री, महाज्योति,महातमःपार, सुप्रतिष्ठित, स्वयंकर्ता,स्वयहर्ता, स्वयपालक, श्रात्मेश्वर, विश्वात्मा, सर्व-देवमय, सर्वध्यानमय, सर्वमत्रमय, सर्वरहस्यमय, सर्व ज्ञानमय, सर्व तेजोमय, सर्वभावाभावजीवजीवेश्वर, अरहस्यरहस्य, ग्रस्पृहस्पृहणीय, ग्रचिन्त्य-चिन्तनीय, ग्रकामकामधेनु, ग्रसकल्पित-कल्पद्रुम, भ्रचिन्त्यचिन्तामिएा, चतुर्दशरज्ज्वात्मकलोकचूडामिएा, चतुरशीतिजीवयोनि-लक्षप्रारानायक, पुरुषार्थनाथ, परमार्थनाथ, ग्रनाथनाथ, जीवनाथ, देवदान-वमानवसिद्धसेनाधिनाथ, निरजन, अनन्तकत्यारा, निकेतनकीर्ति, सुगृहीत-नामवेय, धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरणान्त, धीरललित, पुरुषोत्तम, पुण्य-क्लोक, शतसहस्र-लक्षकोटिवन्दित-पादारविन्द, सर्वगत, सर्वप्राप्त, सर्वज्ञान, सर्वसमर्थ, सर्वप्रद, सर्वहित, सर्वाधिनाथ, क्षेत्र, पात्र, तीर्थ, पावन, पवित्र, त्रनुत्तर, उत्तर, योगाचार्य, सुप्रक्षालन, प्रवर**,** श्रग्र, वाचस्पति, मागल्य, सर्वोत्मनाथ, सर्वार्थ, अमृत, सदोदित, ब्रह्मचारी, तायी, दाक्षिग्गीय, निवि-कार, वज्तर्षभ-नाराचमूर्ति, तत्त्वदृश्वा, पारदर्शी, निरुपमज्ञानबलवीर्यतेजो-महाचिधनेश्वर, महामोहसहारी, महासत्त्व, महाज्ञानमहेन्द्र, महालय, महा-शान्त, महायोगोन्द्र, ग्रयोगी, महामहोयान्, महासिद्ध, महोयान्, शिव-ग्रचल-ग्रन्ज - ग्रनन्त - भ्रक्षय - ग्रव्याबाध - ग्रपुनरावृत्ति - महानन्द - महोदय -सर्वेदु खक्षय - केवल्य - ग्रमृत - निर्वागा - ग्रक्षर - परब्रह्म - नि श्रेयस् -ग्रपुनर्भव, सिद्धिगतिनामधेयस्थान - सप्राप्त, चरमाचरमवान् - श्रादिनाथ, त्रिजगन्नाथ, त्रिजगत्स्वामी, विशाल-शासन, निर्विकल्प, सर्वे लब्धिसपन्न, कल्पनातीत, कलाकलापकलित, केवलज्ञानी, परमयोगी, विस्फुरदुरुशुक्ल-ध्यानाग्नि-निर्देग्धकर्मवीज, प्राप्तानन्तचतुष्टय, सौम्य, शात, मगलवरद्, ग्रप्टादगदोपरहित, समस्त - विश्वसमीहित ।

श्री जिन-नाम-स्तवन--

ॐ होँ श्रोँ ग्रहं नम ॥

श्री जिनेश्वर देव की स्तवना करते हुए श्री जिन-सहस्रनाम मत्र के श्रन्त मे श्राचार्य - पुरन्दर श्री सिद्धसेनदिवाकर सूरीश्वरजी महाराज ने वताया है कि—

> "लोकोत्तमो निष्प्रतिमस्त्वमेव, त्व शाश्वत मङ्गलमध्यघीश । त्वामेकमहंन् । शरण प्रपद्ये, सिद्धिषसद्धर्ममयस्त्वमेव ॥१॥"

हे श्रधीय । श्राप लोकोत्तम हैं, निष्प्रतिम हैं, शाश्वत हैं श्रीर मगल हैं। हे श्रह्नं । मैं श्रापका शरएा श्रगीकार करता हूँ, श्राप ही सिर्द्धिप एव सद्दर्भमय है। (१)

> "त्व मे माता पिता नेता, देवो धर्मो गुरु परः । प्राणा स्वर्गोऽपवर्गश्च, सत्त्व तत्त्व गतिर्मति ॥२॥"

श्राप मेरी माता हैं, पिता हैं, नेता है, देव हैं, धर्म हैं, परम गुरु है, प्राग्त हैं, स्वर्ग एव श्रपवर्ग हैं, सत्त्व हैं, तत्त्व हैं, गित हैं श्रीर मित है। (२)

> "जिनो दाता जिनो भोक्ता, जिन सर्वमिद जगत्। जिनो जगति सर्वत्र, यो जिनः सोऽहमेव च ॥३॥"

जिन दाता है, जिन भोक्ता है श्रीर समस्त जगत् जिन है, जगत मे सर्व त्र जिन है, जो जिन है वह मैं स्वय ही हूँ। (३)

''यत् किञ्चित् कुर्महे देव !, सदा सुकृतदुष्कृतम् ।
तन्मे निजयदस्यस्य, दु.ख क्षपय त्वं जिन ! ॥४॥''
हे देव ! हम जो सुकृत - दुष्कृत करते हैं, ग्रापके चरणो मे स्थित
हमारे उन दु खो का हे जिनेश्वर ! ग्राप क्षय करें । (४)

"गुह्यातिगुह्यगोप्ता त्व, गृहाणास्मत्कृत जपम् । सिद्धिः श्रयति मां येन, त्वत्त्रसादात् त्विय स्थितम् ॥५॥"

धाप प्रत्यन्त गृह्य से भी गृह्य रक्षक हैं। हमारे द्वारा किये गये इस जाप को घाप ग्रह्या करें, जिससे भ्रापकी कृपा (प्रसाद) से श्राप मे रियत हमें सिद्धि प्राप्त हो। (४)

ſ

प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर

सन् १६८८ एवं १६८६ के नये प्रकाशन

प्राध	भा पुस्तक	लेखक	मूल्य
<u>g</u>			
44	वज्जालग्ग मे जीवन मूल्य (प्रा हि)	डा के सी. सोगागी	10 00
45	गीता चयनिका (स हि)	डा. के. सी सोगाएी	16 00
46	ऋषिभाषित सूत्र (प्राहिस)	स म विनय सागर	100 00
47	नाडि विज्ञानम्		
48	तथानाडि प्रकाशम् (स अ)	डा. जे सी सिक द र	30 00
49.	ऋषिभाषित एक ग्रध्ययन (हिं)	हा सागरमल जैन	30 00
50	चववाइय सुत्त (प्राहि अ)	स गणेश ललवानी	
		सजिल्द	100.00
		भ्रजिल्द	80 00
51	उत्तराध्ययन चयनिका (प्रा. हि)	डा. के. सी सोगाणी	10 00
52.	समयसार चयनिका (प्रा हि.)	डा के सी सोगाणी	16 00
53	परमात्मप्रकाश व योगसार		
	चयनिका (प्राहि)	हा. के सी सोगाणी	10 00
54.	ऋषिभाषित एस्टडी (अ)	हा सागरमल जैन	30 00
55	श्रहंत् - वदना (हि)	म चन्द्र प्रभ सागर	3 00
56	राजस्थान में स्वामी विवेकानन्द	प भाबरमल्ल शर्मा	75 00
57	श्री म्रानन्दघन चौबीसी (रा हि.)	स भवरलाल नाहटा	30 00
58	देवचन्द्र घौबीसी सानुवाद (रा हि)	प्र. सज्जन श्री जी	60 00
59	सर्वज्ञ कथित परम सामायिक धर्म (हि.)	विजयकला पूर्ण सूरि	30 00
6 0	दु ख मुक्ति • सुख प्राप्ति (हि)	कन्हैयालाल लोढा	30 00
61	गाथा सप्तशाती (प्रा.स हि)	स. हरिराम श्राचार्य	100 00
62	त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र (हि)	गणेश ललवानी	100 00
63	योगशास्त्र श्रॉफ हेमचन्द्राचार्य (स अ)	स सुरेन्द्र बोथरा	100.00
64.	जिन-भक्ति (प्रास हि)	श्र भद्र कर विजयं गिए।	25 00
65	सहजानन्द घन चरिय (ग्रप)	भंवरलाल नाहटा	20 00
66.	श्रागम युग का जैन दर्शन	दलसुख भाई मालविगया	ſ
		सजिल्द	80 00
		म्रजिल्द	60 00